नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण भाग १९]

वर्ष ४३—संवत् १९९५

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक सूची

नृत्य-गणेश
(भारत-कला-भवन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

// नागरीप्रचारिणी पत्रिका

भाग १६ [नवीन संस्करण] संवत् १९९५

(१) श्री गणेश

[लेखक—श्री राय कृष्णदास, काशी]

गणेश की वंदना प्रायः सभी स्मार्त्त हिंदू प्रत्येक शुभ कार्य्य के आरंभ में करते हैं। यहाँ तक कि किसी कार्य्यारंभ के लिये "श्री गणेश करना" एक मुहावरा बन गया है। गणेश की यह प्रथम वंदना इसलिये की जाती है कि कार्य्य निर्विघ्न पूरा हो जाय। प्रारंभ में गणेश एक विघ्नकारक देवता अथवा अपदेवता माने जाते थे। उनकी नामावली में एक नाम विघ्नकर्त्ता भी है। उस समय विनायक-रूप में उनकी गणना यक्षों और राक्षसों के संग की गई मिलती है[१]। किंतु अब गणेश की वंदना और उपासना विघ्नहर्त्ता तथा मंगल

१—कूष्माण्ड-वैनायक-यक्ष-रक्ष-भूतग्रहान् चूर्णय चूर्णयारीन्।

—भागवत ६, ८, २४

डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः।

भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षो विनायकाः॥

—भागवत १०, ६, २८

एवं सिद्धि दाता के भाव से की जाती है[१]; लेकिन इस भाव में इतनी बात निहित है कि वे विघ्नों के अधिपति हैं। फलतः, उनकी वंदना से विघ्न चूँ नहीं कर सकते। आरंभ में इस विघ्न-समूह का ही नाम विनायक था और यह अपदेवताओं का एक समूह वा गण माना जाता था[२]। क्रमशः उसी का विकास होकर स्वयं गणपति ने उस गण के अधिपति के रूप में विनायक नाम को भी अपनाकर अपनी वर्तमान सौम्य-मंगल मूर्त्ति धारण की। याज्ञवल्क्य-स्मृति के समय में गणेश का स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्धारित हो चुका था[३], किंतु तब तक उनका मंगलमय रूप स्थिर नहीं हुआ था और उस समय उनके पैदा किए हुए विघ्न की शांति के लिये गणपतिकल्प विधान से उनका पूजन होता था। यह लंबा पूजा-प्रकार उक्त स्मृति में दिया हुआ है[४]। याज्ञवल्क्य-स्मृति का समय जायसवाल ने ई० दूसरी शती में प्रमाणित किया है[५]। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि उस समय तक गणेश का सौम्य रूप विद्यमान न था। इसके बाद तो गणेश को इतनी प्रधानता मिली कि विष्णु, सूर्य्य, शक्ति और शिव के साथ वे पंचदेवों में परिगणित हुए; और गाणपत्य नाम से उनका एक अलग संप्रदाय और दर्शन भी हो गया[६]।

१—उमासुतं विघ्नविनाशकारकम्।—गणपतिवंदना।

...मुद मंगल-दाता। सिद्धि-सदन गजवदन विनायक।

—तुलसी० विनयपत्रिका।

२—मानव गृह्यसूत्र, २, १४।

३—गोपीनाथ राव के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण (१, २१, ५) में गणेश का एक स्वतंत्र अप-देवता के रूप में उल्लेख मिलता है। देखिए—हिंदू आइकोनोग्राफ़ी जिल्द १, खंड १, पृष्ठ ४६।

४—याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, प्रकरण ११।

५—जायसवाल—टैगोर लॉ लेक्चर्स।

६—भांडारकर—वैश्नविज़्म इ०, पूना १६२८, पृ० २१२ (§११२)-२१४।

गणेश की पूजा केवल भारत ही में सीमित नहीं। बृहत्तर भारत अर्थात् नेपाल, चीनी-तुर्किस्तान, जावा, बाली, बोर्नियो, तिब्बत, बर्मा, स्याम, चीन, इंडो-चाइना तथा जापान तक में गणेश की उपासना फैली हुई थी एवं है[१]।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का एक अंश गणेश-खंड है। इसी प्रकार स्कंद-पुराण में भी एक गणेश-खंड है। इन दोनों में गणेश-संबंधिनी अनेक कथाएँ और माहात्म्य दिए हुए हैं। स्कंद-पुराण में तो उनके कई अवतार भी वर्णित हैं। इन पुराणों के अनुसार गणेश शिव-पार्वती के पुत्र हैं। ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार जन्म के कुछ ही देर बाद शनैश्चर की दृष्टि पड़ने से उनका सिर कट गया था। इस पर विष्णु ने एक हाथी का सिर काटकर उनके धड़ पर संयोजित कर दिया; इसी कारण उनका नाम गजानन पड़ा। स्कंद-पुराण के अनुसार सिंदूर नामक दैत्य ने पार्वती के गर्भ में प्रवेश करके गणेश का मस्तक काट डाला, परंतु इससे गर्भ का अनिष्ट न हुआ। उसका जन्म अमस्तक ही हुआ। उसे देखकर नारद ने समस्तक होने का अनुरोध किया। शिशु ने अपने तेज से गजासुर का मस्तक काटकर अपने धड़ से जोड़ लिया। इस कारण उनका नाम गजमुख हुआ[२]।

ब्रह्मवैवर्त्त के अनुसार एक बार परशुराम शिव-पार्वती के दर्शन के लिये कैलास गए। उस समय वे निद्रित थे और गणेश पहरा दे रहे थे। अतएव उन्होंने परशुराम को रोका। इस पर कलह हुआ और अंततः परशुराम ने अपने परशु से उनका एक दाँत काट डाला। इसी कारण वे एकदंत हैं[३]। माघ काव्य के अनुसार उनका यह दाँत रावण ने उखाड़ लिया था[४]।

१—'गणेश'—ए मोनोग्राफ़ ऑन द एलिफ़ेंट हेडेड गॉड, लेखिका—कुमारी एलिस गेटी; आक्सफ़र्ड, १६३६।

२—हिंदी विश्वकोश, खंड ६, पृ० १३२-'३३ तथा १५३-'५८।

३— " " पृ० १५३।

४—विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाचिकीर्षया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥-शिशुपालवध,१।६०।

गणेश-जन्म की लोक में एक यह कथा प्रचलित है कि एक बार पार्वती स्नान करने गईं। वहाँ उनका मन ऊबने लगा, और समय काटने के लिये उन्होंने मिट्टी का वा उन्हें जो उबटन किया गया था उसकी लीझो का एक गजमुख बालक बना डाला और पीछे से उस पिंड में जान डाल दी जो गणेश हुए।

गणेश संबंधिनी कथाओं में एक मुख्य कथा यह भी है कि उन्होंने महाभारत का लेखन-कार्य्य किया था। वेदव्यास जब महाभारत की रचना का विचार कर चुके तो उन्हें उसे लिखवाने की चिंता हुई। इस पर उन्हें हिरण्यगर्भ ने गणेश से यह कार्य्य लेने का परामर्श दिया। गणेश ने इस शर्त पर लिखना अंगीकार किया कि यदि व्यास कहीं रुकेंगे तो मैं लिखना बंद कर दूँगा। व्यास ने इसे स्वीकार किया। जब उन्हें रुकना होता था तो वे कूटश्लोकों की रचना करके बोल देते थे। इनके अर्थ समझने के लिये गणेश को रुकना पड़ता था। इस बीच व्यास अनेक श्लोकों की रचना कर डालते थे[१]। इस कथा में गणेश विद्याबुद्धि के विधायक हैं। इस रूप में भी उनका बहुत वंदन किया जाता है[२]। गणेश की कल्पना का यह अंश वैदिक देवता बृहस्पति से लिया गया जान पड़ता है, क्योंकि वैदिक बृहस्पति बुद्धि के देवता हैं[३]; उनके आयुधों में परशु है[४] तथा उनका नाम गणपति है[५]।

१—हिन्दी विश्वकोश, खंड ६, पृ० १५३। गायत्रीतंत्र के अनुसार गणेश को शिव ने बोल कर तंत्र लिखवाए थे; देखिए—महानिर्वाणतंत्र (अँगरेजी) एविलान कृत, पृ० ४, नोट ७।

२—विद्यावारिधि बुद्धिविधाता—तुलसी, विनय०।

३—भांडारकर—वैश्नविज़्म, पृ० २१३; पैरा १११ का अंतिम वाक्य।

४—ऋ० वे० ७. ६७. ७।

५—,, ,, २. २३. १।

महायान बौद्ध संप्रदाय और तंत्रों में भी गणेश-पूजन के विविध प्रकार और क्रिया-कलाप मिलते हैं[१], और हठ-योग में शरीर के भीतर जो अनेक चक्रों की कल्पना की गई है, उसमें मूलाधार (गुदा) चक्र के देवता गणेश हैं[२]। संभवत: इसी कल्पना को लेकर उच्छिष्ट विनायक की उपासना चली, जिसमें यह विधान है कि साधक जूठे मुँह शौचालय में मंत्र सिद्ध करे[३]।

शिव-परिवार में गणेश की गणना का मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि क्रूर और अप-देवता तथा देवयोनि के अन्य सत्त्व जैसे यक्ष, राक्षस, वेताल, भूत-प्रेतादि शिव के गण और परिकरों में हैं; और शिव ही उनके मुख्य अधिष्ठाता हैं। फलत: विघ्न-देवता विनायक भी उनके ज्येष्ठ पुत्र माने गए। इसी प्रकार उनके अनुज कार्त्तिकेय, जो पीछे से देवताओं के सेना-नायक हो जाते हैं, आरंभ में, बालकों के एक दुष्ट-ग्रह हैं।

गणेश का घोर रूप परिवर्त्तित होकर सौम्य रूप हो जाना सर्वथा हिंदू-धर्म की मनोवृत्ति के अनुकूल है। वैदिक रुद्र से शिव हो जाने में और बाल-ग्रह स्कंद से सेनानी हो जाने में भी यही प्रक्रिया पाई जाती है। अपने यहाँ ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे जहाँ देवताओं का उग्र रूप क्रमश: सात्त्विक हो गया है।

अब तक गणेश की जो सबसे प्राचीन मूर्त्ति मिली है, वह भूमरा (नागोद राज्य, मध्यभारत) की है[४]। यह मूर्त्ति द्विभुज है। जावा के हिंदू-मंदिरों में भी गणेश की सुंदर प्रतिमाएँ मिली हैं[५]। गणेश की प्रतिमाओं में एकदंत हाथी का मुँह, लंबा

१—'गणेश', पृ० ३७-४५। तन्त्रसार; पुरश्चर्यार्णव—प्रभाकरी प्रिंटिंग वर्क्स, काशी।

२—'कल्याण' योगांक, पृ० ३६० के सामने वाला चित्र नं० २ तथा शक्ति-अंक पृ० ४५३-४।

३—भांडारकर, वैश्नविज़्म पृ० २१३, पै० ११२।

४—'गणेश', प्लेट ३ बी।

५—'गणेश', प्लेट ३० ए तथा सी; प्लेट ३१ए, बी तथा डी।

उदर, टेढ़ी (विकट) और नाटी (खर्व) देह और नाग-यज्ञोपवीत सार्वभौम रूप से मिलता है। इसी प्रकार उनके आयुधों में अंकुश प्राय: सभी प्रतिमाओं में पाया जाता है। उनका प्रिय आहार मोदक है[१]। गणेश का ध्यान चार भुजा से लेकर आठ वा इससे अधिक भुजाओं तक मिलता है[२]। इन ध्यानों में या तो गणेश बैठे हुए होते हैं या खड़े, या नृत्य करते हुए। शिव के समान उनके इस लाड़ले पूत गणेश के सांध्य नृत्य का वर्णन प्राय: मिलता है[३]। यों तो उनका वाहन मूषक है, किंतु तंत्रों में उनके और वाहन भी मिलते हैं[४]। गणेश की मूर्ति व्यापक रूप से एकमुख ही मिलती है। भारतवर्ष में ग्यारहवीं-बारहवीं शती की उनकी एक पंचमुख मूर्ति मुंशीगंज, ढाका में मिली है ('गणेश', प्लेट ४ बी)। दूसरी काशी में ढुंढिराज गणेश के पास है। किंतु नेपाल में पंचमुख गणेश की उपासना हेरंब नाम से प्रचलित है ('गणेश', पृ० ३२ तथा प्लेट २०बी)। गणेश की अनेक मूर्तियाँ (देखिए 'गणेश' के प्लेट) तथा तांत्रिक ध्यान शक्तिसहित मिलते हैं[४]। कहीं कहीं गणेश की शक्ति की मूर्त्ति अकेले भी मिली है[५]। इसमें सारा आकार गणेश का किंतु वक्ष:स्थल स्त्री का होता है। कहीं कहीं पार्वती की गोद में गणेश शिशु रूप में भी मिलते हैं[६]। राज-

---

१—मोदक प्रिय मुद-मंगल-दाता—तुलसी० विनय०।

२—वृंदावन भट्टाचार्य्य—इंडियन इमेजेज़, भाग १ (भारत कला-भवन, काशी), पृ० २५; तथा गोपीनाथ राव—हिंदू आइकोनोग्राफ़ी।

३—नमो विघ्नजिते यस्य जानुदेशे विवर्तते।

कुंभस्त्रस्तेव नक्षत्रमाला रात्रिषु नृत्यत:।—कथासरित्सागर १२।३३।१।

जय निजतांडवडंबरमर्दभरण्यांचितेन भुवनेन।

समहीशैलवनेन प्रणम्यमानेशगजवदन—वही १२।३३।४४।

४—तन्त्रसार, पुरश्चर्यार्णव आदि तंत्र-ग्रंथ।

५—भेड़ाघाट, जबलपुर, चौंसठयोगिनी के मंदिर में। कलकत्ता म्यूज़ियम, मूर्ति-संख्या ३६१६—३११ तथा ६४६४।

६—वेरूल में प्रस्तरमूर्ति तथा अनेक राजपूत चित्रों में।

पूत शैली के चित्रकार प्राय: सदैव गणेश को उनकी शक्ति सिद्धि और बुद्धि के सहित बनाते हैं, जो उनके अगल-बगल अंकित की जाती हैं।

ध्यानों में गणेश का वर्ण सिंदूर-चर्चित होने के कारण सिंदूरिया ही मिलता है, किंतु उनके अन्य वर्णवाले ध्यान भी पाए जाते हैं।

शिव-परिवार में शिशु गणेश के बालविनोद के बड़े सुंदर चित्र, भवभूति से लेकर आज तक के कवियों ने कल्पित किए हैं—

सानंदं नंदिहस्ताहतमुरजरवाहूतकौमारबर्हि:
त्रासान्नासाग्ररंध्रं विशति फणिपतौ भोगसंकोचभाजि।
गंडोड्डीनालिमालामुखरितककुभस्तांडवे शूलपाणे:
वैनायक्यश्चिरं वो वदनविधुतय: पांतु चीत्कारवत्य:॥

—भवभूति

क्रोडं तातस्य गच्छन्विशदबिसधिया शावकं शीतभानो:
आकर्षन्भालवैश्वानरनिशितशिखारोचिषा तप्यमान:।
गंगांभ: पातुमिच्छुर्भुजगपतिफणाफूत्कृतैर्दूयमान:,
मात्रा संबोध्य नीतो दुरितमपनयेद्बालवेषो गणेश:॥

—अज्ञात

हं हेरंब, किमंब रोदिषि कथं कर्णौ लुठत्यग्निभू:
किं ते स्कंद विचेष्टितं मम पुरा संख्या कृता चक्षुषाम्।
नैतत्तेऽप्युचितं गजास्यचरितं नासा मिमीतेंब मे,
तावेवं सहसा विलोक्य हसितव्यग्रा शिवा पातु व:॥

—अज्ञात

युगपत्स्कांडचुंबनलोलौ पितरौ निरीक्ष्य हेरंब:।
तन्मुखमेलनकुतुकी स्वाननमपनीय परिहसन् पायात्॥

—अज्ञात

पितुरुपनय मह्यन्नाकनद्या मृणालम्
नहि तनय मृणाल: किंत्वसौ सर्पराज:।

इतिवदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शंभौ
गिरिपतितनयाया: पातु कौतूहलं व: ॥

—विद्यापति

गोद में बैठि करैं जो बिनोद तौ तीसरे नैन पै सुंड चलावैं ।
आँच लगें सिसकारी भरैं औ सुधानिधि-रेख में ताहि बुझावैं ॥
सीसजटा-बिच गंग-तरंग चहैं जल पीबो फनीस डरावैं ।
देखि बिनोद हँसैं हरखैं सिव पारबती बरजैं, सुख पावैं ॥

—अज्ञात

सिंधुर-बदन सुरंग गंग-सिर-धरन-दुलारे ।
गिरिजा-गोद बिनोद करत मोदक मुख धारे ॥
सुभ सुंडिका उभारि धारि सीतल जल धावत ।
षड़मुख-सनमुख सुमुख साधि उझकत झझकावत ॥
सो लुकत ओट नंदीस की, लखि दंपति-मन मुद भरै ।
यह बाल-खेल गनपाल को बिघन-जाल सुमिरत हरै ॥

—रत्नाकर

जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं,
"देखो अंब, ये हेरंब मानस के तीर पर तुंदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं सविनोद उन्हें सूँड़ से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कंदुक-सा ऊपर उछालते हैं, ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं!"

—मैथिलीशरण गुप्त

पहाड़ी चित्रकारों ने ऐसे कितने ही चित्र बड़ी मार्मिकता से अंकित भी किए हैं[१] ।

चांद्र मास के दोनों पक्षों की सभी चतुर्थियाँ गणेश की तिथि हैं । इनमें भी भाद्र शुक्ल चतुर्थी[२] और माघ कृष्ण चतुर्थी मुख्य हैं[३] ।

१—'गणेश' में कई चित्र तथा कुमारस्वामी—बोस्टन म्यूज़ियम कैटलॉग (राजपूत-चित्र खंड) ।

२—दक्षिण भारत में ।

३—उत्तर भारत में ।

× × × ×

बौद्धों में श्वेत हस्ती बहुत पवित्र और पूजनीय माना जाता है। उनके यहाँ कथा है कि बुद्ध-माता मायादेवी को स्वप्न हुआ था कि एक श्वेत गज स्वर्ग से उतरकर उनके मुँह में घुसा। पीछे बुद्ध गर्भस्थ हुए। फलतः सफेद हाथी बुद्ध का सूचक माना गया है। इसी से कई स्थानों की अशोक की धर्म-लिपियों में श्वेत हस्ती की मूर्त्ति या नाम दिया गया है। अशोक के कालसीवाले प्रज्ञापन में, लेखों के ऊपर, इस हाथी की एक मूर्त्ति खुदी है, जिसके नीचे गजतमे[१] (=सर्वश्रेष्ठ गज) लिखा है। इसी प्रकार धौली के प्रज्ञापन में सबसे पहले हाथी के सामने की आधी मूर्त्ति उभार कर बनी है। इसी धर्म-लिपि में छठे प्रज्ञापन के अंत में, सेतो (=श्वेतः) शब्द भी लिखा है। गिरनारवाली धर्म-लिपि में तेरहवें प्रज्ञापन के, नीचे, 'व स्वेतो हस्ति सवालोक सुखाहरो नाम' अर्थात् 'सब लोकों को सुख ला देनेवाला श्वेत हस्ती' ये शब्द खुदे हैं[२]।

इसके सिवा उनकी धर्म-लिपियों के चौथे प्रज्ञापन में यह भी दिया है कि जनता को धार्मिक भाव से हाथियों का दर्शन कराया जाता था[३]।

गणेश की गजाकृति का बीज हम बौद्ध धर्म की उक्त हस्ति-पूजा में पाते हैं। यह बात इस तौर पर और दृढ़ होती है कि बुद्ध के

१—वर्तमान संस्कृत व्याकरण के अनुसार तर और तम विशेषण के तारतम्य के सूचक हैं और प्रायः विशेषणों के ही साथ लगते हैं किन्तु पहले ये संज्ञाओं के साथ भी लगते थे। जैसे यहाँ 'गजतमो' में; किंवा ऋ० वे० (२।४१।१६) में 'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति'।

२—उक्त हवालों के लिये देखिए—अशोक की धर्मलिपियाँ (ना० प्र० सभा) प्रथम खण्ड, निवेदन, पृ० २।

३—अशोक की धर्मलिपियाँ (ना० प्र० स०), प्रथम खण्ड, पृ० ३८।

नाम भी विनायक और गणश्रेष्ठ हैं[१]। संभवत: शेषोक्त शब्द का प्रयोग बौद्धों ने बुद्ध के लिये, उसी अर्थ में किया है जिसमें जैनों ने अपने यहाँ गणाधिप शब्द का किया है। उनके अनुसार गणाधिप का अर्थ है— वह व्यक्ति जो साधुओं के संघ (= गण) में सबसे श्रेष्ठ अथवा वृद्ध और बहुज्ञानी हो; अर्थात् मुनियों का अधिपति[२]। एक ओर बौद्धों में हाथी का बुद्ध के प्रतीक होने के कारण श्रेष्ठत्व, दूसरी ओर बुद्ध का पर्याय विनायक एवं गणश्रेष्ठ, तीसरी ओर पुराणों की यह कथा कि गणेश के धड़ पर हाथी का मस्तक पीछे से जोड़ा गया था, इस बात को प्रमाणित करता है कि गणेश की आकृति में हाथी का मुँह बौद्ध मत से आया है[३]।

१—षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः ।—अमर० ।
शरणं गच्छामि गणानां श्रेष्ठम् ।—बोधिसत्व प्रतिमोक्ष सूत्र ।
(इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली में प्रकाशित, जून, १९३१, पृ० २७३)

२—हिंदी विश्वकोष, खण्ड ६, पृ० १५२ ।

३—कथासरित्सागर की एक कथा में मिलता है—

मृते राजनि चानादिर्देशे तत्रेदृशी स्थितिः ।
यन्मङ्गलगजः पौरैर्भ्राम्यमाणः करेण यम् ॥
आरोपयति पृष्ठे स्वे सोऽत्र राज्येऽभिषिच्यते ।
स धैर्यतुष्टो धातेव भ्रमन्प्राप्तोऽन्तिकं गजः ॥
उत्क्षिप्यारोपयामास स्वपृष्ठे तं वणिक्सुतम् ।
ततः स नगरं नीत्वा राज्ये प्रकृतिभिः क्षणात् ।
वणिक्सुतोऽभिषिक्तोऽभूद्बोधिसत्त्वांशसंभवः ॥

—१०। ६।२३—२६

अर्थात्, उस देश की सनातन रीति थी कि राजा के मर जाने पर वहाँ के पौर, मंगल-गज को नगर में घुमाते थे। वह अपनी सूँड़ से उठाकर जिस व्यक्ति को अपनी पीठ पर बैठा लेता वही राज्याभिषिक्त किया जाता था। अस्तु; उस

हम ऊपर देख चुके हैं कि गणेश की संभवत: सबसे प्राचीन स्वतंत्र मूर्त्ति भूमरा में है। शैली के अनुसार इसका समय भारशिव काल अर्थात् ई० तीसरी शती संभावित है। किसी अवस्था में भी यह प्रारंभिक गुप्त काल के इधर की नहीं हो सकती। इस मूर्त्ति में गणेश की आकृति इतनी निश्चित हो चुकी है कि इसे उनकी आरंभिक आकृति नहीं कह सकते। इसके निर्माण-काल से पूर्व उसकी कल्पना स्थिर हो चुकी माननी पड़ती है। अमरावती (दक्षिण भारत) की एक तकिया (= वेदिका, रेलिंग) में एक गो-मूत्रिका[1] बनी है जिसमें एक नाटे और मोटे गण की मूर्त्ति है, जिसका मुख गजाकृति है। यह मूर्त्ति अन्य गणों के साथ है[2]। और इसका समय लगभग ईसवी सन् का आरंभ है। इसी काल का वा इससे कुछ पहले का सिंहल में एक स्तूप मिला है[3], जिसमें अन्य गणों के साथ बीच में गणेश बैठे हैं। ये गणेश एकदंत हैं और उनके पार्श्ववर्ती गण उनके अभिमुख बैठे हैं[4]। इधर हुविष्क के एक सिक्के में एक मूर्त्ति के नीचे गणेश लिखा मिलता है, किंतु मूर्त्ति की आकृति शिव की है[5]; शिव का एक नाम गणेश वा गणेशान भी है[6]।

हाथी ने भ्रमण करते करते उस (कथा के नायक) वणिक्पुत्र को अपनी पीठ पर धर लिया; अतः प्रजा वर्ग ने उसे लाकर गद्दी दे दी।

यह वर्णन स्पष्टतः किसी गणतंत्र के संबंध में है। यौधेय गणतन्त्र का, जो मौर्य युग के बाद सबसे प्रबल और विशाल गण-राज्य था, लक्ष्म हाथी था। संभवतः उसी की संज्ञा मंगल-गज थी और वही उक्त कथा की जड़ में है। यही मंगलमय प्रतीक गणेश की मंगलमूर्ति का बीज जान पड़ता है।

१—एक लहरदार बेल जिसकी आकृति ऐसी होती है ....

२—'अमरावती' बर्गेस् कृत; प्लेट ३०, आकृति १।

३—'गणेश', पृ० २५। इस स्तूप के उल्लेख पहली-दूसरी शती के शिलालेखों में हैं।

४—'गणेश', प्लेट २२ सी।

५—इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, में। समय ई० प्रथम शती का अंत।

६—यजुर्वेद में शिव का पशु मूसा है—आखुस्ते पशुः—यजु०, ३, ५७।

इस प्रकार ईसवी की पहली शती में हम एक ओर गणेश को शिव के रूप में, दूसरी ओर गणों के समूह में पाते हैं। अर्थात् यही समय उनकी निजस्विता के आविर्भाव का मानना चाहिए। ठीक इसके बाद याज्ञवल्क्य स्मृति का समय है जब गणेश का व्यक्तित्व स्थिर हो चुका था। फलतः ईसवी दूसरी शती से ही गणेश की स्वतंत्र प्रतिमा का निर्माण भी प्रारंभ हुआ होगा। तभी भूमरा की तीसरी-चौथी शती की प्रतिमा में उनका रूप इतना सुनिश्चित और पारंपरीण है। आर्यावर्त में इसके पहले की उनकी मूर्ति का न मिलना उस शक-मुरुंड युग की गूँज है जिसमें मूर्तियों का सार्वभौम नाश किया गया था[1]।

नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रहालय, भारत-कला-भवन, में नृत्य करते हुए गणेश की एक मध्यकालीन (प्रायः १०वीं—१२वीं शती की) मूर्ति है। यह चुनार के पत्थर की है और अंशतः कोरकर बनाई गई है। यह २४½″ ऊँची, १४½″ चौड़ी तथा ४½″ मोटी है। इसमें गणेश का रूप भावपूर्ण है; नाचने की प्रसन्नता उनके मुँह से झलक रही है और उनकी सारी आकृति मुद-मंगल-दाता है। उनका त्रिभंग और ताल पर पड़ते हुए चरण सुंदरता से दिखाए गए हैं। यह मूर्त्ति अष्टभुज है और इसमें दक्षिणावर्त क्रम से हाथों में (१) व्रीहि का अग्रभाग (धान की बाल), (२) परशु, (३) जपमाला, (४-५) नागपाश, ऊपर के दो हाथों में, (६) अपना टूटा हुआ दाँत, (७) मोदक का दोना तथा (८) व्रीहि का अग्रभाग है।

आशा है कि इसके चित्र से, जो इस अंक के आरंभ में प्रकाशित किया जाता है, इसके बिंब की मनोहरता का रस बहुत कुछ प्राप्त हो सकेगा।

१—जायसवाल—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ २।

द्रष्टव्य—

गेटी, कुमारी एलिस—गणेश। आक्स्फ़र्ड। १६३६ ई० में प्रकाशित।

भगवान्‌दास, डा०—'समन्वय' लीडर प्रेस, प्रयाग। (गणपति-पूजन नामक लेख। गणेश की आध्यात्मिक व्याख्या के लिये।)

भट्टशाली, नलिनीकान्त—आइकोनोग्राफ़ी आफ़ बुद्धिस्ट एंड ब्राह्मेनिकल इमेजेज़ इन द ढाका म्यूज़ियम्। ढाका।

भट्टाचार्य, विनयतोष—इंडियन् बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफ़ी। लंदन। ऐन इन्ट्रोडक्शन् टु बुद्धिस्ट एसोट्रिज़्म्। आक्स्फ़र्ड।

भट्टाचार्य, वृंदावन—इंडियन् इमेजेज़, भाग १। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

भांडारकर, रामकृष्ण गोपाल—वैश्नविज़्म इ०। पूना।

रामचंद्रन, टी० एन०—द गोल्डन् एज आफ हिन्दू-जावनीज आर्ट। 'त्रिवेणी' पत्रिका, १६३१। मदरास।

राय, एन० आर०—ब्राह्मेनिकल गॉड्स इन बर्मा। कलकत्ता।

राव, गोपीनाथ—एलिमेंटस् आफ़ हिंदू आइकोनोग्राफ़ी, जिल्द १। मद्रास।

शास्त्री, कृष्ण—साउथ् इंडियन् इमेजेज़ आफ़ गॉड एंड गॉडेसेज़ मद्रास।

इनके सिवा, प्रवासी, १३२७ (वंगाब्द) में श्री चारु बनर्जी का गणेश पर लेख तथा 'विश्वभारती' नवंबर-जनवरी १६३१-३२ में श्री हरिदास मित्र का 'गणपति' शीर्षक लेख।

विस्तृत सूची तथा ज्ञान के लिये कु० एलिस गेटी का 'गणेश' विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसमें इस विषय की विशद तथा अद्यतन पड़ताल की गई है।

(२) हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं का व्यावहारिक साम्य

(पत्रिका, भाग १८ अंक ४, पृ० ४१६ से आगे)

[लेखक—श्री ना० नागप्पा, एम० ए० बंगलूर]

तीसरा अध्याय

व्यंजन-ध्वनि (Consonant sounds)

(१) प्राचीन द्राविड़ मूल भाषा में निम्नलिखित व्यंजन ध्वनियाँ थीं—

	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	दंत्य	ओष्ठ्य	
अघोष	क	च	ट	त	प	स्पर्श
घोष	ग	ज	ड	द	ब	अल्पप्राण
अघोष	...	...	...	...	व़	अर्ध-
घोष	...	...	ऴ	...	व	पार्श्विक
नासिका	ङ	ञ	ण	न	म	
पार्श्विक	...	...	ळ	ल	...	
			ऱ			
अर्धस्वर	...	य	...	...	...	

टि०—**स्पर्श** उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुख के भीतर या बाहर के दो उच्चारण-अवयव एक दूसरे को इतने ज़ोर से स्पर्श करके सहसा खुलते हैं कि निःश्वास थोड़ी देर के लिये बिलकुल रुककर फिर वेग के साथ सहसा बाहर निकलता है।

अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों की सहायता नहीं ली जाती।

घोष वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर-तंत्रियों की सहायता ली जाती है।

(२) उच्चारण

(अ) कंठ्य 'क' 'ग' 'ङ' के उच्चारण संस्कृतवत् होते हैं।

(आ) तालव्य ' च ज ञ' के उच्चारण भी संस्कृतवत् हैं।

(इ) मूर्धन्य 'ट' 'ड' 'ण' के उच्चारण भी संस्कृतवत् हैं।

द्राविड़ भाषाओं में 'ट ड ण ळ ऴ ऱ' इन ध्वनियों का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर उसके नीचे के हिस्से से कठोर तालु के मध्य भाग के निकट छुवाकर किया जाता है।

ऱ, ऴ [१] ये दो ध्वनियाँ द्राविड़ भाषाओं की अपनी हैं। ऴ का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर, हिंदी की

अर्ध-पार्श्विक (continuants) वर्णों के उच्चारण में मुखविवर थोड़ा थोड़ा खुला रहता है, बिलकुल बंद नहीं रहता। स्पर्श वर्णों के उच्चारण में अलबत्ता बंद रहता है।

पार्श्विक उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में मुखविवर को सामने से तो जीभ बंद कर देती है किन्तु दोनों पार्श्वों से श्वास निकलता रहता है।

अर्धस्वर उस ध्वनि को कहते हैं जिसके उच्चारण में मुख सँकरा तो कर दिया जाता है, पर इतना अधिक नहीं कि स्पर्श या संघर्षी ध्वनि निकले और न इतना कम कि ध्वनि स्वर का रूप धारण करे।

१—'ळ' और 'ऴ' के बारे में महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी लिखते हैं—"ऋग्वेद में दो स्वरों के बीच के 'ड' का उच्चारण और उसी प्रकार आए हुए 'ढ' का उच्चारण क्रमशः 'ळ' और 'ळ्ह' हो जाता है। इन दोनों के लिये भी पृथक् चिह्न हैं। 'ळ' का प्रचार राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ और सारे दक्षिण में अब भी है। और उसका संकेत भी अलग ही है जो प्राचीन 'ळ' से ही निकला है। 'ळ्ह' के आजकल 'ळ्' और 'ह्' को मिलाकर 'ळ्ह' रूप में लिखते हैं। परंतु प्राचीन काल में उसके लिये भी कोई पृथक् चिह्न नियत रहा होगा; क्योंकि प्राचीन तेलुगु, कन्नड, ग्रंथ और तमिळ् लिपियों के लेखों में 'ळ' के अतिरिक्त एक और 'ऴ' मिलता है। वैसा ही कोई चिह्न 'ढ' के स्थानापन्न 'ळ्ह' के लिये प्राचीन वैदिक पुस्तकों में मिलना चाहिए।"

'र' ध्वनि निकालने के प्रयत्न से होता है। यह एक मूर्धन्य संघर्षी (Retroflexive fricative) ध्वनि है।

ऱ् अतीव कर्कश ध्वनि है। जीभ की नोक से तालु को खूब अच्छी तरह स्पर्श करने से 'ऱ' का उच्चारण होता है। भेड़ों को बुलाने के लिये जो 'अ ऱ् ऱ्......' सी आवाज गड़ेरिए निकालते हैं उससे यह ध्वनि मिलती-जुलती सी है। वास्तव में यह उससे भी अधिक कर्कश है।

'ळ' का उच्चारण मराठी के 'हळदी' के 'ळ' सा है।

(ई) दंत्य—'त, द, न' तथा वर्त्स्य 'ऌ' संस्कृतवत् उच्चरित होते थे पर 'र' का उच्चारण हिंदी-जैसा होते हुए भी थोड़ा कर्कश है।

(उ) ओष्ठ्य [या द्वयोष्ठ्य] 'प, ब, म' का उच्चारण हिंदी-सा होता है।

ऴ् का उच्चारण 'स्काच' भाषा के which शब्द के wh के समान होता है[1]।

(३) महाप्राण ध्वनियाँ

प्राचीन द्राविड़ भाषा में वर्गीय व्यंजनों की महाप्राण ध्वनियाँ नहीं थीं। 'ख छ ठ थ फ' और 'घ झ ढ ध भ' वर्णों के लिये चिह्न तामिळ् लिपि में अब भी नहीं हैं। अन्य शिष्ट भाषाओं में यद्यपि इनके चिह्न पृथक् पृथक् हैं, पर कर्नाटक की जनता इन ध्वनियों का उच्चारण ठीक तौर पर नहीं कर सकती। यही कारण है कि कन्नड में (और अन्य द्रा. भा. में भी) संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों में महाप्राण वर्ण वर्गीय अल्प-प्राण में परिवर्तित हो जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	—	कन्नड [प्राचीन]
खातिका	>	कादिग (पंप ४-३२)

१—'श' तथा 'ष' वर्ण कन्नड तथा अन्य द्राविड़ भाषाओं में आर्य भाषाओं से लिए गए हैं। '[illegible]' वर्ण [illegible] भाषाओं में आर्य भाषाओं से ही लिया गया है। यह [illegible] पाँच सौ वर्ष के इधर ही [illegible] है।
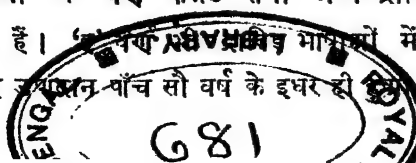
संस्कृत		कन्नड
वर्धमान	>	वड्ढन (पंप ३-३१ ग)
विधु	>	बिदु (पंप १०-१० ३)
भुजंग	>	बोजङ्ग (पंप ४-८७)
श्रमण	>	बवण (आ० क० बो०)

मध्यकालीन कन्नड में भी यही बात पाई जाती है

अर्घ्य	>	अग्ग (हरिश्चंद्र काव्य संग्रह १-११)
मुग्ध	>	मुगुद (" ६-१४)
घालि	>	गालि (जैमिनि भारत ३-२१)

आधुनिक बोलचाल की कन्नड तथा मैसूर की ग्रामीण भाषा में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है :—

संस्कृत	>	कन्नड
ध्वंस	>	दोंस
साधारण	>	सादारण
बुद्धि	>	बुद्दि
अनुभव	>	अन्बौव
भूमि	>	बूमि

अन्य-भाषा-गत शब्दों में भी ऐसा परिवर्तन हो जाता है—

(फ़ा०) तारीफ़	>	तारीपु
(हिं०) घेरना	>	गेरायिसु
(फ़ा०) ख़्वाहिश	>	कायिष्षु

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कन्नड में प्राचीन काल में महाप्राण वर्ण नहीं थे। महाप्राणों का प्रयोग मध्यकालीन कन्नड के काव्यों में तब से प्रारंभ हुआ जब से तत्सम शब्दों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति बढ़ी। कन्नड के 'हरिश्चंद्र काव्य'[1] में 'भूमि' 'कभ' आदि रूप भी मिलते हैं। आजकल भी ग्रामीण भाषा में महाप्राण कहीं कहीं सुनने

१—हरिश्चंद्र काव्य संग्रह (रचनाकाल ई० सन् १२६०) रचयिता राघवांक (मैसूर विश्वविद्यालय ई० १६३३)

में आते हैं। जैसे (फ़ा) फ़ैसला > फ़ैसल। आजकल दक्षिण देश के शहरों की भाषा में महाप्राण ध्वनियों का पूर्ण रूप से समावेश हो गया है। ग्रामों में अभी इनका उतना चलन नहीं है। साहित्यासीन भाषा में महाप्राण ध्वनियों का बराबर प्रयोग होता है। प्राकृत शब्दों में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं मिलतीं।

द्राविड़ भाषाओं में अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजनों का उच्चारण-वैचित्र्य

द्राविड़ भाषाओं में मध्यग अल्पप्राण-अघोष-स्पर्श व्यंजन अल्प-प्राण-घोष स्पर्श व्यंजनों में परिवर्तित होते हैं अर्थात् मध्यग 'क च ट त प' 'ग ज ड द ब' में परिवर्तित हो जाते हैं। 'व्यंजन परिवर्तन' के अध्याय में इस प्रवृत्ति पर अधिक विस्तृत रूप से लिखा जायगा। द्रा० भा० के इस प्रस्तुत वैचित्र्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि मध्यग अल्पप्राण अघोष स्पर्श वर्णों का अघोष उच्चारण न होकर प्राय: घोष उच्चारण होता है। यही प्रवृत्ति संस्कृत से व्युत्पन्न शब्दों में भी पाई जाती है।

उदा०—

ठेठ द्राविड़ शब्द	**संस्कृत से व्युत्पन्न शब्द**
(कन्नड) आगलि (हो)	(सं०) मुकुट < मुगुट (क०) (रा०५४)
< <पुलिदोल्> >(तमिळ्)	(,,) लोक > उलगम् (त०)
(व्याघ्रचर्म)	(,,) वृषभ > इडव (म०)
< <मिगुलु> >(तेलुगु) (बचाना)	
(मलयाळम्) अग (कली)	

अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजनों के अघोष उच्चारण तभी होते हैं जब वे शब्दों के आदि में हों या जब वे मध्यग सम संयुक्त व्यंजन हों।

तमिळ्	कडल् (= समुद्र)	तट्टु (= थपकी देना)
मलयाळम्	कडल्	तट्टु
तेलुगु	कडलि	तट्टु
कन्नड	कडलु	तट्टु
तुळु	कडलु	तट्टु

(४) द्राविड़ भाषाओं में तालव्योच्चारण

तमिळ् में 'श' का उच्चारण संस्कृत के 'श' के उच्चारण से भिन्न है। श्री L. V. Ramaswami Iyyar ने इस ध्वनि का यों विवरण दिया है :—

'In Tamil where ś in initial position is general, except in Tinnevelli and Jaffna, the fricative is produced by the raising of the middle of the foreblade of the tongue against the region of the mouth-roof somewhat behind the teeth ridge where a slight hole-like passage is formed through which air is allowed to escape. This is the value of ś in Tamil words like śā (to die), Śinna (small) etc.

But, Tamil has an affricate c[=cf in IPA Script] which is constituted of a plosive element and a fricative ś. This fricative element (in cf) is always produced in Tamil at a still more backward position

than in the variety described above, so far as both the region of the mouth-roof and the position of the hard palate, i. e. the same point at which the plosive element (c) or (cf) or c of geminated medial of cc of Tamil is produced."

मलयाळम् भाषा में शब्द के आदि में 'च' का ही प्रयोग होता है और 'श' का प्रयोग केवल शब्द के मध्य में होता है। इस प्रयोग-वैचित्र्य से 'श' का उच्चारण affricate [cf] में के संघर्षी (fricate) सा होने लगा है अर्थात् तमिऴ् के < < 'श' > > से ईषत् पश्च उच्चारण होता है।

तेलुगु कन्नड एवं तुळु में 'च' के उच्चारण में जीभ की नोक जहाँ तालु को स्पर्श करके रह जाती है उसी स्थान में 'श' का उच्चारण होता है। मलयाळम् 'श' का भी उत्पत्ति-स्थान यही है।

तालव्य 'श' का उच्चारण तमिऴ् में कन्नड की अपेक्षा अधिक होता है। तमिऴ् के असंयुक्त (uncombined) श का कन्नड में स और तेलुगु में च हो जाता है। जैसे—

(त०) शेंडु (गेंद) > (क०) सेंडु, (ते०) चेंडु।

परंतु तेलुगु में 'च' एवं 'ज' के 'त्स' 'द्ज़्' जैसे उच्चारण प्रचलित हैं जिनके तेलुगु में 'ౘ', 'ౙ' चिह्न हैं। ये उच्चारण अन्य द्राविड़ भाषाओं में नहीं हैं। आर्य भाषाओं में केवल मराठी और उत्तर-पश्चिमी (काश्मीरी, पश्तो) भाषाओं में इस प्रकार के उच्चारण मिलते हैं जिन पर तेलुगु के प्रभाव का अनुमान हो सकता है। 'श' के 'च' में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति पर भी द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव माना जाता है।

(५) भारतीय आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण

बहुत दिनों से भाषा-विज्ञान-जगत् में यह चर्चा चली आ रही है कि भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों का समावेश द्राविड़ भाषाओं

के संपर्क से हुआ है, या नहीं। काल्डवेल साहब का मत है कि प्रा० द्रा० भा० से ही ये ध्वनियाँ भा० आ० भा० में आई हैं। डा० ग्रियर्सन एवं स्टेन कोनो साहबों ने मध्य मार्ग का ग्रहण करके अपनी 'लिंग्विस्टिक सर्वे' (जिल्द ४ पृ० २७९) में लिखा है—

"भारत-यूरोपीय भाषाओं में ये वर्ण कदाचित् नहीं थे। उन भाषाओं में शुद्ध दंत्य वर्ण तो नहीं थे, जिनका उच्चारण जीभ से दाँतों को स्पर्श करने से होता है, पर उनका उच्चारण जीभ से ऊपर के मसूढ़ों का स्पर्श करने से होता था अर्थात् वे वर्त्स्य थे। यह तो स्पष्ट है कि इनमें से कुछ वर्ण भारत में दंत्य हो गए हैं और कुछ मूर्धन्य। प्राय: मूर्धन्य वर्ण उन संयुक्त व्यंजनों के परिणामत: हैं जिनमें 'ल' और पुराने दंत्य वर्णों का संयोग था। इस प्रकार के परिवर्तन अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी होते हैं। अत: संभव है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हों। क्योंकि मूर्धन्य वर्णों का उच्चारणाधिक्य द्राविड़ भाषाओं का एक वैचित्र्य है, अत: यह भी संभव है कि अधिकता से मूर्धन्य वर्णों के उपयोग करने की उनकी प्रवृत्ति का भारतीय आर्यों की स्वतंत्र प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़ा हो।"

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी अपनी 'बंगभाषा की उत्पत्ति और विकास' नामक पुस्तक[१] (The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta 1926) में लिखते हैं :—

"ट, ड, ण, ळ, ऴ (ऴ=मूर्धन्य संघर्षी) वर्ण द्राविड़ भाषाओं की विशेषता हैं। ये वर्ण वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त और किसी प्राचीन भारत-यूरोपीय भाषा में नहीं मिलते। आधुनिक स्वीडिश (जो एक आधुनिक भारत-यूरोपीय भाषा है) भाषा में 'र्द' से 'ड' की उत्पत्ति हुई है जिसका साम्य प्राचीन मागधी में उपलब्ध है। (मागधी में सदा 'र' का 'ल' होता था। 'र' + दंत्य स्पर्श > मूर्धन्य स्पर्श'। यह परिवर्तन असल में 'ल + दंत्य स्पर्श > मूर्धन्य स्पर्श' है, जिस पर देशी प्रभाव है।)

१—भाग पहिला, पृष्ठ १७०,१७१.

उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण भी भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन काल से होता आया है। मध्यग ड, ढ > ड़, ढ़, आ० भा० आ० भाषाओं में हैं। प्रायः यह परिवर्तन म० भा० आ० भा० में ही था। यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में भी पाई जाती है[१]।"

रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा अपनी 'भारतीय लिपि-माला' (दूसरा संस्करण सं० १९७५) [२] में लिखते हैं:—

"बाबू जगन्मोहन वर्मा ने यह भी निष्कर्ष[३] निकाला है कि 'ट ठ ड ढ ण' ये पाँच मूर्धन्य वर्ण आर्यों के नहीं थे। वैदिक काल के आरंभ में अनार्यों की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग जब आर्यों ने देखा तब वे उनके कानों को बड़े मनोहर लगे अतएव उन्होंने उन्हें अपनी भाषा में ले लिया।

इसके प्रमाण में लिखा है कि 'पारसी आर्यों की वर्णमाला में मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव है और धातु-पाठ में थोड़े से धातुओं को छोड़-कर शेष कोई धातु ऐसा नहीं जिसके आदि में मूर्धन्य वर्ण हो' परंतु पारसी आर्यों के यहाँ केवल मूर्धन्य वर्णों का ही अभाव हो सो नहीं, किंतु उनकी वर्णमाला में 'छ', भ', 'ल' वर्ण भी नहीं हैं और वैदिक या संस्कृत साहित्य में 'ञ्' से आरंभ होनेवाला कोई धातु या शब्द भी नहीं है। तो क्या 'छ' 'भ' 'ल' और 'ञ' वर्ण भी अनार्यों से ही लिए गए ? 'ट'[४], 'ड'[५], 'ढ'[६], और 'ण'[७] से आरंभ होनेवाले बहुत से धातु

१—यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में नहीं पाई जाती।

२—पृष्ठ ३०,३१.

३—सरस्वती—ई० सन् १९१५ पृ० ३७०, ७१.

४—'ट' से प्रारंभ होनेवाले धातु :—टंक्, टल्, टिक्, टिप् टीक, ट्वल् हैं।

५—'ड' ... ... :—डप्, डम् डंब् डंभ् डिप् और डी हैं।

६—'ढ' वाला धातु :—√ढौक् है।

७—पाणिनि ने बहुत से धातु 'ण' से आरम्भ होनेवाले माने हैं णोनः; पा० ६।१।६५; उपसर्गादसमासेऽपि णो पदे शस्यः पा० ८।४।१४।

हैं और जिनमें मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग हुआ हो, ऐसे हजारों शब्द वैदिक साहित्य में पाए जाते हैं। ग्रीक आर्यों की भाषा में 'ट' और 'ड' ही हैं, 'त' और 'द' का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसी से ग्रीकों ने फ़िनीशियन अक्षर 'तावू' ('त' का सूचक) से 'टाओ' (ट) और 'दालेथ' ('ड') बनाया।

ऐसी दशा में बाबू जगन्मोहन वर्मा का यह दूसरा कथन भी आदरणीय नहीं हो सकता।''

बाबू जगन्मोहन वर्मा का मत है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में द्राविड़ भाषाओं से ही लिए गए हैं (दे० सरस्वती १९१५, पृ० ३७०, ७१)। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में निम्न-लिखित कारण लिखे हैं:—

(१) आर्य जाति की किसी भी शाखा की वर्णमाला में मूर्धन्य वर्ण नहीं हैं। फारसी आर्यों की वर्णमाला, में जिनका भारतीय आर्यों के साथ घनिष्ठ संबंध है, मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव है। उनकी भाषा में सब जगह मूर्धन्य वर्णों के स्थान पर दंत्य वर्णों से काम लिया जाता है। जैसे 'अष्ट' का 'हश्त'; 'षष्टि' का 'शस्त'; 'मुष्टि' का 'मुश्त','कृष्टि' का 'किश्त','विष्टर' का 'बिस्तर','उष्ट्र' का 'उस्तुर' इत्यादि।

(२) धातु पाठ में धातुओं का संग्रह है। वहाँ थोड़े से धातुओं को छोड़कर शेष कोई धातु ऐसा नहीं जिसके आदि में मूर्धन्य वर्ण हो। मूर्धन्य वर्ण जिनके आदि में हैं वे प्राय: दूसरे धातुओं के अनुकरण पर वर्ण-विकार करके बनाए गए हैं। उनका ब्योरा इस प्रकार है :—

(क) पाँच धातु 'ट'कारादि हैं, टिक्ट, टकि, टीकृ, टल और टूवलू। इनमें 'टकि बंधने' 'तकि कृच्छ्रजीवने' से ही बना है। इन दोनों के अर्थों में भी परस्पर संबंध है। कृच्छ्रजीवन, बंधन या स्वतंत्रता के नाश होने पर ही होता है। अतएव 'टिकृ' और 'टीकृ', 'तिकृ' और 'तीकृ' की ही छाया जान पड़ते हैं। 'टल' और 'टूवलू' का संबंध "तड् आघाते" से है। उनका अर्थ 'वैकल्य' है जो आघात का परिणाम मात्र है।

(ख) डकारादि के केवल चार धातु हैं—डप्, डिप्, डिंप् और डीङ्। पहले दो, 'डप्' और 'डिप्' 'पिंड्' धातु से आद्यंत-विपर्यय द्वारा बने हैं। उनका अर्थ भी संघात ही है। तीसरे 'डिंप्' का अर्थ 'क्षेपे' है, 'पृथ आक्षेपे' से आद्यंत-विपर्यय द्वारा बना है। चौथा 'डीङ्' 'दीङ्' का रूपांतर है। केवल अंतर इतना ही है कि 'डीङ्' का अर्थ उड़ना है और 'दीङ्' का अर्थ 'क्षय' होना।

(ग) 'ढ'कारादि केवल 'ढौक्' धातु है जो 'त्रौकृ' धातु का रूपांतर मात्र[1] है।

इन धातुओं का प्रयोग वेदों में नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि इनकी कल्पना पीछे से अन्य धातुओं के अनुकरण पर की गई है।

(३) वैदिक शब्दों की जाँच से पता लगता है कि कितने ही स्थलों पर बलात् वर्णविकार करके मूर्धन्य वर्ण लाया गया है। हम यहाँ ऐसे वर्णों के कुछ उदाहरण देने के पहले महर्षि यास्क की सम्मति उद्धृत करते हैं। उन्होंने 'निघंटु' शब्द की निरुक्ति में जो कुछ लिखा है उससे पाठकों को यह स्पष्ट हो जायगा कि यह केवल हमारी ही सम्मति नहीं है। हमसे बहुत पहले यास्कादि महर्षियों ने भी इसे जान लिया था। यास्काचार्य निरुक्त के आदि में निघंटु शब्द पर लिखते हैं :—

"समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघंटव इत्याचक्षते। निघंटवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघंटव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः।"

१—'ण'कारादि धातुओं के आदि 'ण'कार के स्थान पर काम में लाते समय 'न'कार हो जाता है। अतः उनको 'ण'कारादि मानना ही नहीं चाहिए। जैसे—√णक्ष् > नक्षत्र, √णभ > नभ, √णुद > नोदयति, √णी > नयति, इत्यादि।

इसका सारांश यह है कि "निगन्तु" शब्द से बिगड़कर "निघण्टु" शब्द बना है। उपमन्यु आचार्य कहते हैं कि वेदों से शब्द निकाल निकाल कर संग्रह किए गए हैं। इसी लिये इसे 'निगम' या 'निगन्तु' कहते थे। इसी से निघंटु शब्द बना है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल के आरंभ में आर्यों ने अनार्यों की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग देखा तो वे उनके कानों में बड़े मनोहर लगे। अतएव उन्होंने उनको अपनी भाषा में ले लिया[१]। यहाँ हम ऋग्वेद से नमूने के लिये दो-चार वाक्य उद्धृत करते हैं। इन वाक्यों से इस अनुमान की पुष्टि होती है :—

(क) विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रयांस्युत्तरा।१।११।७

(ख) देव्या होतारा प्रथम विदुष्टर ऋजुपत्तत: समृचावयुष्टरा।२।३।७।

(ग) स्युष्टे सत्या इहाशिष: ।८।४४।२३

(घ) यूयं हिष्ठा सुदानव: ।१।१५।२

(ङ) रथेष्ठेन हर्यश्वेन विच्युता: ।२।१७।३

(च) जराबोधतद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय ।१।२७।१०.

उपर्युक्त उदाहरणों से यह मालूम होगा कि प्रथम तीन पंक्तियों में 'त' के स्थान पर 'ट', ४ और ५ में 'थ' के स्थान पर 'ठ' और छठो पंक्ति में ढ्ढ के स्थान पर ड्ढ किया गया है। इतना ही नहीं 'दुस्तर' के स्थान पर वेदों में भी प्राय: 'दुष्टर' हो गया है। 'स्थिर' शब्द 'गवि' और 'युधि' के साथ मिलने से 'ष्ठिर' हो जाता है।

(४) मूर्धन्य वर्णों की अधिकता अब तक अनार्य जातियों की भाषा में स्पष्ट रूप से पाई जाती है।

(५) वैदिक भाषा में अनार्य जातियों की भाषा से 'शब्द' तक ले लेना महर्षि जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन† में साफ़ लिखा है। तब वर्णों की तो बात ही क्या?

१—द्राविड़ी मूर्द्धन्य वर्ण कभी श्रुति-मधुर न रहे होंगे; न हैं। आर्य्यों ने उन्हें यदि लिया हो तो उसका कारण मनुष्य की अनुकरण-प्रवृत्ति है।

† चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन, मी० अ० १. पा० ३। १०। इस पर शबर-स्वामी की टीका देखने योग्य है।

उपर्युक्त कारणों से यह सिद्धांत सच्चा जान पड़ता है कि भारतीय आर्यों ने मूर्धन्य वर्णों को अनार्य जातियों की भाषा से आदिम काल में अपनाया, और उनके द्वारा अपनी भाषा का उत्तम संस्कार करके उसे सर्वांगपूर्ण भाषा बनाया।"

वैदिक काल में भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग कम था। वैदिक संस्कृत के शब्दों में मूर्धन्य वर्ण मध्यगया अंतिम ही होते थे। ह्विट्ने (Whitney) साहब अपने वैदिक संस्कृत के व्याकरण[१] में लिखते हैं :—

According to most scholars, they (cerebrals) are due to aboriginal, specially Dravidian influence (अर्थात् बहुत से विद्वानों का मत है कि मूर्धन्य वर्ण भारतीय आर्य भाषाओं में देशी भाषाओं, खासकर द्राविड़ भाषाओं, के प्रभाव से आए हैं)

वैदिक संस्कृत में मूर्धन्य वर्णों के प्रयोग के संबंध में कुछ विस्तारपूर्वक लिखा जायगा। नियमतः वैदिक संस्कृत में 'ष' या 'र' युक्त दंत्य वर्णों से ही मूर्धन्य वर्णों की उत्पत्ति हुई है। परंतु व्यंजनों के पहिले तथा शब्दों के अंत में प्राचीन 'ज' 'श' 'ह' के स्थान पर भी मूर्धन्य वर्ण मिलते हैं। ह्विट्ने साहब के अनुसार:—

(अ) < < ष > > (= स, श, ज) + < < -त-, -थ- < < > > ->
ट-, > > < < ठ-, > >
< < वृष + तिं > > (प्रत्यय) = < < वृष्टिं- > > (= वर्षा)
< < दुस् + तंर् > > > < < दुष्-टंर > > (= दुस्तर)
< < वंश्--ति > > > < < वंष्--टि > > (He wishes)

(आ)

(१) 'र' युक्त दंत्य वर्णों का कदाचित् प्राचीन काल में मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तन नहीं होता था। जैसे:—

< < दभ्रं > > (= दह्-त्र-) और < < दृढ > > (= दह्-त-); 'ष्ट्' कई बार ऋग्वेद में आने पर भी [जैसे—राष्ट्र, देष्ट्री (नेत्री)

१—वैदिक ग्रामर § ४२।

दंष्ट्र] मूर्धन्य 'र' का अनुच्चारण ही प्रायः होता होगा। क्योंकि 'उष्ट्रानाम्' 'राष्ट्रानाम्' जैसे रूप भी मिलते हैं जिनमें 'र' का दंत्य उच्चारण ही था, क्योंकि मूर्धन्य उच्चारण होने पर 'उष्ट्राणाम्', 'राष्ट्राणाम्' रूप ही होने चाहिए थे।

(२) < <-र-,-ल- + दंत्य < < > मूर्धन्य

यह प्राकृतों के प्रभाव के कारण है।

< <कृत-> >, पर < <विं—क ट-> >(=भयंकर)

< <कर्त-> >(=गर्त) पर < <काट-> >(=गहराई)

< <अवर> >(नीचे) पर-अवट> > (=गड्ढा)

(इ) मूर्धन्य-घटित शब्दों के अनुकरण पर, उपमानाभास (False analogy) के कारण कुछ शब्दों में मूर्धन्य उच्चारण होता है। जैसे :—

< <पंश्-> >(=डोरी) > < <पड्वीस> >(बेड़ी) के अनुकरण पर < <पाड्-गृमि> >(नाम) एवं < <पड्भिस्> > (=पादों से)

< <'वाट्'> >और> >'राट्'> >जो घोषणा करने के लिये यज्ञों में प्रयुक्त थे, उनके अनुकरण पर < <'वंचत्'> > और < <'श्रोषत्'> >के लिये शायद < <वंषट्> >और < <'श्रौषट्'> >शब्द प्रयुक्त होने लगे हों।

(ई) मूर्धन्य 'ष' की जगह कहीं कहीं 'ट' या 'ड' मिलते हैं।

< <प्रुष्> >(छींटे मारना) > < <विप्रुट्> >(=बूँद)

< <द्विष्> >(घृणा करना) > < <एधमानद्विट्> >
(=धृष्टों से घृणा करना)

अनेक स्थलों पर तालव्य 'ज' 'श' एवं 'ह' का मूर्धन्य वर्णों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—

(१) शब्दों के अंत में (कर्ता कारक)

(क) भ्राज्>भ्राट्
राज्>राट्

विपाश् > विपाट् (एक नदी का नाम)

विंश् < विट्

(ख) कर्त्ता एवं कर्म कारक में—षष् < षट्

(ग) प्रथमा विभक्त्यंत समासपद के पूर्व पद में

उदा०— < < षट्- > > , < < पड्- > > (< < < पंश्- > > डोरी)

(घ) 'लुङ्' लकार के मध्यम एवं प्रथम पुरुष के रूपों में मूल तालव्य के स्थान पर और आख्यातों के लोप होने के बाद। जैसे—

√भ्रांज्- > भ्र—भ्राट्

√यंज् > यांट्

√रांज्- > रांट्

√नंश्- > नट्, आ-नट्

(२) व्यंजन प्रत्ययों के पहले

(क) 'भ' से आरब्ध विभक्ति-प्रत्ययों के पहले मूर्धन्य वर्ण देखने में आते हैं।

जैसे :—

< < पड्भि: > > < < < √पंश्- > > (देखना)

< < विड्भि: > > < < < √विंश्- > >

< < सरड्भ्य: > > < < < सरंष्

(ख) सप्तमी बहुवचन के प्रत्यय < < सु > > के पहले जैसे— < < धुंट्-सु > >

(ग) 'लिङ्' लकार के एकवचन प्रत्यय < < धि > > के पहले। जैसे :— < < दिदिड्ढि: > > < < < √दिश्- > >

(३) निम्नलिखित शब्दों में मूर्धन्य वर्णों के अस्तित्व के कारण सम्यक् रीति से बताए नहीं गए हैं :—

(क) < < दण्ड > > ग्रीक < < δS'νδρον > > (देन्द्रोन)

(ख) < < आघाटि- > > , < < आ-घाट् > > (अथर्ववेद) [= पीटनेवाला] ['आघात' रूप भी प्रयुक्त है]

(ग) < <इटंन्त > > (भटकता हुआ)

(घ) < <कुट- > > (घर); इस अर्थ में 'कुट' शब्द द्राविड़ी हो सकता है। कुट < कुटी < < <गुडि > > (कन्नड = मन्दिर) < < <गुडिसलु > > (क० = झोंपड़ी)

(ङ) < <कुट- > > (सामनेवाली हड्डी)

(च) < <कूपीट- > > (ईंधन)

(छ) < <मण्डूक- > > (मेंढक)

(ज) < <इट > > (अ० वे०) (नरकट)

(झ) < <ररांट > > (वाजसनेयि संहिता)

इनके अतिरिक्त 'ब' युक्त कुछ शब्दों को ह्विट्ने साहब अनार्य मानते हैं :—

(क) बट्, बड़ा (आश्चर्यसूचक शब्द)

< <डे; अडे, 'डी', > > (तमिळ् में किसी को बुलाने के लिये प्रयुक्त होते हैं)

(ख) < <बट्रिंन > > (=चौड़ा)

(ग) < <बीरिट > > (=सेना)

(घ) बेकनाट (=usurer)

(ङ) < <आडम्बर > > (आडम्बर = आटाटोप)

(च) < <खड्ग > > (गैंड़ा)

(छ) < <चाण्डाल > > (अंत्यज)

(ज) < <मर्कट- > > (बन्दर)

आधुनिक भा० आ० भाषाओं में आदिष्ट मूर्धन्यीकरण

(Resultant Cerebralization)

आ० भा० आ० भाषाओं के उत्तरकाल से 'त्र, द्र' का मूर्धन्यीकरण उपलब्ध होता है।

[प्राकृत एवं पाली के व्याकरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्राकृत में तो दंत्य वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य वर्ण बराबर मिलते हैं; जैसे :—

प्रति > पडि

प्रथम > पढम

अर्धमागधी (या पूर्वी प्राकृतों में) मूर्धन्यीकरण (Cerebralization) और भी अधिक है। जैसे,

औषध > ओसठ (अ० मा०) ओसह (म० शौ०)। कितनी ही प्राकृतों में 'न' का 'ण' हो जाता है :—

नूनम् > णूणं

नयनम् > णअणं

इत्यादि]

इसके फल-स्वरूप पूर्वी भाषाओं में, म० भा० आ० काल के मध्य-काल तक < <र्त, र्द> > का < <ट्ट, ड्ड> > में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति वि० पू० तीसरी शताब्दी तक प्रचलित थी। परंतु उत्तर पूर्वकाल में 'र्त' 'र्द' अपरिवर्तित ही रहे। अन्य बोलियों में (जैसे मध्य देश एवं दक्षिण-पश्चिम की बोलियों में) उनका 'त्त द्द' में परिवर्तन हो जाता था। यह पूर्वी मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति बहुत काल तक पश्चिमी बोलियों में आने नहीं पाई। पाली या पूर्वी भाषा की सार्वभौमता ने और बोलियों में भी इस प्रवृत्ति का समावेश कर दिया। यह बात अशोक एवं कुषान राजाओं के पश्चिमी शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः 'अ-मूर्धन्य' प्रधान पश्चिमी, मध्यदेशी एवं उत्तरपश्चिमी भाषाओं में भी मूर्धन्यप्रधान शब्दों का अधिक संख्या में समावेश हो गया। पुरानी हिंदी के वीरगाथा साहित्य की भाषा में मूर्धन्य शब्दों का प्रचुर प्रयोग इसी कारण हुआ है। परंतु पूर्वी भाषा (पाली) की सार्वभौमता देश में बहुत दिनों तक न रही। मध्य देश की प्राकृत (शौरसेनी प्राकृत) ने इसका स्थान ग्रहण किया, जिसके कारण पूर्वी भाषाओं में भी अ-मूर्धन्य-युक्त रूपों के साथ ही साथ मूर्धन्य रूप भी चल पड़े।

मागधी या पूर्वी रूप[1]

मागधी या पूर्वी रूप [जैसे < <मृत् > > > < <मड > >, < <मृत्तिका > > > < <मट्टिका > > < <वृध,वर्ध > > >वड्ढ > > < <वर्त्मन् > > > < <वट्ट > >(वट्ट =मार्ग (कन्नड) >बाट (पू० हिं०) [(क०) मट्टि (=अखाड़े की मिट्टी) √बड्ढ, (क०) वंड्डति (=जन्मदिवस)] । < <मट्टि, बट्टे > >[ये शब्द कन्नड में भी प्रचलित हैं] पूरब में ही नहीं वरंच पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एवं पंजाबी जैसी भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त मागधी के विभिन्नरूप जैसे—

अर्ध > अद्ध ('आधा' हिं०)
सार्थ > सत्थ ('साथ' हिं०)
वर्त्तिका > वत्तिका ('बत्ती, बाती' हिं०)

बंग भाषा में भी बराबर मिलते हैं—

भर्त्ता > भट्टा, भट्ट [भाट (हिं०) तो ठेठ पूर्वी है]।

स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण
(Spontaneous Cerebralization)

मूल दंत्य वर्णों के कुछ शब्दों में मूर्धन्य हो जाने के कारण अब तक नहीं मालूम हुए हैं। 'र' या 'ल' रहित शब्दों में भी मूर्धन्यीकरण पाया जाता है। इसे आर्य-भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने (जैसे सु० कु० चटर्जी महोदय[2]) स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण के अंतर्गत माना है। जैसे—

सं० √डी, उत् + डी > उड्डी
... आति (जलपक्षी) > आटि, आडि

१—पाली में 'र' युक्त वर्ण के बाद के दंत्य वर्ण को मूर्धन्य में परिवर्तित कर देते हैं। जैसे—निर्ग्रन्थ > निगण्ठ, कृत > कट, वृंत > वण्ट।

२—बंग० भा० उत्पत्ति एवं विकास—पृ० ४८७

... अतति > अटति (इत्यादि)

परंतु इनकी संख्या भा० आ० भा० में अधिक होती जाती है। दक्षिणपश्चिमी और उत्तरपश्चिमी अशोक के शिलालेखों में < <'द्वादस' > > (गिरनार) < < बदय > > (बदज़, शहबाज़गढ़ी) [मान्सेरा के शिलालेख का < < दुवाडस > > पूर्वी रूप है] मिलते हैं। परंतु इन्हीं के मूर्धन्य रूप पूरब में प्राप्त होते हैं; जैसे—< < दुवाडस > >।

पंजाबी एवं सिंधी के < <'पवे', 'पए' > > (< *पअइ < *पददि < पतति) रूपों की पूरबी एवं मध्यदेशीय (बंग, बिहारी पूर्वी हिंदी इत्यादि) < < पड़े > > (< पड़इ < *पड़दि < *पटति < पतति) जैसे रूपों से तुलना करने से मालूम होता है कि स्वत:प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण पूरबी और संभवत: मध्यदेशीय भाषाओं की प्रवृत्ति थी। पश्चिमी एवं अन्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति नहीं थी (जैसे—पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी एवं सिंधी)। कुछ जगहों पर एक ही शब्द दो रूपों में प्रचलित हैं; जैसे—(हिं०) खाड़ी; खाई (बं०)। मध्यग 'न' एवं 'ल' का 'ण' एवं 'ळ' होने की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषाओं के उत्तर काल में सभी बोलियों में प्रचलित थी। परंतु इस प्रवृत्ति का मध्यदेश एवं पूर्व (उड़ीसा को छोड़कर) में लुप्त होकर केवल पश्चिमी (पश्चिमी एवं पूर्वी पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी और अंशत: सिंधी) भाषाओं में अब तक रहना आश्चर्य की बात है। स्वत:प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण में उपमान[१] और देशीयता दोनों ने अवश्य कुछ न कुछ काम किया है। उदा०—

*षष्-दश > *षष् दश > षोडश

त्रयोदश > तेडस > तेरह

इन्हीं के सदृश—

एकादश > *एगाडह > एगारह < ग्यारह

द्वादश > दुवाडश > बाड़स > बारह

१—Analogy.

इसी अनुरूपता के कारण मागधी में—

मृत, कृत > मट, कट > मड कड और इन रूपों के अनुकरण पर

गत > गट > गड रूप भी बना।

परंतु उपमानाभास (False analogy) और देशीपन निम्नलिखित शब्दों के मूर्धन्यीकरण में उत्पादक कारण नहीं हो सकते।

< < पतति > *पटति >, पडइ > पड़ै > > (हिंदी)

सप्तति > *सत्तटि > *सत्तडि > सत्तरि > सत्तर (हिं०)

√दंश > (म० भा० आ० भा०) दंस > √डँस (हिं०)

उपर्युक्त शब्दों में मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के विनिमय का कारण कुछ ठीक नहीं बताया जा सकता है। न उपर्युक्त उदाहरणों में दर्शित इस प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का ही प्रभाव पड़ा है क्योंकि द्राविड़ भाषाओं में दंत्य एवं मूर्धन्य वर्णों का परस्पर विनिमय होता ही नहीं।

आ० भा० आ० भाषाओं के अनेक शब्द स्पष्टतया देशज हैं। यह ध्यान देने की बात है कि मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं में शब्दों के आदि में अपेक्षाकृत कम होते हैं; शब्दों के मध्य तथा अंत में ही उनका प्रयोग अधिकतर देखा जाता है। संभवत: कोल या प्राचीन कोल भाषा में शब्दों के आदि में मूर्धन्य वर्ण रहे हों। हो सकता है कि आ० भा० आ० भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य देशज शब्दों के मूर्धन्य वर्ण "मूल दंत्य + < < र > >" के कारण आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में समानतया आ गए हों। हो न हो, म० भा० आ० भा० एवं आ० भा० आ० भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य-घटित शब्दों की तह में अनार्य, या आर्यों से पहलेवाली भारतीय जनता की भाषाओं का स्रोत गुप्त रूप से बह रहा हो[१]।

हिंदी में प्रयुक्त द्राविड़ भाषाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

१—सु० कु० चटर्जी की 'बंग भाषा की उत्पत्ति एवं विकास' पुस्तक, पृष्ठ ४८७-६।

हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं में प्रयुक्त मूर्धन्य-वर्णघटित कुछ शब्द

(१) टका (=दो पैसा) <टंक [कन्नड <<टंक साले>> टकसाल]।

(२) टाँग (=पैर) [(कन्नड) <<टाँग कोडु वुदु>>= एक दूसरे की टाँग में टाँग अड़ाकर पृथ्वी पर गिराना]।

(३) टक्कर (टक्कर मारना) [(कन्नड) << टक्कर होडे-युवुदु>>=टक्कर मारना]।

(४) टुकड़ा (खंड) [(कन्नड) <<टुकड़ा, तुकड>>= खंड]।

(५) टोपी [(कन्नड) <<टोपी>>]।

(६) टहलना [(कन्नड) <<टलायि सुवुदु>>]।

(७) आटा—इस प्रचलित शब्द की व्युत्पत्ति 'शब्दसागर' में (सं०) अर्द (जोर से दबाना) से सूचित की गई है। परंतु यह (प्रा०) अट्ट से व्युत्पन्न हो सकता है। और (प्रा०) <<अट्ट>> द्राविड़ शब्द है क्योंकि उसके रूप आज भी दक्षिणी भाषाओं में चल रहे हैं। जैसे :—

(क०) <<√अडु>> (=पकाना) ><<अट्ट>> (पकाया हुआ) जैसे:— <अट्ट हरळु>>=(पकाई हुई रेंडी)।

(तु०) <<अट्टिल>>=पकाना।

(ते०) <<अट्टु>>: (लोहे के तवे पर पकाया हुआ नमकीन अपूप)।

(८) पट्ट, पट्टा [पट्ट—टसर का या रेशमी कपड़ा]।

पट्टा—कोई अधिकार-पत्र या सनद, कुत्ते या बिल्ली के गले में पहनाने की लौह-शृंखला।

यही शब्द 'पाट' के रूप में 'सन' के अर्थ में भी प्रचलित है। कन्नड में > पट्टे नारु >>या>> पट्टे मडि>> सन के कपड़े को

कहते हैं। कन्नड में > > पट्ट > > सनद (document) के अर्थ में भी आता है। इसी से निम्न—(क०) > > पटेल > > (=लगान वसूल करनेवाला, सरकारी कर्मचारी) शब्द भी बना है।

(९) लंगोट [सं० लिंगपट] (कन्नड) लंगोटि।

(१०) कोठी[1] [(कन्नड) > > कोटे > > (किला)] जैसे:—

ऊरू होद मेले कोटे बागिलु हाकि दरु > > (कहावत)

[नगर के लूटे जाने पर किले का फाटक बंद कर लिया।]

(११) घाट [> सं० घट्ट] जैसे—दशाश्वमेध घाट (कन्नड) > > घट्ट > > जैसे (१) > > स्नान घट्ट > > (२) तंग पहाड़ी रास्ता, चढ़ाव उतार का पहाड़ी मार्ग—जैसे—" है आगे परबत की बाटैं। विषम पहार अगम सुठि घाटैं।" —जायसी।

(कन्नड) < < घाटी > > =(तंग पहाड़ी रास्ता) जैसे— < < बिसले घाटि, आगुम्बे घाटि > > (पश्चिमाद्रि की उपत्यका में स्थित स्थान)

(क०) < < घट्ट > > (=पहाड़) जैसे < < पश्चिम घट्ट > > (=पश्चिमाद्रि)

< < घट्टक्के होगि उप्पु तरुवुदु > >

[पहाड़ हो जाकर नमक ख़रीदना; उत्पत्ति-स्थल पर जाकर वस्तु लाना]

(१३) हट्ट (बाज़ार) [> सं० हट्ट]

(कन्नड) हट्टि—लक्षणा द्वारा—(क) बाज़ार

(ख) घर (ग्रामीण)

(ग) आँगन (,,)

१—कोट्टम् नगर के अर्थ में प्राकृत में भी प्रयुक्त था जिसको हेमचंद्र ने देशी बताया है—उदा०—

"भंगणति हरिय कोट्टा तुहरि उणो कोघ मघणयं।"

(देशी नाममाला—२-४५)

(क) हट्टि (=बाजार) उदा० :—

< < हट्टोलि हुट्टिट्टल्ल, क्रयक्के कोण्डद्दल्ल > >

(कहावत)

=(बाज़ार की न पैदा हुई, न दाम देकर खरीदी हुई वस्तु अर्थात् विचित्र वस्तु)

(ख) घर < < हट्टिगे गतियिल्लदव मठकट्टियाने > > (= जिसका घर तक नहीं वह मठ क्या बनवाए ?)

(ग) आँगन— < < परमगतिये बुदु नेरे मने हट्टियो ? > > =परमगति या मोक्ष क्या पड़ोसी के मकान का आँगन है ?

हमारी राय में यह शब्द द्राविड़ी है और < < √अट्टु > > (क०) [=गाय या दूसरे चौपायों को भगाना] से हट्टि (जिसका ग्रामीण उच्चारण आजकल भी 'अट्टि' ही होता है) बना है, जिसका अर्थ है 'जहाँ गायें भगाई जायँ'।

(१४) < < पेट > > (< प्रा० पोट्ट)—हेमचंद्र ने इसे देशज माना है। 'हिंदी शब्दसागर' में इस शब्द की व्युत्पत्ति (सं०) पेट (थैला) शब्द से मानी गई है। कन्नड में < < पोट्टे > > का अर्थ खोखला है। पुरानी कन्नड में 'पोट्टे' 'उदर' के अर्थ में आता है। मराठी में इसके 'पोट' तथा तेलुगु में पोट्टे रूप हैं। अतः संभवतः (हिं०) पेट द्रा० < < पोट्ट > > से ही व्युत्पन्न है।

(१५) √चाट—(जीभ चलाने का शब्द)

[< < √चष् जैसे चषक् > > (मदिरा, प्याली) ?]

तेलुगु > > चाट > > इसी अर्थ में प्रचलित है।

(१६) कूटना [> सं० कुट्टन] > (क०) > कोट्टण 7 > (क०) √कुट्टु (=√कूट) पर 'कुट्टन' शब्द ही द्राविड़ है।

√कुट्टु [क० त०, ते०, तु०, मल०] (=कूट)

> > कोट्टण > > = चावल कूटने का काठ का टुकड़ा।

(१७) मोटा ('मोट' का विशेषण) (कन्नड) मोटु > > =नाटा

(१८) ठगना [हिं० √ठग > (सं०) √स्थग]

(पु० कन्नड) < <टक्कु> > =धोखा

(क०) < <ठक्करु> > =(हिं०) ठग लोग

यह शब्द भी द्राविड़ है।

(१९) सोंठ [<सं० शुण्ठी]

(कन्नड) < <सुण्ठि, सोण्टि> >

(२०) गाँठ [<सं० ग्रंथि]

(कन्नड) < <गण्टु> >

(२१) डोम [>सं० डम ?]

(कन्नड) < <डोम्बरू> > =सँपेरे

[दे० < <डोम्ब विद्दे> > (यक्षिणी विद्या)]

(२२) डिबिया < डिब्बा

(कन्नड) < <डुब्ब> >

(२३) जाड़ा [< सं० जाड्य]

(पु० क०) < <जड> > (=रोग)

(२४) उड़िया <ओड्डिअअं >औड्रीयक (?)

(सं०) ओढ़ देश=(क०) < <ओड्डरदेश> >

(मज़दूरों का देश)

(२५) खिड़की [<(सं०) खटक्किका]

(कन्नड) < <किडिकि> >

सभी विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि आर्यभाषाओं की मूर्धन्य ध्वनियों पर द्राविड़ भाषाओं के मूर्धन्य वर्णों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है।

मेरी समझ में भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं से ही लिए गए हैं जिनके निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) प्राचीन भारत-यूरोपीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण नहीं थे। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी का यह कहना कि "ग्रीक आर्यों की भाषा में 'ट' और 'ड' ही हैं, 'त' और 'द' का सर्वथा अभाव है, एवं सेमेटिक अनार्यों की लिपियों में मूर्धन्य वर्णों का सर्वथा अभाव

पाया जाता है", बाबू जगन्मोहन वर्मा की दलील का यथोचित उत्तर नहीं है। मैं यह नहीं मान सकता कि ग्रीक आर्यों की भाषा के 'ट' और 'ड' शुद्ध मूर्धन्य हैं। जहाँ तक मैंने देखा है, इटली का कोई भी निवासी, जो भारत में आता है, मूर्धन्य वर्णों का ठीक उच्चारण नहीं कर पाता। उसके 'ट' का उच्चारण 'त' एवं 'ट' के बीच का मालूम होता है, जिसको वह दाँतों से जीभ को दबाकर करता है। सारांश यह कि ग्रीक-भाषा-भाषी मूर्धन्य वर्णों का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते जितना भारतीय लोग। यह ध्यान देने की बात है कि ग्रीक लोगों का 'ड' का उच्चारण < <'δ'> > से ही[१] नहीं बना है किंतु 'ρ' से भी[२] बना है; और ये वर्ण शुद्ध मूर्धन्य नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि द्राविड़ भाषाओं को सेमेटिक अनार्य भाषाओं की तुलना में रखने का ज़माना अब नहीं रहा। आजकल द्राविड़ भाषाएँ स्वतंत्र परिवार की भाषाएँ मानी जाती हैं। (भारतीय-ईरानी भाषाओं में भी मूर्धन्य वर्ण नहीं है।)

सुनीतिकुमार चैटर्जी का स्वत:-प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण सिद्धांत मैं नहीं मान सकता। किसी भी ध्वनि का उच्चारण स्वत:प्रवृत्त नहीं हो सकता; किंतु वह अनुकरण द्वारा होता है। यदि भारत में आए हुए आर्यों में मूर्धन्य वर्ण स्वत:प्रवृत्त हो सकते हों तो भारतीय ईरानी भाषा में भी मूर्धन्य वर्ण स्वत: क्यों नहीं उत्पन्न हुए? इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि मूर्धन्य वर्णों से मिलते-जुलते कुछ दंत्य वर्णों का उच्चारण करनेवाली आर्य जनता जब स्पष्ट कर्कश मूर्धन्य उच्चारण अधिक मात्रा में करनेवाली द्राविड़ जनता के संपर्क में आई तब आर्य भाषाओं के इन वर्णों ने स्पष्ट मूर्धन्यों का रूप धारण किया। यदि यह बात नहीं होती तो प्रा० भा० आ० भाषाओं (वैदिक संस्कृत आदि)

१—जैसा श्री म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी ने लिखा है।

२—Giles—Comparative Philology, London 1901.

में ‘ष’ या ‘र’ युक्त दंत्य वर्ण ही नियमतः मूर्धन्य वर्णों में क्यों परिवर्तित होते? (As a rule they have arisen im-

---

१—द्राविड़ भाषाओं में ‘ळ’ और ‘ ़’ स्पष्ट मूर्धन्य ही हैं। मुझे तो तमिऴ् < <‘ऴ’> > के लिये < <ष़> > चिह्न ही अधिक संगत मालूम होता है। परंतु ‘ऴ’ चिह्न इसलिये रखा है कि तमिळ का ‘ऴ’ कन्नड के ‘ळ’ में परिवर्तित हो जाता है। प्रा० द्रा० ‘ऴ’ एवं ‘ऱ’ के कर्कश उच्चारण ही के प्रभाव से वैदिक संस्कृत में “< <‘ष,’ या ‘र’> > + दंत्य” का “मूर्धन्य” में परिवर्तन हुआ।

तमिळ् ‘ऴ’ का तेलुगु में ‘ड’ प्रायः हो जाता है।

तमिळ्	तेलुगु
< <कऴुवु> > (धोना) >	कडुगु
अऴै (बुलाना) >	अडुगु
पाऴ् (खँड़हर) >	पाडु
शुऴि (> जलना) >	सुडु
ऊऴिय (सेवा) >	ऊडिग

प्राच्य भाषाओं में < <‘दंत्य + र’ को मूर्धन्य करने की प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं के निम्नलिखित कर्कश संयुक्त व्यंजनों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है।

(क) तमिळ् का < <न्ऱ्> > जो कन्नड और तेलुगु में कहीं < <ण्ट> > और कहीं < <ण्ड> > भी होता है। जैसे—

(त०) < <ओनऱि> > > < <ओण्डि> > (क० ते०) = अकेला

(त०) < <तिन्ऱि> > > तिण्डि (,, ,,) = जलपान

(ख) तमिल का < <ऱ्ऱु> > जो कन्नड एवं तेलुगु में कभी ‘त’ और कभी ‘ट’ हो जाता है। उदा० :—

तमिळ्	कन्नड	तेलुगु
शुऱ्ऱु (चक्कर काटना) >	सुत्तु	चुट्टु
माऱ्ऱम् (बात)	> मातु	माट
शिऱ्ऱेलि (चुहिया)	> कित्तिलि	चिट्टेलुक

mediately after 'ṣ' or 'ṛ' sound from dentals—Whitney, Vedic Gr. Page 32)। पुरानी ग्रीक 'ρ' (=र) से जैसा आधुनिक ग्रीक में मूर्धन्य उच्चारण से मिलता-जुलता हुआ 'ड' वर्ण निकला उसी प्रकार यह मूर्धन्यीकरण, आर्य भाषाओं की अपनी प्रवृत्ति एवं भारत जैसे उष्ण देश में रहनेवाले (जहाँ विवृत उच्चारण की ओर जनता की प्रवृत्ति अधिक होती है) मूर्धन्य-वर्ण-प्रधान द्राविड़ भाषा-भाषियों के संसर्ग से हो गया होगा। संस्कृत में तो यह नियम ही बना कि 'र' या 'ऋ' युक्त शब्दों के 'न' का 'ण' होता है। परंतु '< <ष> >दंत्य वर्ण' घटित शब्दों के दंत्य वर्णों का मूर्धन्य वर्ण होना तो भारतीय आर्य भाषाओं में ही पाया जाता है। प्राचीन ग्रीक भाषा के "< <σ> > (सिग्मा) + दंत्य" घटित शब्द लैटिन भाषा के रूपों में संघर्षी ही पाए जाते हैं। उदा०—

(ग्रीक) στο's > (लैटिन) (visus)
(इस्तोष्)

(ग्रीक) κυ'σθοs (कस्थोस्) > (") custos

वैदिक संस्कृत में मूल 'ज' 'श' या 'ह' के स्थान पर कहीं कहीं मूर्धन्य वर्णों के दिखाई पड़ने का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। इस प्रवृत्ति पर अवश्य ही द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। सारांश यह कि भारत में 'उष्ट्र' (>उट्ट) >ऊँट (क० 'ओंटे') हुआ न कि 'उश्तर'। इससे मालूम होता है कि प्रा० भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों से मिलते जुलते हुए वर्ण भारत में द्राविड़ भाषाओं के संपर्क में आकर मूर्धन्य बन गए।

प्रा० भा० आ० भाषाओं में (वैदिक संस्कृत में) शब्दांत्य 'च' 'ज' के 'ट' होने का कारण चैटर्जी के मतानुसार उपमानाभास (false analogy) है।

(२) द्राविड़ भाषाओं के अनेक मूल धातुओं में मूर्धन्यवर्ण प्रधानतया उपलब्ध होते हैं। और इन मूर्धन्य वर्णों की आवश्यकता इस

बात से स्पष्ट समझी जा सकती है कि उनमें तथा अन्य दंत्य-वर्ण-प्रधान मूल धातुओं में अंतर स्पष्ट करने में वे सहायक होते हैं।

परंतु आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण युक्त मूल धातुओं की तलाश में व्याकरण के पृष्ठ उलटने की आवश्यकता पड़ती है।

द्राविड़ भाषाओं के ध्वनि-समूह में मूर्धन्य वर्णों का कितना प्रधान स्थान है यह निम्नलिखित मूल शब्दों (धातुओं एवं संज्ञाओं) से स्पष्ट हो जायगा।

(साथ ही यह भी देखने योग्य है कि मूर्धन्य एवं दंत्य वर्णों का भेद कितने स्पष्ट रूप से द्रा० भा० में किया जाता है।)

कुछ प्राचीनतम द्राविड़ धातु

√कुदि (त० ते०)=कूदना
√कुडि (,, क०)=पीना

√पुदे (त०) छिपना < < < पोदे > > (क०) झाड़खंड
√पुडै (,,) बीनना < < < पोडेपु > > (तु०)

< < √कत्तु > > (त०) गड़बड़ करना > > < < गद्दल > > (क०) शोरगुल
√कट्टु (त० ते० क०) बाँधना

< < √कोत्तु > > (त०) खोदना
√कोट्टु (त०)=बजाना

√अरि (त० क०)=पीसना
√अरि़ (,, ,,)=जानना
√अळि (,, ,,)=नष्ट करना, [पोंछना (क०)]

√एन् (त० क०)=कहना
√एण् (,, ,,) गिनना

√अरु (त०)=थोड़ी मात्रा में रहना
√अरु़ (,,)=काट डालना
√अळु (त० क०)=रोना

{ √कोल् (त० क०)=मारना
} √कोळ् (त० क०) लेना [खरीदना (क०)]
{ √तुलै (त०) अंत करना
} √तुळै (,,) रौंदना [(क०) < <तुळि > >]

(३) द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों की नित्यता (permanence) के उदाहरण परिशिष्ट में दिए गए हैं। इन उदाहरणों से ही थोड़ा बहुत पता लग सकता है कि द्राविड़भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों का कितना प्राचुर्य है।

द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण अधिकतर उसी वर्ग में परिवर्तित होते हैं। अन्यवर्गीय व्यंजनों का उनकी जगह आदेश नहीं होता। परंतु भारतीय आर्य भाषाओं में मूर्धन्योच्चारण गृहीत होने के कारण कर्कश मूर्धन्यवर्णों को मृदु—दंत्य 'र', 'ल'—बनाने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में नहीं है।

भारतीय आर्य भाषाओं में 'र' 'ल' 'ळ' वर्ण

वैदिक संस्कृत में 'ल्' के अतिरिक्त एक 'ळ्' भी था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वैदिक भाषा में मध्यग < <ड > > एवं < <ढ > > का 'ळ' एवं 'ळह' मिलता[१] है। 'ळ्' या 'ळह्' यूरोपीय या ईरानी आर्यभाषाओं में नहीं हैं परन्तु तमिळ् भाषा में (जैसा उपर्युक्त विवरण में कहा गया है) '< < ऴ् < <' एवं < <'ळ्'> > इन दो मूर्धन्य वर्णों का आजकल भी प्रयोग होता है और तेलुगु के अतिरिक्त अन्य सब द्राविड़ भाषाओं में अब < <ळ > > प्रयुक्त होता है। वैदिक < < ळ् > > संभवतः द्राविड़ भाषाओं से लिया गया है जिसका महाप्राण

१—म० भा० आ० भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति थी—जैसे पाली में:—

'ड' का 'ळ' में परिवर्तन :—वैडूर्य्यं < वेळुरियं [पा० पाठावली पाठ १४]
क्रीडति < कीळति [,, २४]

'ळ' का 'ळह' में परिवर्तन :—दृढ़ < दळह [पा० पा० पाठ १६]
आसाढ़े < आसाळिह [,, ,, २४]

[< <ळह् > >] रूप वैदिक संस्कृत का अपना है क्योंकि द्राविड़ भाषाओं में महाप्राण (तो क्या 'ह' वर्ण तक) नहीं थे।

वैदिक < <ळ्ह > >का ही परिवर्तित रूप पाली से होते हुए आजकल भा० आ० भाषाओं में 'ढ़' के रूप में पाया जाता है।

हॉर्नले साहब ने (गाडीय भाषाओं का व्याकरण पृष्ठ १२) इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि पूर्वी एवं उत्तरी भा० आ० भाषाओं तथा सिंधी में 'र' वर्ण दंत्य है, और अर्धमूर्धन्य नहीं है। परंतु हिंदी, पंजाबी, लहंदा, गुजराती, राजस्थानी एवं मराठी में यह ध्वनि आजकल भी अर्ध-मूर्धन्य है, जैसे संस्कृत, शौरसेनी एवं मागधी प्राकृतों में प्रचलित था। मागधी प्राकृत में इसी अर्धमूर्धन्य 'ड़' का (जिसका कैथी लिपि) में 'न' चिह्न है जो दंत्य 'ल' का ही विकृत रूप है) दंत्य 'ल' में परिवर्तन हो जाता है। पश्चिमी भा० आ० भाषाओं में भी 'र' एवं 'ल' का विकल्प से विनिमय हो जाता था। यह प्रवृत्ति दर्द भाषाओं तक में पाई जाती है। अतः—

पू० आ० भा० आ दंत्य < <'र'> > < मा० प्रा० > > 'ल' > >शौ० प्रा० 'र' (मूर्धन्य) यही प्रवृत्ति आजकल पूरब में < <ड > को 'ड़' तथा 'र' तक कर रही है। जैसे :—

(सं०) < <वट > > >(अप०) < <वड > > > (हिं०) < <बड़ > > > (पू० हिं०) < <बर > >इसी को हम दंत्यीकरण (Dentalization) कहेंगे, जिसका प्रभाव तेलुगु भाषा पर ख़ूब पड़ा है।

इसके विपरीत मराठी एवं पश्चिमी भा० आ० भाषाओं में (एक सिंधी के अतिरिक्त) संस्कृत का अर्धमूर्धन्य 'र' सुरक्षित है जो दंत्य 'ल' में परिवर्तित नहीं होता। इन भाषाओं में 'ड' एवं 'ड़' भी प्रचलित हैं जिनका अन्योन्य वैकल्पिक आदेश भी होता है। यह ध्यान देने की बात है कि पूर्वी आ० भा० आ० भाषाओं में मूर्धन्य < <ड > >को दंत्य < <'र' > >करने की प्रवृत्ति है परन्तु 'र' का कभी भी 'ड़' में परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत पश्चिमी आ० भा० भाषाओं

में अर्धमूर्धन्य < < र > > का और अधिक मूर्धन्यीकरण करके 'ड़' बनाने की प्रवृत्ति है, पर 'ड' का 'र' पश्चिम में बहुत कम होता है। उदाहरण :—

(क) (सं०) √पत् > (अप०) √पड्-
> (पू० आ० भा० आ० भा०) < < √पड़ > > या < < √पर > >; (प० आ० भा० आ० भा०) < < √पड़ > > या < < √पड > > (परंतु < < √पर > > रूप कभी नहीं होगा)।

(ख) सं०) मार्जारिक: > (अप०) मज्जारेउ > (पू० आ० भा० आ० भा०) < < मँजारा > >, परंतु < < मंजाड़ा > > रूप कभी नहीं होगा। (प० आ० भा० आ० भा०) < < मंजारा > > या < < मंजाड़ा > > ।

मराठी, गुजराती, पंजाबी एवं अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में " 'ल' > 'ळ'।" पर हिंदी में यह ध्वनि नहीं है। अत: मूल दंत्य 'ल' के स्थान में हिंदी में < < ळ > > न होकर वर्त्स्य < < र > > हो जाता है। उदा०—

सं०	अप०	आ० भा० आ० भाषाएँ
√श्लाघ्	> सलाहा	> (हिं०) सराह, पर (सिंधी) सराहूअ (दंत्य 'र')
दुर्ललित:	> दुल्ललिउ	> (हिं०) दुलार् पर (बि०) दुलार (दंत्य र), (बंग०) दुलाल
शाल्मलि:	> सांवँली	> (हिं०) सेमर (म०) सांवूअरी

(४) द्राविड़ भाषाओं में < < ड़ > > और < < ढ़ > > ये ध्वनियाँ नहीं हैं।

आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों के परिवर्तन के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये ध्वनियाँ द्राविड़ भाषाओं में जितनी स्थायी रही हैं उतनी स्थायी आर्य भाषाओं में नहीं रही हैं। मध्यग 'ड' एवं 'ढ' को मुख-सुख के लिये 'ळ' 'ळह' करने की जो प्रवृत्ति वैदिक तथा प्राकृत काल में रही उसी से

मालूम होता है कि 'ड' एवं 'ढ' ये दोनों आर्य भाषाओं की अपनी ध्वनियाँ नहीं[१] थीं। मेरी समझ में 'ड' द्राविड़ भाषाओं से लिया गया और उसका महाप्राण उच्चारण आर्यों ने उसी समय कर दिया जिस समय भारतीय ईरानियों का संपर्क एवं संस्कार भारतीय आर्यों पर बना था। मध्यग 'ड' एवं 'ढ' का उच्चारण बदलने की यही प्रवृत्ति 'ड़' और 'ढ़' में भी पाई जाती है। परंतु द्राविड़ भाषाओं में यह बात नहीं है।

(५) द्राविड़ भाषाओं के संपर्क में आकर भारतीय आर्यों ने केवल 'ट' 'ड' 'ण' इन मूर्धन्य वर्णों का स्पष्ट उच्चारण सीख लिया। 'ठ' 'ढ' का उच्चारण 'ट' एवं 'ड' का महाप्राण मात्र है जो आर्यों ने स्वतः बना लिया। 'ण' एवं 'ळ' का परस्पर परिवर्तन द्राविड़ भाषाओं की प्रवृत्ति है जो म० भा० आ० भाषाओं की सभी बोलियों में प्रचलित हो चली[२]। गुजराती, मराठी आदि बहिरंग भाषाओं में (जिनका द्राविड़ भाषाओं से एवं आपस का संपर्क बना रहा) अब भी 'ळ' ध्वनि प्रचलित है। 'ळ' की ओर कर्कश 'ऴ' ध्वनि,

१—< <ड> > > < <'ळ'> > द्राविड़ भाषाओं में भी कहीं कहीं मिलता है। उदा०—

(त०) < <नाळु> > (ते०) नाडु (=दिन)

(त०) 'गोळ्' (ते०) < <गोडु> >

(राम कहानी)

< <ढ> > > 'ळ्ह' यह परिवर्तन द्राविड़ भाषाओं में नहीं है क्योंकि उनमें महाप्राण नहीं हैं।

< <ळ> > <ड यह परिवर्तन केवल द्राविड़ भाषाओं में उपलब्ध होता है, आर्य भाषाओं में नहीं।

जैसे—(त०) < <कळै> > (=काई) > (ते०) < <गडचु> >

२—उदा०—पाली में < <वेणुवने> > > < <वेळुवने> >।

एवं मूर्धन्य 'र' की कर्कश ध्वनि 'ऱ' द्राविड़ भाषाओं में ही देखने में आती हैं; भारत की किसी अन्य भाषा में नहीं।

(६) सुनीतिकुमार चैटर्जी आर्य भाषाओं में मूर्धन्य वर्णों की उत्पत्ति दो प्रकार से मानते हैं।

(क) फलित मूर्धन्यीकरण (Resultant Cerebralization) जिसमें दंत्य या (तालव्य) वर्णों के मूर्धन्यों से मिलते जुलते हुए उच्चारणों (ष, र) के सम्पर्क से दंत्य वर्णों का भी मूर्धन्यीकरण हुआ है। परंतु इस अभ्युपगम (hypothesis) के फलस्वरूप आजकल की राजस्थानी सिंधी एवं पंजाबी में जो मूर्धन्योच्चारण का आधिक्य है उसका कारण उनको नहीं मालूम हुआ है। मैं समझता हूँ कि मूर्धन्यीकरण की यह प्रवृत्ति किसी प्रदेश की न रही, किंतु जहाँ आर्य-द्राविड़ भाषाओं का संपर्क अधिक था वहीं यह प्रवृत्ति भी देखने में आई है। मोहन्जोदड़ो की खुदाई के सम्बन्ध में अब तक जो बातें ज्ञात हुई हैं उनसे मालूम होता है कि भारत के पश्चिम प्रदेश (पंजाब) में द्राविड़ों का काफ़ी प्राबल्य था। इसके विपरीत पूर्वी भाषाओं का दंत्योच्चारण का पक्षपात तो प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध[१] है। [दे० ''पूर्व्याः हेलयोहेलयः कुर्वन्ति'']

मागधी अपभ्रंश का निरर्थक 'इल्ल', 'अल्ल' प्रत्यय एवं आजकल की मैथिली एवं बंगाली की 'ल'कारांत क्रियाएँ इसी बात की द्योतक हैं कि पूर्वी देशों में चिरकाल से दंत्योच्चारण की ओर प्रवृत्ति रही है न कि मूर्धन्योच्चारण की ओर। पश्चिम के ही मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति के प्रभाव से हिंदी के वीरगाथा काल के साहित्य में मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता उपलब्ध होती है।

(ख) स्वतःप्रवृत्त मूर्धन्यीकरण का सिद्धान्त ही बड़ा विचित्र है। इसके पक्ष में सुनीतिकुमार चैटर्जी ने जो कुछ लिखा है वह सर्वमान्य नहीं हो सकता।

१—आजकल भी पूरब में 'ड़' को 'र' और 'र' को 'ल' करने की प्रवृत्ति है पर 'र' को 'ड़' करने की प्रवृत्ति नहीं जैसे गुजराती एवं मराठी में है।

द्रा० भाषा में 'द' का 'ड' बराबर होता है; जैसे (क०) < <दोळ्ळु > > > < <डोळ्ळु > > (बड़ा तोंद)। हो सकता है कि इस प्रवृत्ति ने भी 'दंश' के (हिं०) < <डस > > में परिवर्तन करने में कुछ काम किया हो।

इसी प्रकार (सं०) पतति > पटइ > पडइ > पड़इ > पड़े रूप भी हुआ।

इसी प्रकार के परिवर्तन के सम्बन्ध में चैटर्जी महोदय ने स्वतः-प्रवृत्त मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति मानी है।

उपर्युक्त चर्चा से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्रा० भा०आ० भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों से मिलती जुलती ध्वनियाँ मूर्धन्य-प्रधान द्राविड़-भाषाओं के सम्पर्क में आकर शुद्ध स्फुट मूर्धन्य हो गईं जिनका उच्चारण म० भा० आ० भाषा काल में अधिक हुआ। वर्तमान समय में पंजाबी, सिंधी, गुजराती, एवं राजस्थानी भाषाओं में यह प्रवृत्ति है। राजस्थानी के संपर्क से हिंदी में मूर्धन्योच्चारण बना रहा है और इस अंश तक हिंदी भी द्राविड़ भाषाओं की ऋणी अवश्य है।

———

(३) राष्ट्रभाषा की परम्परा

(संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश)

[लेखक—श्री चन्द्रबली पांडेय एम० ए०]

भारत की पतित दशा को देखकर किसी को इतना कहने का भी साहस नहीं होता कि भारत आज से नहीं, कल से नहीं, बल्कि न जाने कितने युगों से एकता के सूत्र में बँधा चला आ रहा है और फलतः आज भी प्रत्येक हिंदू प्रतिदिन और प्रतिघड़ी 'संकल्प' में 'जम्बूद्वीपे भरतखंडे' का उद्‌घोष करता तथा 'अभिषेक' में देश की समस्त पूत नदियों का नाम लेता है। इतना ही नहीं, अपितु अपने जीवन में कम से कम एक बार भारत-भ्रमण अथवा देश के संपूर्ण तीर्थों का अवगाहन तथा चारों धामों की यात्रा अपना परम धर्म समझता है। फिर भी प्रमाद अथवा व्यामोह-वश दावे के साथ यदि यह पटु घोषणा की जाती है कि इसलाम के पहले भारत में कभी राष्ट्रभावना का उदय अथवा एकता का संपादन न हुआ तो इसके लिये हमारे पास दवा ही क्या है ? किस प्रकार हम इस प्रकार के ज्ञानबंधुओं को सुझा सकते हैं कि भारत सदा से एकता में अनेकता का निर्वाह एवं अनेकता में एकता का विधान करता आ रहा है। 'एकोऽहम् बहु स्याम' की भावना और 'नेह नानास्ति किंचन' के निष्कर्ष में विदेशियों को विरोध दिखाई दे सकता है पर भारतीयों के लिये इसमें तनिक भी दोष लक्षित नहीं होता। यही उनका भजन तथा आत्मिक भोजन है।

समन्वय तथा सामंजस्य के आधार पर भारतवासियों ने भाषा के प्रश्न को भी निहायत आसानी से सुलझा लिया था। संस्कृत को 'प्रकृति' तथा अन्यों को 'विकृति' मान कर एक को अनेक कर दिया और फिर अनेक में से एक को प्रधानता दे उसे चलित राष्ट्रभाषा के रूप में

अपना लिया। इस तरह भाषा का प्रश्न स्वतः हल हो गया। विनाश किसी का नहीं, पर विकास सब का हुआ।

इसलाम के भारत में जम जाने तथा उसके बाद फिरंगियों के प्रबल हो जाने से 'भाषा' की प्रवृत्तियों में जो परिवर्त्तन हुए उनके निदर्शन तथा परितः परिशीलन के लिये उसकी परम्परा से भली भाँति परिचित हो जाना अनिवार्य है। अतएव यहाँ पर थोड़ा 'भाषा' की परंपरा पर विचार किया जायगा और यह स्पष्ट दिखा देने की कुछ चेष्टा की जायगी कि किस प्रकार उसी पद्धति पर चलने से आज भी भाषा का प्रश्न स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसके समाधान के लिये किसी आंदोलन की आवश्यकता नहीं पड़ती। राष्ट्रभाषा के उत्कर्ष में सभी देशभाषाओं की उन्नति स्वयं हो जाती है।

श्रुतियों को अलग रखिए। वाल्मीकीय[१] रामायण के अवलोकन से अवगत होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। वानरवर हनूमान सीता की खोज में समुद्र पार कर लंका पहुँच गए हैं। राक्षसियों से घिरी संतप्त सीता की सांत्वना के लिये सोच में पड़ गए हैं :—

निशाचरीणां प्रत्यक्षमक्षमं चाभिभाषितुम्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम्॥
अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

(सुंदरकांड ११,१७,१८)

१—वाल्मीकीय रामायण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रथम तथा सप्तम कांड प्रक्षिप्त माने जाते हैं। शेष की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं। यहाँ पर जो अवतरण प्रस्तुत किए गए हैं वे मूल पाठ से हैं जो कम से कम ईसा से ५ या ६ सौ वर्ष पहले के हैं।

भाषा के विचार से प्रस्तुत अवतरण बड़े महत्त्व का है। संस्कृत के प्रसंग में इसका प्रायः उल्लेख किया जाता है। इसमें मनुष्य, वानर तथा राक्षस की एक सामान्य भाषा का विधान है। सीता, हनूमान और रावण सभी जिस भाषा का परस्पर प्रयोग करते हैं उसका नाम संस्कृत है। इस संस्कृत वाणी के भी दो रूप हैं—द्विजी और मानुषी। वानरवर हनूमान द्विजी भाषा का प्रयोग इसी लिये नहीं करते कि कहीं सीता उन्हें मायावी रावण न समझ लें। निदान निश्चित कर लेते हैं कि मानुषी भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

उक्त मानुषी भाषा हनूमान की निजी भाषा न थी। संसर्ग या संपर्क में आ जाने के कारण उन्हें इसका बोध हो गया था। अध्ययन तथा अभ्यास के कारण उन्हें इसके द्विजाति रूप का भी पूरा पूरा पता था। उसके व्यवहार में भी वे निपुण हो गए थे। उनके द्विजाति-भाषण के विषय में राम की सम्मति है :—

नानृग्वेद[१] विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम् ॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥
अविस्तरमसंदिग्धमविलंबितमव्यथम्।
उरःस्थं कंठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥

१—वेदों के उल्लेख से प्रकट होता है कि वानरवर हनूमान को संस्कृत वाणी वैदिक भाषा की परंपरा में थी। आर्येतर जातियों में भी वेद का पठन-पाठन होता था। आधुनिक संशोधकों ने हनूमान को द्रविड़ देवता सिद्ध किया है और द्रविड़ों को ही वानर का पर्याय माना है।

वेदवाणी किस प्रकार संस्कृत बन गई इसका कुछ आभास प्रकृत अवतरण में मिल जाता है। भाषाविदों के लिये यह बड़े काम का है।

संस्कारक्रमसंपन्नामद्भुतामविलंबिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥
(कि० कांड २८-३२)

तात्पर्य यह कि विजातीय हनूमान का भाषण शिक्षा, संस्कार, बल, काकु, उच्चारण आदि भाषा के सभी अंगों से परिपुष्ट था। वाग्धारा उनकी वाणी से प्रवाह के रूप में फूट पड़ती थी। वह सहज, स्वच्छ, निर्मल तथा प्रसन्न थी। प्रयत्न अथवा बनावट की उसमें गंध भी न थी। संक्षेप में वह द्विजाति या शिष्ट भाषा थी। वह शिष्ट भाषा थी जिसका व्यवहार शिष्टाचार तथा बातचीत में भी होता था। पोथियों के अतिरिक्त वार्तालाप में भी उसका प्रचार था।

वाल्मीकि की द्विजी या शिष्ट भाषा ने और भी शिष्ट रूप धारण कर लिया। पाणिनि (ईसा के ४ या ५ सौ वर्ष पहले) के प्रयत्न से वह सचमुच संस्कृत हो गई। उनके संस्कार से संस्कृत 'संस्कृता वाक्' की जगह केवल 'संस्कृत' रह गई और विशेषण के बदले संज्ञा के रूप में चल पड़ी। 'मानुषी संस्कृता वाक्' की भी कुछ यही दशा हुई। उसको 'प्राकृत' की संज्ञा मिली। पाणिनि[१]-शिक्षा में कहा गया है :—

"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ॥"

पाणिनि के संबंध में प्रवाद है कि उन्होंने संस्कृत की तरह प्राकृत का भी व्याकरण लिखा। केदारभट्ट का स्पष्ट निर्देश है:—

"पाणिनिर्भगवान् प्राकृतलक्षणमपि व्यक्ति संस्कृतादन्यत्।"
(हिन्दी विश्वकोष, भाग १४, पृ० ६७५)

'प्राकृतलक्षण' नामक एक प्राकृत व्याकरण मिला है जिसके प्रणेता चंड नामक एक सज्जन हैं। चंड के[२] व्याकरण को हम पाणिनि-

१—Wilson Philological Lectures on Marathi, H. N. Apte, Poona 1922 पृ० ५ पर अवतरित।

२—चंडप्रणीत व्याकरण को हार्नली ने वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' से पुराना माना है, पर कोई ठीक समय निश्चित नहीं किया है। उनका कहना है :—

प्रणीत नहीं कह सकते। पर सहसा यह भी निश्चित नहीं कर सकते कि पाणिनि ने प्राकृत का व्याकरण लिखा ही नहीं। संभव है कि उन्होंने अपने समय की शिष्ट तथा चलित दोनों ही भाषाओं का व्याकरण लिखा हो और उन्हें बाहरी प्रभाव से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने जीती जागती भाषा का व्याकरण लिखा है, कुछ मरी या पिंगल की भाषा का नहीं।

पाणिनि ने 'भाषा' को इस ढंग से ढाल दिया कि वह बराबर उसी ढर्रे पर चलती रही, कभी स्थिर या निर्जीव न हुई। पाली तथा प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने पर भी वह निष्प्राण न हुई बल्कि उनसे शक्ति ग्रहण करती रही और फिर उनकी जगह जन-सामान्य में चल निकली। इसलाम के भारत में जम जाने के पहले वही सम्पूर्ण भारत की शिष्ट राष्ट्र भाषा थी। उसके भी दो रूप थे। काव्यगत रूप को लेकर संस्कृत को भले ही गढ़ंत भाषा कह लें, पर उसके कथा-पुराण-रूप को देखकर आपको मानना पड़ेगा कि वह चलित और व्यवहार की भाषा है। जनता उसके भाव को समझती है और उसके कथा-प्रसंगों को बड़े चाव से सुनती है।

बालमीकि की मानुषी भाषा ब्राह्मी या ब्रह्मर्षि देश की लपित भाषा थी। धीरे धीरे उसका प्रसार अन्यत्र भी हो गया था। उसका शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एकरूप हो गया था पर प्राकृत रूप में सतत परिवर्तन होता रहता था। इसी परिवर्तन के प्रताप से एक ही भाषा के अनेक देशगत रूप हो गए थे। वैयाकरणों ने सुभीते के लिये उन्हें 'प्राकृत' की उपाधि दी और व्याकरण लिखते समय इस बात का ध्यान रखा कि संस्कृतज्ञ उनको आसानी से समझ लें और समय पड़ने पर संस्कृत को प्राकृत के रूप में रख दें।

"It would be, however, going too far, I think, to ascribe that grammar to the third century B. C. Probably it was composed at a somewhat later time. (Calcutta A. S. 1880 Part I Introduction P. XXI)

प्राकृतों के महत्त्व का प्रधान कारण यह हुआ कि आत्यों में दो ऐसे पंथ निकल आए जो परंपरा के पालन करने अथवा ब्राह्मणभक्त बनने में उतना प्रसन्न न थे जितना अपना मार्ग निकालने या मनुष्य मात्र के निर्वाण पाने में मग्न। निदान उन्होंने 'द्विजी' को त्याग 'मानुषी' को अपना लिया और मनुष्य-वाणी में 'सद्धर्म' का प्रचार उचित समझा।

जैनों ने महावीर स्वामी के आदेश पर अर्द्धमागधी तथा बौद्धों ने गौतम के आग्रह से मागधी का पक्ष लिया। जैन संप्रदाय को भी कभी व्यापक रूप न मिला। वह बहुत कुछ भारत के कोनों में पड़ा रहा और समय समय पर अपना रूप इधर उधर दिखाता रहा। संकीर्णता के कारण वह अधिक तत्पर तथा सुरक्षित रहा। संस्कृत के बहिष्कार में पहले तो उसे अच्छी सफलता मिली, पर बाद में उसे भी संस्कृत को अपनाना पड़ा। संस्कृत उसकी भी धर्मभाषा हो गई। पण्डितों में 'जैन-संस्कृत' का नाम चालू हो गया।

अशोकादि शासकों के प्रयास से बौद्धमत भारत का मुख्य मत हो गया। विदेशों में भी गौतम के सद्धर्म का प्रसार हुआ। आरंभ में 'मागधी' का व्यवहार रहा, पर संप्रदाय की माँग उससे पूरी न हो सकी। मागधी थी भी 'मानवी भाषा'। स्वयं गौतम की प्राकृत वाणी उससे भिन्न थी। मगध में बौद्धमत के विकास के कारण संभवतः मागधी को 'पाली' कह दिया गया। नहीं तो वस्तुतः वह पाली से सर्वथा भिन्न थी। वह मगध की लपित भाषा थी। बौद्ध ग्रंथ में उसे तो मानव भाषा कहा गया है और पाली को देवगण[१] तथा बुद्धगण की भाषा।

देववाणी के विषय में भूलना न होगा कि वस्तुतः वह ब्रह्मावर्त[२] देश की वाणी है। इसी से उसे ब्राह्मी[३] भी कहा जाता है। वाणी

१—हिन्दी विश्वकोष।

२—"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते"॥ (मनु० २।१७)

३—महाभारत में 'ब्राह्मी' का व्यवहार बराबर पाया जाता है।

के जो 'सरस्वती', और 'भारती' पर्याय चल पड़े हैं उनसे भी सिद्ध होता है कि भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती और देववाणी इसी लिये पड़ा कि वह भरत की सन्तानों यानी भारतों की भाषा तथा सरस्वती और दृषद्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी। 'बुद्धगण' की वाणी को भी देववाणी इसी लिये कहा गया होगा कि वस्तुतः वह इसी देववाणी की विकृति थी।

अस्तु, निवेदन यह करना था कि जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ी तब स्वभावतः उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी और जिसका प्रचार आधुनिक भारत से कुछ बाहर भी था। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिये संभव न था कि वह द्विजों की वाणी थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिये असंभव था कि वह प्रांतीय तथा सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को लिया जाय और उसी में 'बुद्धवचन' का संग्रह कर दिया जाय।

ब्रह्मर्षिदेश[1] की चलित वाणी में बुद्धवचन का संपादन तो हो गया किंतु मगध के प्रभुत्व एवं मागधी के संसर्ग के कारण उसमें कुछ नवीन रूप भी आ गए। बौद्धों में उक्त पंक्तियों का इतना सम्मान बढ़ा कि बात-बात में उनकी दुहाई दी जाने लगी। नतीजा यह निकला कि घिसघिसा कर 'पंक्ति' 'पालि' या 'पाली' हो गई। आज भी पंडित-मंडली में 'पंक्ति' का अनुष्ठान कम नहीं होता। जिससे 'पंक्ति' अच्छी तरह लग जाय बस वही अच्छा पंडित है।

१—ब्रह्मर्षिदेश की जगह प्रायः मध्यदेश का प्रयोग किया जाता है, पर वह ठीक नहीं है। मध्यदेश की सीमा बराबर घटती बढ़ती रही है। पूर्व में कभी प्रयाग और कभी वाराणसी तक मध्यदेश कहा गया है। लेकिन ब्रह्मर्षिदेश की सीमा सदा स्थिर और शुद्ध पश्चिमी हिंदी के भीतर रही है। मनुस्मृति में लिखा है—

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः" ॥ (२।१९)

पाली के विवेचन से प्रत्यक्ष होता है कि वास्तव में पाली पंक्ति या लिखित भाषा थी। हम उसे कहीं की शुद्ध लपित भाषा नहीं कह सकते। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि वह ब्रह्मर्षि देश की चलित भाषा के आधार पर बनी थी और सांप्रदायिक आग्रह के कारण कुछ मागधीपन के साथ थी। बौद्धकाल की वही राजभाषा भी थी और चलित राष्ट्रभाषा भी।

पाली के प्रभुत्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि द्विजी भाषा से लोग कुछ विरक्त से हो चले और प्राकृतों को विशेष महत्त्व देने लगे। पाणिनि के परिश्रम को सफल करने के लिये द्विजों ने उसे और भी द्विजी कर दिया। संस्कृत तथा प्राकृत का भेद बढ़ता रहा। उसको मिटाने की कभी व्यर्थ चिंता न हुई। प्राकृतों का लेखा लिया गया और संस्कृत के आधार पर उनका व्याकरण भी रचा गया।

उधर बौद्धों ने देखा कि शाक्यमुनि ने द्विजी भाषा का निषेध किया था जनता के कल्याण अथवा लोक-मंगल के लिये, कुछ द्विज-द्वेष के लिये नहीं। द्विजों को परास्त करने के लिये, तर्क द्वारा उन्हें सुझाकर अपने संघ में लाने के लिये तथा शास्त्रार्थ एवं शास्त्रचिंतन के लिये तो अवश्य ही द्विजी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उसके अतिरिक्त किसी अन्य मानुषी भाषा में इतनी क्षमता कहाँ कि सूक्ष्माति-सूक्ष्म बातों का निदर्शन करे और बाल की खाल निकालकर तथ्य को सबके सामने साफ़ रख दे। निदान उन्हें भी संस्कृत का स्वागत करना पड़ा। उनके योग से संस्कृत पनप उठी और 'गाथा' के रूप में एक अलग शाखा निकल आई। हीनयानियों ने पाली का पिंड पकड़ना अपना धर्म समझा पर महायानियों ने अपनी महत्ता के कारण उसकी उपेक्षा की और लोकमंगल के लिये संस्कृत को उभार दिया। संस्कृत अपनी उदारता एवं संपन्नता के कारण सार्वभौम राष्ट्रभाषा बन गई। जैनों ने भी उसे अपना कर उसके राष्ट्रपद की प्रतिष्ठा की।

संस्कृत को पूरा पूरा पता था कि सरल और बोधगम्य होने पर भी वह जनता की सहज या जन्मभाषा नहीं है। शिष्टों के समाज में

प्रतिष्ठित होने के कारण उसकी मर्यादा स्थिर हो गई थी। वह जनता के बीच स्वच्छंद विचर नहीं सकती थी। उस पर शब्दानुशासकों की कड़ी और अत्यंत पैनी दृष्टि थी। अतएव उसका कर्तव्य हुआ कि लोकवाणी का आदर करे, प्राकृत-भाषा को महत्त्व दे। उसकी उन्नति में अपनी उन्नति समझे।

देशकाल के प्रभाव से प्राकृत भाषा के अनेक भेद हो गए थे। लक्ष्मीधर (१६वीं शती ई०) ने इसका संकेत इस प्रकार कर दिया है :-

"त्रिविधा प्राकृती भाषा भवेद्देश्या च तत्समा।
तद्भवा च भवेद्देश्या तत्र लक्षणमंतरा॥
तत्समा संस्कृतसमा नेया संस्कृतवर्त्मना।
तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा॥
द्विविधायाश्च सिद्ध्यर्थं प्राकृतं लक्षणं मतम्।

(षड्भाषाचंद्रिका १।४७,४८)

तत्समा प्राकृतभाषा के विवेचन से व्यक्त होगा कि वैयाकरणों ने व्यर्थ ही संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति नहीं कहा है, प्रत्युत बहुत कुछ सोच-समझकर यह सूत्र निकाला है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति वास्तव में संस्कृत ही है—वही संस्कृत जिसको वानरवर हनूमान ने 'मानुषी संस्कृत' कहा है, कुछ द्विजाति-संस्कृत नहीं।

संस्कृत वाणी में कुछ ऐसे रूप थे जो द्विजों और मनुष्यों में समान रूप से प्रचलित थे। आचार्यों ने भाषा के उन्हीं रूपों की एकता के कारण तत्समा प्राकृत का उल्लेख किया और स्पष्ट कह दिया कि उसके अलग व्याकरण की आवश्यकता नहीं, वह सदैव संस्कृत के साथ है। रही तद्भवा की बात। उसके विवेचन में विचार करना होगा कि तत्समा में किन विकारों के आ जाने से कौन सी तद्भवा बन जाती है और वह किस देश में बोली जाती है, किसी तद्भवा के अभ्यास के लिये किन रूपों में परिवर्तन कर दिया जाता है और प्रसंग आने पर किस नियम से संस्कृत को प्राकृत बना दिया जाता है—संक्षेप में, संस्कृत किस

प्रकार प्राकृत बन जाती है। देश्या के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि वैयाकरणों ने अनार्यों की मूल देश्या या ठेठ देशी भाषा का विचार नहीं किया है बल्कि आर्यों की तद्भवा के देशगत रूप को देशभाषा का नाम दिया है और उसे उक्त प्रांत की भाषा कहा है। वैयाकरणों की मागधी का अर्थ मगध देश की मूलभाषा नहीं बल्कि मगध में प्रचलित तद्भवा भाषा है, अर्थात् वह आर्य भाषा है जो आर्यों के साथ मगध में फैल गई और देशकाल के प्रभाव से कुछ से कुछ और ही हो गई। उसके रूप में बहुत से विकार उत्पन्न हो गए।

प्रकृत विवेचन के आधार पर अब हम आसानी से समझ सकते हैं कि "प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" का रहस्य क्या है। 'प्राकृतम्' का अर्थ है प्राकृत मात्र की भाषा नहीं प्रत्युत आर्यों के प्राकृत जनों की वाणी, प्राकृत आर्यों की वह भाषा जो देशकाल के प्रभाव से विकृत हो गई थी और स्थानीय अनार्यों के संपर्क में आ जाने से कुछ रूप, काकु तथा उच्चारण में भी बदल गई थी।

संस्कृत के प्रसंग में हम पहले ही देख चुके हैं कि उसके मानुषी तथा द्विजी दो रूप थे। द्विजी संस्कृत वाणी ने आगे चलकर शिष्ट संस्कृत का रूप धारण कर लिया और मानुषी संस्कृत ने मूल निवासियों से मिलकर 'प्राकृत' की पदवी प्राप्त कर ली। प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने से प्राकृत भाषाओं को महत्त्व मिला और काव्य-भाषा में उनकी भी गणना हुई। प्राकृत काव्यभाषा तो हो गई पर प्राकृत कवि न हो सके। उनकी भाषा पंडितों के हाथ में पड़ी और संस्कृत प्राकृत के रूप में पोथियों में दीख पड़ने लगी। आज हमारे सामने यही व्यवस्थित प्राकृत है। हम इसे प्राकृतों की मूलवाणी नहीं कह सकते। यह तो प्राकृतों की शिष्ट प्राकृत है। अवश्य ही इसकी प्रकृति संस्कृत है—अधिकांश शिष्ट संस्कृत। अतएव वैयाकरणों का यह दावा कि संस्कृत प्रकृति तथा प्राकृत विकृति है सर्वथा साधु है। उनको फटकारने के पहले एक बार अपने दावे को भी अच्छी तरह परख लेना चाहिए। उनको परास्त करने के लिये संस्कृत तथा प्राकृत का धात्वर्थ पर्याप्त

नहीं है। वानरवर हनूमान ने 'मानुषी वाक्' को भी 'संस्कृता' कहा है, 'प्राकृता' नहीं। इससे सिद्ध होता है कि उस समय मानुषी वाक् को भी संस्कृत ही कहते थे, प्राकृत नहीं।

वैयाकरणों ने तो संस्कृत तथा प्राकृत के पारस्परिक संबंध को भली भाँति निभा दिया, किन्तु सांप्रदायिकों को उससे संतोष न हुआ। बौद्धों ने मागधी तथा जैनों ने अर्द्धमागधी को मूलभाषा अथवा प्रकृति कहा। प्राकृत तथा संस्कृत के धात्वर्थ में जो प्रकृति एवं संस्कृति का विधान है उससे उन्हें सहायता मिली और संस्कृत का पक्ष निर्बल हो गया। बहुतों ने प्राकृत को प्रकृति मान लिया और संस्कृत को निपट बनावटी या गढ़ंत भाषा कह दिया। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, उनके इस विचार में कुछ सार नहीं है। स्वतः संस्कृत ब्राह्मी या देववाणी है। इसी देववाणी का मानुषी रूप प्राकृत है जिसके न जाने कितने देशगत रूप हो गए हैं। अतः हम नमिसाधु (१०६९ ई०) के इस निष्कर्ष से कभी सहमत नहीं हो सकते कि

"शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि।"

(श्री रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, अ० २, पद्य १२ की टीका)

विचार करने की बात है कि आचार्य हेमचंद्र (१०८८ से ११७२ ई०) ने नमिसाधु की देखा-देखी अपने काव्यानुशासन के मंगलाचरण में तो 'जैनी वाणी' को 'सर्व्वभाषा परिणता' कह दिया है पर अपने 'हैमव्याकरण' में स्पष्ट संस्कृत को प्रकृति तथा प्राकृत को विकृति माना है। उनकी उक्ति है:—

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।"

अस्तु, यह निर्विवाद है कि संस्कृत तथा प्राकृत का विकास एक ही मूलभाषा अर्थात् ब्राह्मी से हुआ है। यदि प्राकृत तथा संस्कृत की प्रकृति और संस्कृति को सामने रख कर प्राकृत प्रश्न पर विचार करें तो भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं हो सकता कि 'अद्धमागहा' या कोई अन्य प्राकृत भाषा ही उक्त प्रकृति है। सच बात तो यह है कि जैनों के ऋषभदेव की वाणी 'अद्धमागहा' न थी। वह महावीर स्वामी की

'अर्द्धमागहा' से भिन्न 'ब्राह्मी' या ब्रह्मावर्त देश की वाणी थी। उसी का प्रचार ऋषभदेव ने भी किया था। वही 'जैनी वाणी' की भी प्रकृति थी।

सांप्रदायिकों ने जहाँ मागधी और अर्द्धमागधी पर जोर दिया वहाँ वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सराहा। कुछ की तो धारणा ही यह हो गई कि महाराष्ट्री ही वास्तव में मूल प्राकृत है। श्रीराम शर्मा ने स्पष्ट कह दिया कि महाराष्ट्री ही 'हेतुभूत भाषा' है :—

"सर्वासु भाषास्विह हेतुभूतां भाषां महाराष्ट्रभवां पुरस्तात्।
निरूपयिष्यामि यथोपदेशं श्रीरामशर्माहमिमां प्रयत्नात्॥"

(हि० वि० को०, भा० १४ पृ० ६७५)

महाराष्ट्री के 'महा' शब्द के ज़ोर पर कुछ लोगों ने महाराष्ट्री को व्यापक राष्ट्रभाषा मान लिया है और अपनी प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिये वैयाकरणों का प्रमाण दिया है। किंतु परितः परिशीलन से पता चलता है कि व्याकरण में महाराष्ट्री की प्रधानता का कारण कुछ और ही है। 'प्राकृत-प्रकाश' में जिन प्राकृतों का विवेचन किया गया है उनमें महाराष्ट्री मुख्य है। वररुचि ने महाराष्ट्री का निरूपण कर शेष प्राकृतों का परिचय उसी के आधार पर दे दिया है। किंतु महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को मान लिया है। सचमुच संस्कृत ही प्राकृत की परंपरागत प्रकृति है। उसी के मानुषी रूप से प्राकृतों का विकास हुआ है।

आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस उलझन को सुलझा दिया है। उनका कथन है :—

"महाराष्ट्रोद्भवां भाषां प्रकृष्टप्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयः॥"

(प्र० परिच्छेद; पद्य ३४)

आचार्य ने व्यक्त कर दिया है कि महाराष्ट्री की प्रकृष्टता का कारण उसका काव्य है। जिस प्राकृत में सेतुबंध जैसे सूक्ति-सागर मौजूद हों उसे उत्कृष्ट क्यों न कहा जाय।

काव्य में महाराष्ट्री के प्रकर्ष का कारण था उसका साहित्य और उसके साहित्य के उत्कर्ष के विधाता थे 'हालसातवाहनादिनामा शकप्रवर्तक: शालिवाहन:। येन च गाथासप्तशती संकलिता।'

(साहित्यदर्पण, निर्णयसागर १९२२ ई०, भूमिका पृ० ५८)

शालिवाहन प्राकृत के परम प्रेमी थे। उनके शासन में सभी प्राकृतभाषी हो गए थे। प्राकृत की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि स्वत: शालिवाहन संस्कृत में कच्चे रह गए। कहा जाता है कि एक दिन जल-क्रीड़ा के समय किसी रमणी ने जल के छींटों से तङ्ग आकर उनसे प्रार्थना की थी कि 'मोदकं देहि।' प्राकृत-प्रेमी शालिवाहन को 'मा + उदकं' का भान न हो सका और उन्होंने चट उसके सामने लड्डू पेश कर दिया। रमणियाँ हँस पड़ीं। शालिवाहन कटकर रह गए। संस्कृत सीखने की ठान ली।

शालिवाहन की सभा में गुणाढ्य नामक एक पंडित थे। संस्कृत-शिक्षा के लिये राजा का उन पर ध्यान गया। इसके लिये उन्हें ६ वर्ष की आवश्यकता पड़ी। सौभाग्य से वहीं शर्ववर्मा भी मौजूद थे। उन्होंने ६ महीने में संस्कृत सिखा देने का दावा किया और इसके लिये एक का-तंत्र नामक व्याकरण भी रच डाला। राजा को प्रसन्न करने के लिये गुणाढ्य ने जो यत्न किया वह पैशाची प्राकृत में 'वड्डुकहा' का सृजन था।

प्रकृत प्रवाद में पते की बात यह है कि गुणाढ्य ने महाराष्ट्री में रचना करना पसंद नहीं किया। बल्कि उससे भिन्न एक दूसरी प्राकृत अर्थात् पैशाची में एक 'बृहत्कथा' रची। कारण प्रत्यक्ष है। पैशाची शालिवाहन की अपनी भाषा थी। शकादिकों के साथ उसका भी प्रवेश दक्षिण में हो गया था। शालिवाहन की औरस ममता उसी के साथ थी। निदान गुणाढ्य ने प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिये पैशाची की शरण ली और उसकी कृपा से सफल-मनोरथ भी हो गए।

पैशाची के इस प्रकर्ष को देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि कभी वही भारत की मानुषी राष्ट्रभाषा थी। पैशाची को हम कुछ समय के लिये व्यापक राजभाषा के रूप में पाते अवश्य हैं, पर उसे कभी व्यवस्थित राष्ट्रभाषा कह नहीं सकते। शकादि शासकों के साथ मध्य तथा दक्षिण भारत में भी उसका प्रवेश हो गया और फलतः कहीं कहीं की वही प्रधान राजभाषा भी हो गई। परंतु आगे चलकर विदेशियों की भाँति वह भी सर्वथा स्वदेशी बन गई और वहाँ की भाषा में मिल जुल कर वहीं की हो रही।

पैशाची के परीक्षकों ने उसके देश के अन्वेषण में कुछ गड़बड़ी कर दी है। उन्होंने इस बात की तनिक भी चिंता नहीं की कि पैशाची देशभाषा के अतिरिक्त राजभाषा भी है। पैशाची के विषय में प्राचीनों का मत है कि वह विंध्य या विंध्य की पड़ोसिन भाषा है। राजशेखर (९वीं शती) ने काव्यमीमांसा में एक प्राचीन पद्य को उद्धृत किया है। इसमें स्पष्ट लिखा है—

"आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते" (अ० १०, प० ५१)।

इसके सिवा 'कवि-समाज' में—

'दक्षिणतः भूतभाषाकवयः'

का विधान किया है। भूतभाषा से उनका तात्पर्य पैशाची है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः।" (वही पृ० २९)। अतएव राजशेखर के प्रमाण पर दक्षिण भूतभाषा का प्रांत ठहरता है और विंध्य-प्रदेश से उसका परंपरागत संबंध सिद्ध हो जाता है। किंतु इस प्रतिज्ञा में अड़चन यह आ जाती है कि दक्षिण महाराष्ट्री का क्षेत्र है। वहाँ की भाषा का पुराना तथा प्रचलित नाम पैशाची या भूतभाषा नहीं, प्रत्युत दाक्षिणात्या प्राकृत है। लक्ष्मीधर ने साफ़ साफ़ कह दिया है—

"तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः" (षड्भाषाचंद्रिका १।२७)।

शालिवाहन के प्रसंग में हमने देख लिया है कि उसके शासन में प्राकृत का बोलबाला था। उसके प्रभुत्व से सभी प्राकृतभाषी[1] बन गए थे। स्वयं उसने 'गाहा सत्तसई' की रचना की थी और 'कवि-वत्सल'[2] की उपाधि से विभूषित हुआ था। किंतु उसके प्राकृत-प्रेम के प्रसाद से पैशाची भी लिपिबद्ध हो गई थी और उसमें एक 'वड्डुकहा' भी बन गई थी। प्राकृत तथा पैशाची के इस संबंध को स्पष्ट करना अनिवार्य है। इसके बिना प्रकृत गुत्थी सुलझ नहीं सकती।

पैशाची पिशाचों की भाषा है। वृद्धों के कथनानुसार पिशाच-देश हैं:—

"पाण्ड्यकेकयबाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुधेष्णभोजगान्धारहैवकन्नोजनास्तथा॥" (षड्भाषाचंद्रिका १।२९)

वृद्धों ने किस दृष्टि को सामने रखकर उक्त जनपदों को पिशाच-देश कहा है, इस पर वाद-विवाद करने की ज़रूरत नहीं। कोई भी मनीषी उनको किसी निश्चित सीमा के भीतर घेर नहीं सकता। हम उन्हें प्रत्यक्ष ही छिट-फुट रूप में पाते हैं। अतएव हमारी धारणा है कि प्रस्तुत प्रसंग में पिशाच देश का अर्थ है पिशाचों का देश अर्थात् वे देश जिनमें पिशाचों की प्रधानता हो।

१—भोजराज ने ठीक ही कहा है—

"केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥" (सर० २।१५)

२—"सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीय मज्झआरम्मि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणां गाहाणम्।" (गाथा-सप्तशती)

पिशाच शब्द की निरुक्ति के विषय में सहसा कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। पैशाची के परम संशोधक सर जार्ज[१] ग्रियर्सन भी उसके निरूपण में असमर्थ रहे हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिशाचों की गणना शिवानुचरों में की गई है और उनकी स्वभूमि-भाषा संस्कृत कही गई है। हमारी धारणा है कि शकादि जातियों के पिशाच-रूप को देखकर उन्हीं को पिशाच की संज्ञा मिली और शैव होने के नाते उन्हें शिवानुचर भी कह दिया गया। राष्ट्र का शासन-सूत्र जब उनके हाथ में आ गया तब उन्हें भी शिष्टता के अनुरोध से संस्कृतभाषी बनना पड़ा। पुराविदों को पूरा पूरा पता है कि 'क्षत्रप', जो वास्तव में शक या पिशाच थे, संस्कृत का[२] व्यवहार करते थे। उनकी स्वभूमि में संस्कृत की प्रतिष्ठा थी। परंतु उनमें से जा दूर बस गए थे उनकी भाषा वही पैशाची रह गई थी अथवा वे देशगत प्राकृतों का व्यवहार करते थे। शालिवाहन इसी ढंग के शासक थे। उन्हीं के शासन के कारण 'कुंतल' पिशाचदेश कहा गया है।

कुंतल के शालिवाहन को संस्कृत-प्रेमी बनाने के लिये जो 'मोदकं देहि' का अस्त्र निकाला गया वह निष्फल न गया। शर्ववर्मा ने कातंत्र नामक सरल संस्कृत व्याकरण का सृजन किया और शालिवाहन संस्कृत में पारंगत हो गए। धारानगरी के भोजराज (१०१८-१०५६ ई०) को भी संस्कृत-भाषण का शौक था। एक दिन आपने एक दरिद्र ब्राह्मण को कंधे पर लकड़ी ढोते देखकर प्रश्न किया :—

१—Linguistic Survey of India Vol. I Part I Introductory P. 108.

२—महाक्षत्रप रुद्रदामन के उत्कीर्ण लेख (१५०-३ ई०) की मीमांसा में कीथ महोदय कहते हैं:—"But what is far more important is that the author thinks it fit to ascribe to the king the writing of poems in both prose and verse. Flattery or not, it was obviously not absurd to ascribe to a Kṣatrap of foreign ektraction: sxill in Sanskrit poetry."(History of S. Literature Oxford. 1938 P.49)

"भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।"

उसने निवेदन किया :—

"तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते।"

(सरस्वतीकंठाभरण, प्र० प०; ६।१)

तात्पर्य यह कि ब्राह्मण 'बाधति' के अशिष्ट प्रयोग से व्यथित हो गया और भोजराज को ऐसा सटीक उत्तर दिया कि वे संस्कृत के परम आश्रय बन गए।

प्रकृत प्रवादों के आधार पर हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि शकादि जातियों के भारत में बस जाने तथा शुद्ध भारतीय हो जाने का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत ने नवजीवन धारण कर लिया और पैशाची देश में दूर दूर तक फैल गई। वह देशभाषा, जातिभाषा और किसी किसी जनपद की राजभाषा भी बन गई। कुंतल और भोज प्रभृति जनपदों में उसका प्रसार शकादिकों के साथ हुआ। उन्हीं के कारण वह पांड्य में भी पहुँच गई।

पैशाची के परीक्षण में सबसे विलक्षण बात यह दिखाई देती है कि वैयाकरणों तथा काव्याचार्यों ने उसकी बराबर चिंता की है, किंतु नाटकों में उसे स्थान नहीं मिला है। नाट्यशास्त्र में भाषाओं का उल्लेख इस प्रकार है:—

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।

वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥" (अ० १३ प० ४८)

'भाषा' के अतिरिक्त 'विभाषा' की भी नाट्यशास्त्र में चर्चा है, पर उसमें कहीं पैशाची का विधान नहीं है। साहित्यदर्पण में (६।१६४) पैशाची का विधान कर दिया गया है पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता। उसमें पैशाची की व्याख्या मात्र है। 'पैशाची स्यात्पिशाचवाक्' से संशोध का कोई प्रश्न सुलझ नहीं सकता। निदान कहना पड़ता है कि पैशाची के विवेचन में नाटकों से कोई सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, नाट्यशास्त्र से कुछ पता चल सकता है।

नाट्यशास्त्र में 'वाह्लीका' का विधान उदीच्यों के लिये किया गया है और खसों के लिये 'स्वदेशजा' का। भरत मुनि का स्पष्ट निर्देश है:—

"वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा।" (नाट्यशास्त्र,५३)

'स्वदेशजा' की प्रेरणा तथा उदीच्यों के इतिहास से अवगत होता है कि 'वाह्लीका' वस्तुत: उदीच्यों की देशभाषा न थी, बल्कि उन पर ऊपर से लाद दी गई थी। शालातुरीय पाणिनि की 'भाषा' का स्थान वाह्लीका को क्यों मिला। कुछ इसका भी विचार होना चाहिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी 'भाषा' की शिष्टता को सुरक्षित रखने के लिये बनी थी, कुछ भाषा को मार[१] डालने के लिये नहीं। पाणिनि के कुछ पहले ही या उन्हीं के समय* में उदीच्यों पर पारसीकों का विदेशी शासन जम गया था। उनके प्रभुत्व में 'भाषा' भ्रष्ट हो रही थी। पाणिनि की प्रतिभा ने सूत्रों के आधार पर उसे उबार लिया और 'भाषा' को सदा के लिये सचमुच 'संस्कृत' कर दिया।

'शिष्ट भाषा' तो व्यवस्थित हो गई पर चलित भाषा उनके अनुशासन से निकल भागी। वह शासकों के प्रभाव में आ गई। उसका वर्ण कुछ विदेशी भी हो गया। विदेशियों ने संस्कृतभूमि उदीच्य को अपनी गढ़ी बना ली और बराबर उसी में जमते रहे। उनका जमाव इतना सघन हो गया कि भरत मुनि को अपने नाट्यशास्त्र में उनकी भाषा का विधान करना पड़ा। उदीच्यों की भाषा वाह्लीका बन गई।

१—संस्कृत के मीमांसकों में अब 'डेड लैंग्युएज' कहने का फैशन उठ गया। संस्कृत के अद्वितीय पंडित डाक्टर कीथ कहते हैं—"It is a characteristic feature of Sanskrit, intimately connected with its true vitality, that unlike Medieval Latin, it undergoes important changes in the course of its prolonged literary existence, which even today is far from ended." [H. S. L. Oxford, P. 17]

* पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। यहाँ उनका समय ईसा के ४ या ५ सौ वर्ष पहले माना गया है।

वाह्लोका वाह्लीकों की देशभाषा थी। उदीच्यों की देशभाषा वह हो नहीं सकती थी। उदीच्यों और वाह्लीकों के घुल मिल जाने से उनकी भाषा भी शुद्ध न रहकर संकर हो गई। आगे चलकर जब शकादिकों के शासन ने उदीच्यों से आगे बढ़कर प्रतीच्यों और मध्यों को भी दबा लिया और उनके बीच उन्हें पिशाच के रूप में ख्यात कर दिया तब उनकी मिली-जुली संकर भाषा का नाम पैशाची चल निकला। पैशाची उदीच्यों की देशभाषा ठहरी। अन्यत्र उसे राजभाषा की प्रतिष्ठा मिली। देश में दूर दूर तक उसकी तूती बोलने लगी। उसमें भी काव्य-रचना होने लगी।

शकादिकों की आँखें खुली हुई थीं। उन पर किसी आसमानी चश्मे का परदा न था। किसी भी साधु संस्कृति को अपना लेना उनका धर्म था। निदान उक्त जातियों ने संस्कृत तथा भारतीय संस्कृति को ग्रहण कर अपने हिंदुत्व का परिचय दिया और शासक के रूप में भारत के भाग्यविधाता बने रहे। उनके ब्राह्मण्य बन जाने तथा संस्कृत या चलित प्राकृतों को अपना लेने से पैशाची का प्रभुत्व जाता रहा। वह कहीं की राजभाषा न होकर केवल उदीच्यों की देशभाषा रह गई। नाटकों में उसे स्थान तक न मिला। मिलता भी कैसे! राजवर्ग की भाषा संस्कृत नियत थी और उदीच्यों को रण-क्षेत्र के रंगमंच पर अपना सच्चा अभिनय दिखाना था। दिखावे के रूपक से उन्हें कब शांति मिल सकती थी। उनके भाग्य में तो दूसरा ही दृश्य बदा था।

एक 'बृहत्कथा' ने पैशाची को इतना महत्त्व दे दिया कि काव्य-भाषा अथवा वाङ्मय में उसकी चर्चा नित्य होती रही। भाषाचतुष्टय एवं षड्भाषाओं में उसे भी स्थान मिला। लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड्भाषा-चंद्रिका' में उसे एक से दो कर दिया। पैशाची के साथ चूलिका-पैशाची को भी अलग गिन लिया। परन्तु कतिपय को छोड़ अन्य आचार्यों ने उनका साथ न दिया। उन्होंने पैशाची तथा चूलिकापैशाची को एक ही कहा और संस्कृत को षड्भाषा के भीतर ही गिना। लक्ष्मी-

धर ने वस्तुतः तद्भवा 'षड्विधा प्राकृती' का विचार किया है, न कि 'षड्भाषा' का। उनका स्पष्ट कथन है :—

"षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥"

(षड्भाषाचंद्रिका १।२६)

तत्समा का विवेचन इसलिये नहीं किया कि वह संस्कृत के मार्ग पर चलती है और उसके व्याकरण भी अनेक हैं।

हाँ, तो प्रतिष्ठित षड्भाषाएँ हैं :—

"संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।
मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः ॥" (प्राकृतलक्षणम्)

जो लोग हमारी भाषा-परंपरा से अनभिज्ञ हैं अथवा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कालगत[१] भेद मानते हैं उनकी दृष्टि में उक्त भाषा-विभेद में अनेक दोष दिखाई दे सकते हैं। परंतु जिसने देश के भाषा-प्रवाह में भली भाँति अवगाहन कर लिया है उसे इसमें किसी प्रकार का प्रमाद गोचर नहीं होता। प्रत्युत भाषा के प्रश्न की सारी उलझन इसी से हल हो जाती है और हम किसी प्रकार के दुराग्रह के शिकार भी नहीं होते। ध्यान से देखिए, इसमें किस तथ्य का विधान किया गया है।

संस्कृत के प्रसंग में आपने अच्छी तरह देख लिया है कि वह वाल्मीकि के समय में भारत की चलित तथा शिष्ट राष्ट्रभाषा थी।

१—अपभ्रंश का समय प्रायः साहित्य की प्राकृतों के बाद माना जाता है जो वाङ्मय के विचार से ठीक है। पर इसी के आधार पर यह प्रतिज्ञा प्रतिष्ठित नहीं की जा सकती कि प्रत्येक देशभाषा के विकास में प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का समय समान रूप से आया है। हमारी धारणा तो यह है कि अपभ्रंश भी वास्तव में एक प्राकृत विशेष का ही नाम है जिसका प्रसार प्रतीच्यों, कुछ उदीच्यों और मध्यदेशीयों में था। अथवा ग्रियर्सन प्रभृति पंडितों की अंतरंग भाषाओं में ही अपभ्रंश का विकास हुआ, कुछ बहिरंगों में नहीं।

उसके द्विजी रूप ने किस प्रकार वैयाकरणों की कृपा से काव्यों की संस्कृत का रूप धारण कर लिया, इसके कहने की ज़रूरत नहीं। सभी लोग इसे ज़रूरत से कहीं ज़्याद: जानते हैं। हाँ, आवश्यकता इस बात के प्रकाशन की अवश्य है कि संस्कृत कभी मरी नहीं बल्कि[१] कामधेनु की भाँति सदा हमारी कामनाओं या अभीष्ट को पूरा करती रही और ब्राह्मणों के उदय से फिर समस्त भारत की राष्ट्रभाषा बन गई। बौद्धों तथा जैनों ने भी उसे अपनाया और अपने प्रयत्न से उसके भांडार को और भी भर दिया। संस्कृत एकमात्र व्यापक राष्ट्रभाषा बन गई। कथा-पुराण के साथ वह अपने सरल रूप में जनता में चलती रही। निदान षड्भाषाओं में उसकी भी गणना हुई।

संस्कृत चलती अवश्य थी पर वह किसी प्रांत की व्यवहृत बोल-चाल की देश-भाषा नहीं हो गई थी। शिष्टों के भाव-विनिमय उसी में होते थे पर जन-सामान्य आपस में किसी स्थानीय देशभाषा का व्यवहार करते थे। अतएव भाषाओं के देश-विवेचन में उसका प्रश्न नहीं उठ सकता। यदि उठ सकता है तो उसके तद्भव मानुषी रूप का, जो अवश्य ही प्राकृत था।

संस्कृत के बाद प्राकृत की बाधा सामने आती है। अपभ्रंश न सही, शौरसेनी मागधी और पैशाची तो प्राकृत हैं। फिर इस प्राकृत का अर्थ क्या? निवेदन है कि प्राकृत का सांकेतिक अर्थ है महाराष्ट्री। महाराष्ट्री को ही प्राकृत के नाम से याद करते हैं। संस्कृत के जान-

१— "Moreover, the fact that Sanskrit was thus regularly used in conversation by the upper classes, court circles, eventually following the example of the Brahmins in this regard, helps to explain the constant influence exercised by the higher form of speech on the vernaculars which reveals itself 'inter alia' in the constant influx of Tatsamas." A. B. Keith, History of S. Literature. Preface P. XXVII.

कार इसे अच्छी तरह जानते हैं और इसी लेख में इसका निदर्शन भी पहले हो चुका है। अस्तु, प्रकट है कि यहाँ प्राकृत का अर्थ है महाराष्ट्री।

संस्कृत को अलग कर देने से हमारे सामने महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, अपभ्रंश एवं पैशाची का प्रश्न रह जाता है। अतएव अब इनकी भी खोज करनी चाहिए। इनमें महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्रत्यक्षत: महाराष्ट्र, मगध और शूरसेन से संबंध रखती हैं। उन्हीं देशों के नाम पर उनका नाम चला है। पर अपभ्रंश तथा पैशाची के विषय में यह नहीं कहा जा सकता; उनमें किसी देश का कोई निर्देश नहीं।

पैशाची के संबंध में हमने व्यक्त कर दिया है कि वह उदीच्यों की भाषा है। शकादिकों के उदीच्यों में मिल जाने से जो भाषा निकल आई उसी का नाम पैशाची है। इसी पैशाची का कुछ संकेत भरत मुनि ने वाल्हीका के रूप में किया है और फलत: उसका विधान भी उदीच्यों के लिये कर दिया है। उदीच्या के अतिरिक्त भारत के जिन अन्य जनपदों या प्रांतों में उसका प्रचार दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है शकादिकों का प्रभुत्व और प्रभाव न कि उसकी जन्मभूमि। अस्तु, पैशाची पिशाच देश अथवा सामान्यत: उदीच्य की भाषा निश्चित हुई।

संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी और पैशाची का लेखा लग गया। अब केवल अपभ्रंश का पता लगाना शेष है। आचार्य दंडी (६०० ई० के लगभग) का कथन है :—

"आभीरादिगिर: काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता:।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥"

(काव्यादर्श १।३६)

'शास्त्र' से आचार्य का तात्पर्य व्याकरण है। वैयाकरण पतंजलि मुनि (ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पूर्व) ने 'अपशब्द' मात्र को अपभ्रंश कहा है। देखिए :—

"भूयांसो ह्यपशब्दा: अल्पीयांस: शब्दा:। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा:। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिके-त्येवमादयोऽपभ्रंशा:।"

अस्तु, 'शास्त्र' के अपभ्रंशा: से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो 'काव्य' की अपभ्रंश भाषा का देश देखना है। भाग्यवश आचार्य दंडी ने इसको भी स्पष्ट कह दिया है कि काव्य में आभीरादि[1] की वाणी को अपभ्रंश कहते हैं। 'काव्य' का संकेत कुछ अस्थिर सा है। सामान्यत: उसके भीतर दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही आ जाते हैं, पर विचार करने से विदित होता है कि यहाँ पर काव्य का अर्थ केवल दृश्य काव्य ही है। कारण यह है कि 'आभीरादिगिर:' का विधान उसी में खप सकता है। उसी में भिन्न भिन्न विभाषाओं की भिन्न भिन्न जातियों में व्यवस्था की गई है। श्रव्य काव्य में कहीं इस तरह का संकेत नहीं मिलता। यही कारण है कि हम आचार्य दंडी की 'आभीरादिगिर:' को नाट्यशास्त्र की 'आभीरोक्ति' की प्रतिध्वनि समझते हैं और अपभ्रंश के साधु समीक्षण में इसे संदिग्ध पाते हैं।

'आभीरादिगिर:' के अतिरिक्त यह भी याद रहे कि आचार्य दंडी ने अपभ्रंश को वाङ्मय का अंग भी माना है। उनका स्पष्ट निर्देश है :—

"तदेतद्वाङ्मयं भूय: संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥"(काव्यादर्श १।३२)

१—महाभारत के देखने से पता चलता है कि उस समय दो प्रकार के आभीर थे। एक की गणना शूद्रों में होती थी और दूसरे की आततायियों या भ्रष्टों में। कृष्ण की यादवियों को लूटनेवाले आभीर ही थे। उनके पाप से 'सरस्वती' नष्ट हो गई थी। संभव है उन्हीं आभीरों के कारण तत्कालीन भ्रष्ट भाषा का नाम आभीरी अथवा 'आभीरादिगिर:' पड़ गया हो। कुछ भी हो, अपभ्रंश के विवेचन में आभीरों की अवहेलना हो नहीं सकती। उनके इतिहास पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

अतः अपभ्रंश के अन्वेषण में 'आभीरादिगिरः' के साथ इस आर्यों की अपभ्रंश को भी प्रमाण मानना चाहिए। सच पूछिए तो इसी आर्यापभ्रंश के कारण अपभ्रंश की गणना षड्भाषाओं में की गई है, कुछ आभीरादि के नाते नहीं।

अपभ्रंश की एक बड़ी विशेषता है उसका उकारबहुला होना। उकारबहुला भाषा का विधान नाट्यशास्त्र (ईसा के लगभग) में निम्न जनपदों के 'समुपाश्रितों' के लिये किया गया है—

"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥"

(नाट्यशास्त्र १७।३२)

'समुपाश्रिताः' के आधार पर कहा जा सकता है कि इस 'उकार-बहुला' भाषा का उदय उक्त जनपदों के आगत-वासियों में हुआ।

भरत मुनि के 'समुपाश्रिताः' एवं दंडी के 'आभीरादिगिरः' के परिशीलन से पता चलता है कि वास्तव में अपभ्रंश के निर्माण में विदेशियों का हाथ था। नाट्यशास्त्र में कहीं अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं मिलता पर उसके 'प्राकृत-पाठ' के विधान में 'विभ्रष्ट' का उल्लेख है—

"त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥" (नाट्यशास्त्र १७।३)

प्रायः कह दिया जाता है कि 'समान शब्द', 'विभ्रष्ट' और 'देशीगत' में क्रमशः 'तत्सम', 'तद्भव' तथा 'देश्य' का विधान है। पर हम इस निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। हमारी समझ में सीधी बात यह है कि एक ओर आर्य अनार्यों को हटाते, उन्हें अपनाते, उनके देश में बसते तथा उनकी भूमि को अपनी बनाते जाते थे। उनके इस प्रयास से उनकी भाषा में जो देशगत विकार उत्पन्न हो जाते थे उन्हीं को लक्ष्य करके उनके पाठ्य को देशीगत कहा गया है। दूसरी ओर आगंतुकों के नये जत्थे आते, जीतते और यहीं के हो रहते थे। यहाँ के भाव तथा भाषा से प्रभावित हो चाव के साथ आगे बढ़ते और

भाषा को अपनाकर उसे भ्रष्ट कर देते थे। संभवतः इसी भ्रष्टता के कारण उनके पाठ्य को 'विभ्रष्ट' की उपाधि मिली है। अतएव विभ्रष्ट और देशीगत को हम 'तद्भव' मानते हैं और उनके विभेद का कारण कुछ और ही समझते हैं। सारांश यह कि देशीगत पाठ्य स्वतः प्रकृत जनों का प्राकृत पाठ्य है और विभ्रष्ट आगंतुकों का प्राकृत पाठ्य। विभ्रष्ट में विदेशीपन अवश्य है। इसी विदेशीपन के कारण अपभ्रंश अन्य प्राकृतों से भिन्न है। भरत के 'समुपाश्रिताः' और दंडी के 'आभीरादि-गिरः' प्रभृति पद इसी की साक्षी दे रहे हैं।

भरत मुनि ने 'उकारबहुला' अर्थात् गर्भ की अपभ्रंश का विधान कर तो दिया पर नाटककारों ने उसे महत्त्व न दिया। शूद्रक के मृच्छ-कटिक और कालिदास के विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ[1] प्रयोग हुए तो सही पर उनमें भी उसको उचित स्थान न मिला। कालिदास के अनंतर तो किसी ने उसका ध्यान ही नहीं किया। नाटकों के प्रमाण पर यदि कोई अपभ्रंश तथा पैशाची की सत्ता को अस्वीकार करे तो इसके लिये हमारे पास प्रमाण क्या है! हम किस प्रकार उनकी सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं?

जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि भरत मुनि ने उकारबहुला भाषा का विधान हिमवत्सिंधुसौवीर के समुपाश्रित जनों में किया है और शूद्रक ने मृच्छकटिक में ढक्क भाषा को स्थान दिया है। ढक्क के विषय में विवाद करना व्यर्थ है। वस्तुतः वह 'टक्क' का रूपांतर है। टक्क जनपद में कभी अपभ्रंश का व्यवहार था। इसका पता एक प्राचीन पद्य से स्वतः चल जाता है। भाषा-क्षेत्र के विचार से यह पद्य बड़े महत्त्व का है—

१—अपभ्रंश के विषय में याकोबी, गुणे प्रभृति विद्वानों ने अच्छी खोज की है। इसके लिये 'भविसयत्तकहा' की भूमिका दर्शनीय है। श्री सुनीति-कुमार चटर्जी की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक पुस्तक की भूमिका भी इसके लिये उपयोगी है। 'उकारबहुला' के लिये पृ० ८८ देखिए।

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥"

प्रस्तुत पद्य के प्रणेता का पता नहीं। राजशेखर ने कृपा कर इसे काव्यमीमांसा (६१० ई०) में उद्धृत कर दिया है। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि यह कम से कम राजशेखर से पुराना है। इसमें इस बात का प्रत्यक्ष निर्देश है कि 'सकलमरुभुवष्टक्कभादानक' के प्रांत में अपभ्रंश का प्रयोग चालू था। उन्हीं जनपदों की प्राकृत में अपभ्रंश का प्रवेश था।

राजशेखर ने कवि-समाज की पंक्ति में अपभ्रंश कवियों को पश्चिम में स्थान दिया है और परिचारक वर्ग के लिये अपभ्रंश का ज्ञान आवश्यक बताया है। उनका कहना है—

"पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः" (का० मी० पृ० ५४, ५५)
"अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्गः"। (वही पृ० ५०)

अतएव हम कह सकते हैं कि राजशेखर के समय में अपभ्रंश पश्चिम की प्रचलित भाषा थी और नित्य प्रति के व्यवहार में आती थी। राजदरबार के परिचारक उसी का प्रयोग करते थे।

प्राकृत-वैयाकरणों अथवा काव्य के आचार्यों ने भाषाओं के अलग अलग क्षेत्रों का विचार नहीं किया है। किंतु प्राकृतों का जो वर्गीकरण किया है वह देश-दृष्टि पर अवलंबित है। मागधी और शौरसेनी के प्रांतों में किसी को आपत्ति नहीं। प्राकृत महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री का परंपरागत नाम है। अतः उसके संबंध में कोई विवाद नहीं। सुगमता के लिये शौरसेनी को मध्या मान लीजिए। मागधी प्राच्या और महाराष्ट्री दाक्षिणात्या निकल आई। अब प्रतीच्या का पता लगाइए। प्रतीच्य में अपभ्रंश का विधान किया गया है। उसके प्रांतों में अपभ्रंश का व्यवहार हुआ है। निदान उसकी प्राकृत का नाम प्रतीच्या या अपभ्रंश हुआ। रही पैशाची की बात। अवश्य

हो वह उदीच्या सिद्ध हुई। इस प्रकार पंच प्राकृतों का लेखा लग गया और उनका उचित विभाजन भी हो गया।

प्राकृतों में प्राच्या को अब्राह्मण्यों, दाक्षिणात्या को सातवाहनों एवं उदीच्या को शकादिकों ने बढ़ाया और कुछ काल के लिये राजभाषा के रूप में उनकी प्रतिष्ठा भी कर दी। पर उनके प्रयत्न से कभी उनको भारत की राष्ट्रभाषा का पद नसीब न हुआ। कारण प्रत्यक्ष था। उनमें से प्रत्येक सीमांत भाषा थी, भारत के हृदय मध्यदेश से दूर की भाषा थीं और अनार्यों के संसर्ग में आ चुकी थी। पैशाची आततायियों के पंजे में थी तो मागधी भदेसों के मुँह में। महाराष्ट्री द्रविड़ों के सम्पर्क तथा आर्यावर्त से अलग होने के कारण जन-सामान्य में पहुँच नहीं सकती थी। निदान उनमें से प्रत्येक का प्रताप उनके शासकों के साथ अस्त हो गया। अपने गुणों के कारण केवल महाराष्ट्री काव्य-भाषा बनी रही और नाटकों में शौरसेनी के साथ चलती रही।

शौरसेनी ब्रह्मर्षिदेश की भाषा थी। ब्राह्मी की वह औरस संतान थी। संस्कृत की सगी होने के नाते उसका भी व्यापक प्रचार था। वैयाकरणों ने उसे ही अन्य प्राकृतों की प्रकृति कहा है। सचमुच वही भारत की चलित राष्ट्रभाषा थी। उसी के सहारे सामान्य जनता भाव-विनिमय किया करती थी। जो लोग उसे बोल नहीं पाते थे वे भी उसे समझ अवश्य लेते थे। भरत मुनि ने उसकी इसी विशेषता को लक्ष्य करके लिखा है।

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत्॥"

(ना० शा० १७।४७)

शकादिक पिशाचों ने शूरसेन को अपना प्रांत बना लिया। उनके संपर्क में आ जाने से शौरसेनी की शुद्धता जाती रही। उसमें भी कुछ पैशाची का मेल हो गया। आभीर, गुर्जर प्रभृति[1] जातियों के जम

१—कुवलयमालाकथा में, जिसकी रचना संवत् ८३५ वि० में हुई थी, कहा गया है :—

जाने से शौरसेनी में जो विकार उत्पन्न हुए उन्हें लक्ष्य करके इस भ्रष्ट भाषा का नाम अपभ्रष्ट पड़ा। यही अपभ्रष्ट भाषा आगे चलकर अवहट्ट के रूप में प्रचलित हुई।

हूणों के परास्त हो जाने के उपरांत भारत कुछ काल के लिये आततायियों के आक्रमणों से सुरक्षित रहा। सिंध में मुसलिम झंडे के नीचे जो अरब-शासन स्थापित हो गया था उसका धीरे धीरे ह्रास ही हो रहा था। गुप्तों के शासन में ब्राह्मण्य या हिंदुत्व को जो प्रोत्साहन मिला था वह प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। विदेशी जातियाँ शुद्ध होकर कट्टर स्वदेशी और ब्राह्मण्य बन रही थीं। संक्षेप में राजपूतों का उदय तथा अपभ्रंश का उत्कर्ष हो रहा था। वह राजभाषा बन रही थी।

अपभ्रंश के प्रसंग में नोट करने की बात यह है कि उसका उदय उदीच्यों की 'उकारबहुला' भाषा में हुआ तो सही पर उसका विकास उदीच्या में न हो सका। कारण प्रत्यक्ष है। उदीच्या में पैशाची का प्रसार हो गया। पैशाची को चाहें तो ब्राह्मी और वाह्लीका का संकर[1] रूप कह सकते हैं। पैशाची को राजाश्रय मिल जाने के कारण उसका प्रसार प्रतीच्या, दाक्षिणात्या और कुछ कुछ मध्या में भी

"कपिलान् पिङ्गलनयनान् भोजनकथामात्रदत्तव्यापारान् 'कित्तो किम्मो जिह्म' जल्पकानथांतर्वेद्यांश्च" (छाया, अपभ्रंशकाव्यत्रयी पृ० ९२ पर अवतरित)। शौरसेनी के प्रांत अंतर्वेद में उक्त लोग कहाँ से आ बसे थे और कौन थे, इसका शीघ्र पता लगाना चाहिए। संभव है, उससे भाषा के विवेचन में अच्छी सहायता मिले।

१—उदीच्यों की जन्मभाषा ब्राह्मी या मानुषी वेदवाणी थी। वाह्लीकों के बस जाने से उसमें वाह्लीका का मेल हो गया। ईसा के लगभग ५ सौ वर्ष पहले उदीच्य में दारा का शासन स्थापित हो गया था। इस प्रकार उदीच्य की परंपरागत भाषा यानी मानुषी संस्कृत में बाहरी विकार काम कर रहे थे। इस प्रकार के योग अथवा मेल-जोल से जो भाषा निकल आई उसी का व्यवहार शकादिकों में चालू हुआ और वह पैशाची के नाम से प्रयोग में आ गई।

हो गया, पर कभी उसे जनता ने राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण न किया। करती भी कैसे ? उससे उसका सीधा संबंध ही क्या था ? मागधी और महाराष्ट्री की भी कुछ वही दशा रही जो पैशाची की थी। अंतर केवल यह था कि महाराष्ट्री ब्राह्मण्य प्राकृत थी और नाटकों में प्रतिष्ठित भी हो चुकी थी। मागधी की भाँति उसका संबंध भदेसों से न था। फिर भी वह एक कोने की भाषा थी। उसके प्रसार के लिये कठोर विधान अपेक्षित था, जो भारतीयों से हो नहीं सकता था।

अपभ्रंश क्या प्रकृति, क्या प्रवृत्ति, क्या परिस्थिति और क्या प्रतिष्ठा, सभी दृष्टियों से संपन्न और राष्ट्रभाषा के उपयुक्त थी। जिन पिशाचों के संसर्ग में आ जाने से उसमें भ्रष्टता आ गई थी उनकी गणना अब भारत के शुद्ध क्षत्रियों में हो गई थी और राजपूत नामक एक पक्की क्षत्रिय-जाति निकल आई थी। आभीर और गुर्जरों का संबंध व्रज-विहारी गोपाल कृष्ण से स्थापित हो गया था। उनके साथ की उनकी रास-लीला पतित-पावन हो चुकी थी। अहीर की छोकरियाँ तनिक सी छाँछ पर कृष्ण को नाच नचाती थीं और 'गूजरी' व्रजवल्लभ को मोह लेती थी। मतलब यह कि अपभ्रंशवाले आभीर भी अब पूत हो गए थे। फिर उनकी वाणी किस मुँह से भ्रष्ट कही जाती ?

अपभ्रंश पैशाची और ब्राह्मी के मेल से बनी था। वह संकर नहीं वास्तव में शबल थी। एक ओर भारत की परंपरागत राष्ट्रभाषा से उसका संबंध था तो दूसरी ओर वर्त्तमान शासक-वर्ग से उसका लगाव। स्थिति भी बहुत कुछ मध्य में थी। उत्तर में पैशाची, दक्षिण में महाराष्ट्री और पूर्व में शौरसेनी का प्रांत था जो उसकी जननी नहीं तो सगी अवश्य थी।

अस्तु, अपभ्रंश के सहसा राष्ट्रभाषा बन जाने के प्रधान कारण थे:—(१) उसका राष्ट्रभाषा की परंपरागत भाषा के वंश में होना; तथा (२) उस पैशाची भाषा से लगाव रखना जो कभी अधिकांश प्रांतों की राजभाषा थी और शकादिकों के साथ देश के अनेक भागों में

फैल गई थी; एवं (३) सहसा राजाश्रय को प्राप्त कर राजपूतों के साथ में देश-देशांतर में प्रविष्ट हो जाना।

अपभ्रंश भारत की लुपित राष्ट्रभाषा थी। व्यवहार में होने के कारण उसके अनेक देशभेद हो गए थे। इसी भेद के कारण रुद्रट (८५० ई० के लगभग) को लिखना पड़ा—

"प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥" (काव्यालंकार, २।१२)

रुद्रट के 'भूरिभेदः' और 'देशविशेषात्' के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। नमिसाधु ने इसकी टीका में लिखा है—

"तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्व-भेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्कारणात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

नमिसाधु ने कहीं पर इस बात का उल्लेख नहीं किया कि 'उपनागराभीरग्राम्य' प्रभृति भेद किस व्यक्ति के किए हुए हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा कि उसी के खंडन के लिये रुद्रट ने 'भूरिभेद' का प्रयोग किया। 'भूरिभेद' के कारण को व्यक्त करने के लिये 'देशविशेषात्' की आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि उक्त 'त्रिधोक्त' भेद 'देशविशेष' पर अवलंबित न थे। उनके विभाजन का कारण देशगत रूप नहीं बल्कि कुछ और था। 'उपनागर' और 'ग्राम्य' में तो 'नगर' और 'ग्राम' का आधार है पर 'आभीर' में प्रत्यक्ष ही जाति का संकेत है। आभीर का प्रयोग शायद 'आभीरादिगिरः' के इशारे पर कर दिया गया है। आभीरी भाषा के प्रसंग में नमिसाधु ने उसी पद्य की टीका में लिखा है—

"आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।"

नमिसाधु के इस कथन से प्रकट होता है कि अपभ्रंश मगध की देशभाषा न थी। वह कहीं कहीं मागधी में भी दिखाई दे जाती थी। अपभ्रंश के इस मागधी रूप के लिये नमिसाधु ने वही 'तस्य लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्' का विधान किया है और प्राकृत अपभ्रंश का कुछ विचार कर प्रसंग को समाप्त कर दिया है।

अपभ्रंश के मागधी रूप के निदर्शन का यह समय नहीं। इसके लिये वज्रयानियों के गानों—विशेषतः सरह और कृष्णाचार्य—का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ पर हम इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिये विद्यापति का एक पद्य पेश करते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशभाषा के संबंध में उनका मत है—

"सक्कय वाणी वहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसिन जम्पओ अवहट्ठा॥"
(कीर्त्तिलता)

'तँ तैसिन' के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि देशी भाषा की भाँति अपभ्रंश भी कभी व्यापक लोकप्रिय थी। इसी लोकप्रियता के कारण विद्यापति ने उसी में कविता का श्रीगणेश किया। आगे चलकर विद्यापति ने संस्कृत तथा मैथिली को महत्त्व दिया और अवहट्ट की उपेक्षा की। निश्चय ही उनके अपभ्रष्ट-प्रेम का प्रधान कारण अपभ्रंश की प्रतिष्ठा अथवा उसका व्यापक व्यवहार था। 'पाल' तथा 'सेन' राजाओं के शासन में प्राच्या के क्षेत्र में भी अपभ्रंश का व्यापक प्रचार हो गया था। अपभ्रंश ही वहाँ की चलित काव्य-भाषा थी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि संस्कृत के अद्वितीय गीत काव्य गीतगोविंद का आधार वास्तव में अपभ्रंश ही है। अपनी अपभ्रंश रचना को ही जयदेव[1] ने संस्कृत के साँचे में ढाल दिया है। जो हो, अपभ्रंश के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि जो प्रांत प्राकृत प्रयोग में कुंठित समझा जाता था उसी ने अपभ्रंश को सहर्ष स्वीकार कर लिया और उसको राष्ट्रभाषा होने का प्रमाण दिया।

अपभ्रंश भाषा पर विचार करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रखना चाहिए कि वह देशभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा भी है।

१—जयदेव के अपभ्रंश-प्रेम के लिये श्री चटर्जी की The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta, 1926 Pages 125-6 Introductory देखना चाहिए।

रुद्रट ने इसी राष्ट्ररूप को लक्ष्य करके लिखा है कि अपभ्रंश के 'भूरि-भेद' हैं। उसकी इस भूरिभेदता का कारण है उसका व्यापक व्यवहार। व्यवहार में होने के कारण उसके रूप में देशगत विकार हो गए हैं। उन्हें जानने के लिये उक्त देशों के देशगत रूपों का अध्ययन करना चाहिए।

अपभ्रंश के समीक्षकों को याद रखना होगा कि अपभ्रंश राष्ट्र-भाषा ही नहीं, देश के एक बड़े भूखंड की भाषा भी थी। प्राकृतों के प्रसंग में हमने यह दिखा देने का प्रयत्न किया है कि वह प्रतीच्यों की की भाषा थी। मध्या अर्थात् शौरसेनी भी उससे प्रभावित थी। सामान्यत: हम कह सकते हैं कि वस्तुत: अपभ्रंश मध्यदेश, राजस्थान, पंचनद और गुजरात की भाषा थी। सिंध में भी उसका प्रसार था।

सातवाहनों ने जिस तत्परता से प्राकृत को प्रोत्साहन दिया उसी तत्परता और उसी लगन से गुर्जरों ने अपभ्रंश को बढ़ाया। अपभ्रंश का नाम 'आभीरादिगिर:' व्यर्थ ही नहीं पड़ा। उसके प्रसार में गुर्जराभीरों का पूरा योग था। गुर्जरों के विषय में भोजराज का कहना है :—

"अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा:"

(सरस्वतीकंठाभरण २।१३)

गुर्जरों के प्रभाव तथा महत्त्व को याद दिलाने के लिये आज भी 'गूजरी' और 'नागरी' शब्द मौजूद हैं। नागरी का संबंध गुर्जरों के पुरोहित नागर जाति के ब्राह्मणों से है। उन्हीं की कृपा तथा प्रयत्न से अपभ्रंश का प्रचार सुदूर दक्षिण में हो गया और एक देशगत द्रविड़ या द्राविड़[1] अपभ्रंश भी निकल आई। पंजाब में 'गुजरात' तथा

१—भारतीय भाषाओं के चित्रगुप्त सर जार्ज ग्रियसन ने भी एक राष्ट्रापभ्रंश को मान लिया है। उनका कहना है :—"They were each a local variation, not of the local dialect, but of the one language which we call literary Apabhramsa." तथा "That they were not

'गुजरानवाला' आज भी गुर्जरों के नाम को उजागर कर रहे हैं। ब्रह्मर्षि देश में आज भी गूजरों की बड़ी बस्ती है। राजपूतों में अनेक गुर्जरकुल से प्रभूत हैं। सारांश यह कि गुर्जराभीरों के प्रभाव से अपभ्रंश पुष्ट हो गई और संस्कृत के साथ भारत की चलित राष्ट्रभाषा बन गई।

'नागर' पंडितों की अपभ्रंश थी। उसका प्रयोग काव्य-रचना में होता था। उसके अतिरिक्त एक और भी अपभ्रंश थी जिसका नाम 'ग्राम्य' रख दिया गया था। नमिसाधु ने इस ग्राम्य का उल्लेख 'उपनागराभीर' के साथ किया है और जैनाचार्य हेमचंद्र ने उसे काव्य-भाषा के भीतर कर लिया है। उनका कहना है—

"पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाश्वासस्कन्धवस्कन्धकबन्धम्।" (काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण पृ० ३३०)।

आचार्य ने कृपाकर उस काव्य का निर्देश भी कर दिया है जो ग्राम्यभाषा में रचा गया था—

"ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धकबन्धं भीमकाव्यादि"। (वही पृ० ३३७)।

दुर्भाग्यवश भीमकाव्यादि का कोई पन्ना हमारे सामने नहीं है। फिर भला हम किस मुँह से कह सकते हैं कि यही ग्राम्यापभ्रंश आधुनिक गुजराती की जननी है। कुछ भी हो, इतना कहने में हमें कोई रोक भी नहीं सकता कि वास्तव में नागर राष्ट्र-अपभ्रंश का नाम है। उस अपभ्रंश का नाम है जो इसलाम के पहले भारत की चलित काव्यभाषा थी और नागरों के प्रयास से परितः पुष्ट हो समस्त देश की व्यवहार की भाषा बन गई थी। अजब नहीं कि तुरुकों ने आरंभ में इसी को 'रेखता' कहा हो और 'हिंदी' के नाम पर इसी में रचना आरंभ

---

actual vernaculars of the countries after which they were named is plain from these descriptions. These Apabhraṁśas were found even in countries of which the local language was Dravidian. (L. S. Introductory, P. 124.)

की हो। रेखता का एक अर्थ अपभ्रंश भी है और दक्खिनी कवियों ने 'गूजरी' का उल्लेख भी किया है। 'गूजरी' अवश्य ही 'गूर्जरी' से बनी है, न कि गुजराती से।

तुरुकों के राज्य में हमारी राष्ट्रभाषा नागरी ने जो रंग पकड़ा उसकी मीमांसा अन्यत्र होगी। यहाँ इतना ही निवेदन कर देना है कि आज भी हमारे सामने भाषा का वही पुराना प्रश्न है जो कभी हमारे पूर्वजों के सामने था। अंतर केवल इतना पड़ गया है कि हममें कुछ ऐसे जीव भी बस गए हैं जो यहाँ के नहीं वहाँ के होकर यहाँ बसना चाहते हैं और हिंद को अपना घर नहीं बल्कि छावनी समझते हैं। उनके इस व्यामोह को हटाने का प्रयत्न करना जागते को जगाना और पाषंड को बढ़ाना है। अतएव उनकी उपेक्षा कर हमें स्पष्ट कह देना है कि राष्ट्र के मंगल तथा लोक के कल्याण के लिये यह परम आवश्यक ही नहीं सर्वतः अनिवार्य भी है कि हम भाषा की परंपरा पर ध्यान दें और अच्छी तरह, भली भाँति, देख लें कि हमारा राजमार्ग क्या है। किस प्रकार हम एक में अनेक का विधान और अनेक में एक का अनुष्ठान करते आ रहे हैं। यदि हमने प्रमादवश परंपरा के कारण प्रथित राजमार्ग को छोड़ स्वच्छंद पगडंडियों का सहारा लिया और व्यर्थ के प्रलोभनों में मनमाना ढर्रा कायम किया तो हमारा विनाश अवश्यंभावी है। सबके होने में हम कहीं के न रह जायँगे और एक ऐसी सूरत निकाल या खड़ी कर लेंगे जो धीरे धीरे हमीं को भक्ष लेगी। फिर राष्ट्र और राष्ट्र-भावना का उद्धार कौन करेगा?

हाँ, तो निवेदन यह कर देना था कि इसलाम क्या मसीह के बहुत पहले वाल्मीकि के समय में संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा थी। उस समय सभी भाषाओं की भाँति उसके भी दो रूप थे। वाल्मीकि ने एक को 'द्विजाति' और दूसरे को 'मानुषी' कहा है। भाषा के द्विजाति रूप को शिष्टों ने अपनाया और उसको और भी शिष्ट तथा संस्कृत बना लिया। वह शिष्टों की भाषा तथा समस्त देश की शिष्ट राष्ट्रभाषा बराबर बनी रही। अब्राह्मणों ने पहले उसकी उपेक्षा की, किंतु फिर सोच

समझकर उसे अपनी शिष्ट और व्यापक राष्ट्रभाषा मान लिया। गुप्तों तथा राजपूतों के प्रोत्साहन से उसमें जान आ गई और इसलाम के भारत में जमने के पहले गाँव-गाँव और घर-घर में उसकी प्रतिष्ठा हो गई, कथा-पुराण के रूप में सर्वत्र फैल गई और प्राकृतों से कहीं अधिक सुबोध[१] हो गई। 'मानुषी' ने क्रमशः पाली, शौरसेनी और नागर के रूप में भारत की चलित राष्ट्रभाषा का रूप धारण किया और अन्य प्राकृतों अथवा देशभाषाओं को स्वतंत्र बढ़ने दिया। इस प्रकार इसलाम के पहले भारत में एक ओर तो राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत विराजमान थी और दूसरी ओर नागरापभ्रंश। संस्कृत का व्यवहार शिष्टों में था। संस्कार तथा कालचक्र के प्रभाव से वह श्रमसाध्य हो गई थी। फारसी के आ जाने से उसकी राज-मर्यादा भंग हो गई, पर चलित और सहज होने के कारण 'नागरी' बनी रही। समूचे हिंद की भाषा होने के नाते उसे हिंदी की उपाधि मिली। वही यवनों की भी चलित राष्ट्रभाषा हुई।

यवनों ने अपभ्रंश को इतना महत्त्व दिया कि अपभ्रंश उन्हीं की भाषा सी हो गई। वैयाकरणों ने उसकी उपेक्षा की। अब उसके व्याकरण पर विचार करना आवश्यक हो गया। लक्ष्मीधर ने साफ साफ कह दिया—

"अपभ्रंशस्तु चण्डालयवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णवः॥" (षड्भाषा चं० १।३६)

किंतु उनके समकालीन शेषकृष्ण ने अपभ्रंश की इस प्रकार अवहेलना न की। अपभ्रंश का विवेचन तो उन्होंने भी नहीं किया पर उसका कारण कुछ और ही बताया। उनका निवेदन है—

१—जैन कवि सिद्धर्षि ने उपमितिभवप्रपंचकथा (६०६ ई०) को प्राकृत में नहीं लिखा बल्कि उसे संस्कृत में लिखा और उसका कारण यह बताया कि शिष्ट लोग संस्कृत के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को पसन्द नहीं करते। साथ ही इस बात का दावा भी किया कि प्राकृत-प्रेमी सज्जनों के लिये भी संस्कृत सुबोध पड़ेगी।

"अपभ्रंशस्तु यो भेद: षष्ठ: सोऽत्र न लक्ष्यते।

देशभाषादितुल्यत्वान्नाटकादावदर्शनात्।

अनत्यन्तोपयोगाच्चातिप्रसंगभयादपि॥" (प्राकृत-चंद्रिका)

अपभ्रंश को भारत के शिष्ट समुदाय ने कभी विशेष महत्त्व नहीं दिया। उसका ध्यान बराबर संस्कृत पर बना रहा। राजपूतों के उदय से संस्कृत को और भी प्रोत्साहन मिल गया था और वह बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी। उसके प्रकाश में अपभ्रंश का प्रकाशित रहना संभव न था। वह जनसमाज में चल सकती थी। पंडित-मंडली में उसकी प्रतिष्ठा न थी। संस्कृत उसे भी समेट कर आगे बढ़ना चाहती थी कि फारसी ने उसे आ दबोचा। संस्कृत घिर गई और अपभ्रंश हिंदी के रूप में आगे बढ़ी।

यवनों के हाथ में शासन-सूत्र आया कि देशभाषाओं को स्वतंत्रता मिली। ठेठ* हिंदुस्तान के प्राच्य में बँगला, दक्षिण में मराठी और प्रतीच्य में गुजराती ने सम्पन्नता प्राप्त कर ली। राजभाषा फारसी से उनका कोई भी सीधा संबंध न था। उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना उनके लिये असंभव था। मुसलिम प्रचारक या संत सूफी भी स्थानीय देशवाणी को अपने प्रचार या उपदेश का साधन बनाते थे। उनके प्रयत्न से राष्ट्रभाषा का अहित हो रहा था। पर उतना न हो सका जितने की संभावना की जाती थी। उनका भी प्रधान केंद्र ब्रह्मर्षि देश ही था। उनके द्वारा भी उसी ब्राह्मी का प्रचार हुआ जो सदा से, किसी न किसी रूप में, समस्त देश की राष्ट्रभाषा रही है और फलत: आज भी है। उसी को आज हम आप हिंदी अथवा हिंद की राष्ट्रभाषा कहते हैं। उसी को कल मुसलमान भी मुल्की जबान कह रहे थे। अँगरेज़ों के आने और फारसी के उठ जाने से देश में 'इम्तयाज़' के लिये जो एक नई जबान ईजाद हुई उसी को आज भ्रम,

---

* ठेठ हिंदुस्तान से तात्पर्य आर्यावर्त्त के उस बड़े भूभाग से है जहाँ के लोग आज भी 'हिंदुस्तानी' कहे जाते हैं और हिंदी को अपनी मातृभाषा समझते हैं।

नीति अथवा प्रमाद-वश कुछ लोग 'मुल्की' या 'मुश्तरकः ज़बान' कह रहे हैं जिसमें सत्य का लेश भी नहीं है।

अल्बेरूनी (१०३० ई०) की गवाही[१] से सिद्ध होता है कि भारत में मुसलिम शासन स्थापित होने के पहले यहाँ पर एक ही भाषा के दो रूप प्रचलित थे। एक का प्रचलन जन-समाज में था और दूसरे का व्यवहार शिष्ट तथा शिक्षितों में। अर्थात् एक शिष्ट या 'द्विजी' भाषा थी तो दूसरी चलित या 'मानुषी' भाषा। दोनों का व्यवहार साथ-साथ चल रहा था। तुरुकों के शासक हो जाने से एक दूसरी शिष्ट भाषा का आगमन हुआ जो अँगरेजी के राजभाषा बनने के पहले यहाँ की शाही जबान थी।

इस तरह हम देखते हैं कि मुसलिम शासन में दो शिष्ट भाषाओं का प्रचलन था। एक का व्यवहार शिष्ट हिंदुओं में होता था तो दूसरी का शिष्ट यवनों में। जनता एक तीसरी ही भाषा का प्रयोग करती थी—उसी भाषा का जिसे हमने 'मानुषी' के सहज नाम से व्यक्त किया है। यवनों की शिष्ट भाषा का नाम फारसी था। वह केवल राजवर्ग की भाषा थी। नवागंतुक मुसलमान भी उसी का प्रयोग करते थे। पर देशी और पुराने मुसलमान जिस भाषा में भाषण करते थे उसका नाम रेखता (अपभ्रंश) या हिंदी (हिंद की भाषा) था। अर्थात् यही उस समय की 'मुश्तरकः ज़बान' थी। हिंदू-मुसलिम इसी को अपनाते थे। सचमुच यही मुसलिम काल की सच्ची राष्ट्रभाषा थी।

१—"Further, the language is divided into a neglected vernacular one, only in use among the common people, and a classical one, only in use among the upper and educated classes, which is much cultivated and subject to the rules of grammatical inflection and etymology, and to all the niceties of grammar and rhetoric." Alberunis' India, Dr. E. C. Sachan, London, Kegan Paul 1910 P. 18.

औरंगजेब की कट्टर कूटनीति तथा रूखे व्यवहार से फारसी कवियों की बाढ़ बंद सी हो गई। हिंदुओं के उत्थान, बाहरी हमलों एवं अँगरेजों के प्रताप से मुगलों का सितारा डूब गया। फारसी किसी की जबान न रही। दिल्ली-दरबार की जबान फारसी से 'उर्दू' हो गई। हिंदू जनता से 'इम्तयाज़' रखने के लिये उसमें से भाषा के हिंदी शब्द छाँट छाँटकर निकाले गए और उनकी जगह फारसी-अरबी के शुद्ध शब्द भर दिए गए। यही उर्दू यवनों की शिष्ट भाषा बनी। इसी को दरबारी हिंदुओं तथा अँगरेजों ने सीखा और प्रमादवश हिंदी जनता को सिखाना चाहा। सर सैयद अहमद खाँ की 'साइंटिफिक सोसाइटी' ने तो 'टवर्ग' तक पर हाथ लगाना चाहा पर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की कृपा से उसकी रक्षा हो गई।

शिलाखंड (१)

शिलाखंड (२)

(४) अवंतिका के दो शिलालेख-खंड

[लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिषाचार्य]

इतिहास-प्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी की महत्ता के विषय में अनेक बार कहा जा चुका है। यहाँ की भूमि रत्नगर्भा है। वर्षाऋतु में यहाँ की 'गढ़' नामक प्राचीन ध्वंसावशेष नगरी के गढ़ों से प्रायः प्रतिवर्ष सिक्के, पात्र आदि उपलब्ध होते रहते हैं। इसी प्रकार महाकालेश्वर के निकटस्थ भू-भाग से भी सिक्के और शिलाखंड मिल जाते हैं। कुछ समय पूर्व ही यहाँ के भूस्तर के थोड़े से निम्न भाग में अनेक सिक्के, जो गधिया (गद्याण) नाम से प्रसिद्ध हैं, मिले हैं। इन सिक्कों के विषय में नागरीप्रचारिणी पत्रिका में हमने चर्चा की है। आज हम यहाँ इसी भू-भाग से उपलब्ध अभिनव ३ शिलाखंडों के अपूर्ण भागों पर चर्चा करेंगे। ये शिलाखंड ३ संख्या में होते हुए भी मालूम होता है कि एक ही विशाल शिलालेख के अस्त-व्यस्त खंड हैं। जिस प्रकार भोजराज की धारा नगरी में एक पूरा नाटक भोजशाला की जमीन और दीवारों से प्राप्त हो गया है, उसी प्रकार यहाँ भी महाकालेश्वर के निकट की भूमि से उपलब्ध होना संभव है।

प्राप्त शिलालेख का एक खंड त्रिकोणाकृति है, एक लंबा है, और एक छोटा सा है, जिसमें केवल कुछ अक्षर ही मालूम होते हैं।

(१) त्रिकोणाकृति शिलाखंड में १८-१९-२२ और २६ श्लोकों की संख्याएँ हैं, और इनमें श्लोक पूर्ण नहीं है।

(२) द्वितीय शिलाखंड में १९८ और २१३ श्लोक-संख्याएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं, किंतु उसमें बीच की संख्या शिला की लंबाई भंग हो जाने से ज्ञात नहीं होती, श्लोकांश अवश्य विदित होते हैं।

(३) तीसरे खंड में कोई श्लोक-संख्या नहीं है। परंतु तीनों खंड लिपि, प्रस्तर और अक्षर शैली की दृष्टि से एक ही बृहदाकार शिला-लेख के खंड हैं। यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

ये तीनों शिला-खंड लिपि आदि की दृष्टि से १०वीं और ११वीं शती से ऊपर के ज्ञात नहीं होते।

इन तीनों खंडों में से प्रथम त्रिकोणाकृति शिलाखंड कुछ महत्त्व-पूर्ण अवश्य है। दूसरे, और तीसरे खंड में कोई खास बात प्रकट नहीं होती।

प्रथम त्रिकोणाकृति शिला में यद्यपि किसी राजा या राजवंश का नामोल्लेख नहीं है, तथापि उसमें आए हुए कुछ नामों से भौगोलिक उल्लेख अवश्य पाया जाता है। जैसे—साकेत (अर्थात्—अयोध्या) पर विजय-प्राप्ति, वहाँ के उपवनों में विहार, दक्षिण में मलयाचल, पश्चिम में द्वारका नगरी की सीमा और उत्तर में हिमालय-शिखर, इत्यादि। इसे किसी राजा के (चक्रवर्तित्व-प्राप्ति में) विजय से संबंधित होना चाहिए। इस खंड में एक शब्द ऐसा मिलता है जो कुछ विशेषार्थ रखता हो, "निर्वाण नारायण"। यह शब्द इतिहास से संबंधित हो सकता है अथवा संभव है कि यह किसी राजा ने अपने नाम के साथ पदवी लगा ली हो*। इस प्रकार यह विदित होता है कि यह शिलाखंड किसी विशालकाय सुंदर प्रशस्ति का एक भाग है, जिसमें २५०-३०० श्लोक होने चाहिए।

दूसरे खंड और तीसरे खंड में ऐसे किसी नाम, स्थान आदि का उल्लेख नहीं है कि कुछ पता चलाया जा सके। ये तो बीच के भग्नावशेष से हैं। यदि इस भू-भाग की खुदाई की जाय तो संभव है कि यह समस्त भव्य शिलालेख प्राप्त हो जाय और ऐतिहासिक तथ्य किसी आश्चर्य-जनक रूप में प्रकट हो जाय। साधारण राज-विजय-प्रशस्ति की अपेक्षा यह कोई साम्राज्य-विजय-प्रशस्ति ही होनी चाहिए।

---

* 'निर्वाण नारायण' यह पद 'नरवर्मन्' परमार राजा ने लगाया था, ऐसा श्रीमान् के० एन्० दीक्षित महोदय का कथन है।

शिलाखंड (२)
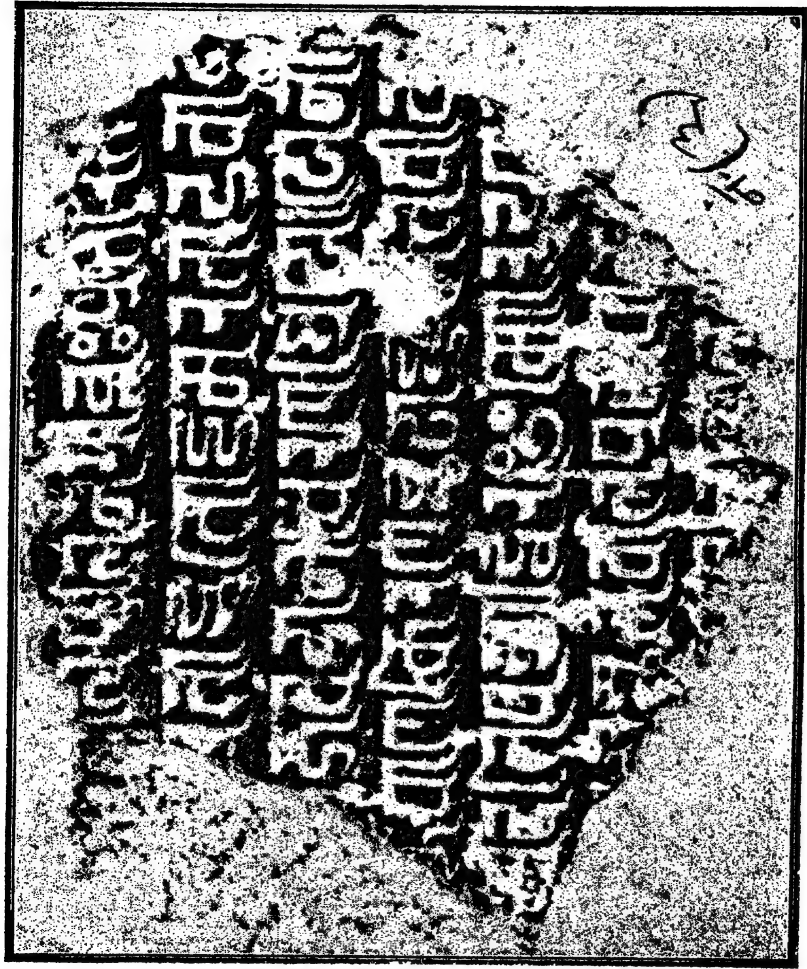
अब हम यहाँ उन खंडों के श्लोकांश यथाक्रम उद्धृत करते हैं। त्रिकोणाकृति शिलाखंड में जो श्लोकांश पढ़े जा सकते हैं, वे ये हैं—

शार्दूलविक्रीड़ित (१) [व] गाह्य सरयूं जित्वा श्रमं सैनिकैः साकेता
प वना वनीषु कलि......

शिखरिणी— (२) ह कलमं नीते कांतैः सह मलयकौले युवतिभिः
यदा तं काल्लं का

स्रग्धरा— (३) श्रुत्वा वृत्तमेतद्गलि [दम] न कृतः कीर्तितं पूर्व्व
विद्भिः पर्यन्ते द्वारका या

शार्दूलविक्रीड़ित (४) विदा नूनं येन हिमाद्रिमूर्ध्नि शि[थि] लो
चक्रेन को [ष] ग्रहः ॥ १८ ॥

,, ,, (५) १९ ॥ तस्मिन्विश्लेष शुष्यन्त्रिदिव पुर पु
[नः] प्रीति सत्रोत्म

,, ,, (६) ज श्रियः संयति प्रोत्खायोच्छिरतोडु विभ्रम भृतामु

,, ,, (७) दरातयः॥ २२॥ वैधव्यं विजयश्रियो रण भु [जि]

इन्द्रवज्रा— (८) पचर्य मागः। निर्वाण नारायण इत्ययं

शार्दूलविक्रीड़ित (९) लके नागास्त्रिशंकोर्द्दिशं ॥ २६ ॥

,, ,, (१०) रण मश्शृणिं ताह्य पीक

,, ,, (११) पाल भाल स्थली वि

,, ,, (१२) ण मालिनि

द्वितीय लंबे शिलाखंड के श्लोकांश—

(१) × × संचयं × × य रना यतो र्व्वी ॥ × × × न प्रकर
जल वयस्या सपत्प्रकष......

(२) × × १९८ ॥ तस्मिन्नेवार्ज्जित सुरजन प्रौढ वर्ण सुधर्मा-
मभ्यासीने हरति मधवस्वर्ग्ग सामान्य......

(३) × × संपादेन व्यत्यार [वा] तिः कियत्यपि च यस्या-
लिंगितुं शक्यते मर्यादापरि × × × × × ×

(४) × × कं विवेका दुरसिद्धि रसिकं लेनेत्रयो रादधाति
॥ २१३ ॥ × × × × × × ×

(५) 'मर्ग' और 'खाल'

[लेखक—श्री जयचंद्र विद्यालंकार]

कश्मीर और कुमाऊँ दोनों में जो घूमें हों उन्हें आसानी से यह बात दिखाई दी होगी कि कश्मीरी 'मर्ग' और कुमाऊनी 'खाल' एक ही वस्तु है। दोनों का अर्थ एक ही है—पहाड़ के ऊपर का कोई छोटा सा लहरदार मैदान जो चरागाह के रूप में काम आता हो। कश्मीरी 'मर्ग' की व्युत्पत्ति डा० स्टाइन ने संस्कृत 'मठिका' से की है।* उस प्रकार की ऊँची ठंडी चरागाहों के बीच चरवाहे लोग अपनी झोंपड़ी या कुटिया (मठिका) डाल देते हैं, इसलिये लक्षणा से वैसी चरागाहों का नाम ही मठिका हो गया। 'मठ' (कोठरी) का कश्मीरी रूप 'मर' अभी तक प्रयुक्त है; इसी से डा० स्टाइन का कहना है कि 'मठिका' का रूपांतर 'मर्ग' है।

उसी अर्थ में कुमाऊँ में खाल शब्द क्यों चलता है, सो मेरी समझ में नहीं आता था। मेरे मित्र पं० गंगादत्त पाँडे ने हाल में मुझे बताया है कि वैसी चरागाहों के बीच पानी का कोई छोटा-मोटा जोहड़ (पोखरा) अवश्य रहता है, इसी से वे खाल कहलाती हैं। यह व्याख्या सर्वथा सार्थक है। ब्रजभाषा में खार शब्द बरसाती नाले के अर्थ में प्रयुक्त है। बँगला 'खाल' का भी ठीक वही अर्थ है। इस प्रकार ब्रज और बंगाल के 'खार' या 'खाल' और कुमाऊनी 'खाल' का मूल एक ही है। पर लक्षणा से कुमाऊनी 'खाल' का अर्थ सर्वथा विभिन्न हो गया है।

काशी, २५. ३. ६५।

* राजतरंगिणी का अनुवाद, २, ४०६।

(६) गुप्त-कुंतल संबंध

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन काल में बंबई प्रांत का दक्षिणी भाग तथा मैसूर का उत्तरी प्रदेश 'कुंतल' के नाम से प्रसिद्ध था। मैसूर गज़ट में वर्णन आता[1] है कि कुंतल भीमा तथा वेदवती नदियों के मध्य भाग का नाम था। पश्चिम की ओर घाट अवस्थित है जिसमें सिमोगा, चितलदुर्ग, वेलारी, धारवार तथा बीजापुर के जिले सम्मिलित हैं। इस प्रदेश का शासन ईसा की दूसरी शताब्दी तक सातवाहन वंश के हाथ में था। अपरांत कर्नाट तथा मैसूर प्रांत के उत्तर में उपलब्ध लेखों में शातकर्णी नामक वंश का वर्णन मिलता है[2] जो कुंतल पर शासन करता था। मत्स्य-पुराण में इसी वंश के दो शातकर्णी का उल्लेख आता है। सातवाहन के पश्चात् यह प्रांत चूटू लोगों के अधिकार में आ गया जो मैसूर पर अधिक समय तक शासन करते रहे। अनेक चूटू शासकों के सिक्के अनंतपुर के जिले में मिले हैं[3]। मल्लवल्ली नामक स्थान पर उनकी एक प्रशस्ति[4] भी मिली है जिससे प्रकट होता है कि कुंतल प्रांत पर चूटू नरेशों का अधिकार अधिक समय तक रहा।

चूटू नरेशों के पश्चात् कुंतल प्रांत किस वंश के अधिकार में आया, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अजंता[5] तथा बालाघाट[6] के लेखों

१—मैसूर गज़ट १ पृ० २८६।

२—काव्यमीमांसा पृ० ५०।

३—रैप्सन—आंध्र सिक्कों की सूची।

४—एपिग्राफिका कर्नाटिका भा० ७ पृ० २६३

५—आर्के० सर्वे पश्चिमी भारत भा० ४।

६—एपि० इंडिका ९ पृ० २०७।

के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि कुंतल पर वाकाटक राजाओं का शासन चूटूटुओं के पश्चात् निश्चित रूप से हो गया था। वाकाटक रुद्रसेन को गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने पराजित किया था, उसके बाद पृथ्वीषेण का अधिकार कुंतल पर हुआ होगा। साहित्यिक प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि प्रवरसेन नामक राजा कुंतलेश के नाम से प्रसिद्ध था। सेतुबंधकाव्य में केवल कुंतलेश का उल्लेख मिलता है—

"जलाशयस्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरिचौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलङ्कान्तमपूर्वसेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुंतलेशः॥"

हर्षचरित की भूमिका में बाण ने सेतुबंधकाव्य का रचयिता प्रवरसेन को माना है—

"कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥"

इस प्रकार प्रवरसेन नामक राजा कुंतलेश समझा जाता है। परंतु यह कौन प्रवरसेन है, इसमें विवाद है। पृथ्वीषेण ने तो कुंतल पर अपना अधिकार स्थापित किया, अतएव यह प्रवरसेन द्वितीय ही माना जा सकता है, जो ई० सन् ४०० के समीप शासक बना। कल्हण ने राजतरंगिणी में एक प्रवरसेन नामक काश्मीर नरेश का उल्लेख किया[१] है जिसने वितस्ता नदी पर एक पुल का निर्माण किया था। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं है कि यह दोनों प्रवरसेन भिन्न व्यक्ति हैं। वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय रुद्रसेन का पुत्र था और काश्मीर का राजा प्रवरसेन मेघवाहन का लड़का था। कुछ लोगों की धारणा है कि सेतुबंधकाव्य को महाकवि कालिदास ने तैयार किया और वाकाटक राजा को समर्पित कर दिया। साहित्यिक बातों से पूर्णतया निश्चित करना अत्यंत कठिन है कि कुंतलेश का नाम क्या था। बाण-कथित प्रवरसेन काश्मीर का शासक था या वाकाटक राजा था यह उस पद्य से प्रकट नहीं होता है। शिलालेखों (अजंता या बालाघाट) के

१—राजतरंगिणी ३, ९७, १०९

आधार पर यह ज्ञात होता है कि चूटु शासकों के पश्चात् कुंतल वाकाटक अधिकार में चला गया था। अजंता के लेख के आधार पर यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीषेण ने कुंतल पर विजय प्राप्त की थी। परंतु यह कहना कठिन है कि कुंतल पर यह अधिकार कितने समय तक रहा। संभवतः कुछ ही वर्षों के बाद कुंतल वाकाटकों के हाथ से निकल गया।

चूटु राजाओं की मल्लवल्ली की स्तंभप्रशस्ति का उल्लेख किया जा चुका है। उसी स्तंभ पर एक और लेख खुदा है जिसमें शासक का नाम उल्लिखित नहीं है। परंतु एक हो स्तंभ पर खुदे होने के कारण दोनों लेख समीप के ज्ञात होते हैं। संभवतः अज्ञात राजा चूटु के बाद इस प्रांत का शासक हो गया। मैसूर के चंद्रवल्ली नामक स्थान में एक स्तंभ-लेख मिला[1] है जिसमें कदंबवंशीय राजा मयूरशर्मन् का नाम उल्लिखित है। इस लेख की भाषा (प्राकृत), तिथि-उल्लेख तथा लिपि मल्लवल्ली के अज्ञात राजा के लेख से मिलती है। अतएव यह दोनों स्तंभलेख समकालीन मालूम पड़ते हैं। इस आधार पर मयूरशर्मन् ही दोनों लेखों का कर्त्ता होता है। यह भी प्रकट है कि कुंतल प्रदेश पर चूटु लोगों के अनंतर कदंबवंश का चिर अधिकार स्थापित हो गया, यद्यपि कुछ काल तक वाकाटक नरेश शासन करता रहा।

कदंब राजा मयूरशर्मा किस गुप्त नरेश के समकालीन था, यह विषय विवादग्रस्त है। गोपालन तथा मोरेस मयूरशर्मा को गुप्त शासक समुद्रगुप्त के समकालीन मानते हैं। परंतु इस मत के मानने में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। इस वंश के विस्तृत इतिहास से यहाँ प्रयोजन नहीं है। मयूरशर्मा की समकालीनता सिद्ध करने के प्रमाणों को यहाँ बतलाना आवश्यक नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि समुद्रगुप्त से पूर्व काल में मयूरशर्मा शासन करता रहा। इस

१—आर्के० सर्वे० मैसूर १६२६ पृ० ५०—
"कदम्बानां मयूरशर्मणा विनिम्य तडाक-दूम-त्रैकूट-आभीर-पल्लव-परियात्रिक-सकस्थान-सैन्दक-पुनाट-मोकरिणाम् ।"

गुप्त राजा के समकालीन उस कदंब नरेश के पुत्र तथा पौत्र होंगे। मयूरशर्मा का प्रपौत्र ककुस्थवर्मा था। इसी के लेख से ज्ञात होता है कि कदंब नरेश ने अपनी पुत्री का विवाह गुप्त वंश में किया था[१]। ककुस्थवर्मन् गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन ज्ञात होता है[२]। यही गुप्त-कुंतलों का प्रथम संबंध था।

दूसरा संबंध काव्य के आधार पर स्थापित किया जाता है। राजा भोज के शृंगार-प्रकाश के आठवें प्रकाश में एक संदर्भ मिलता है। उस स्थान पर कालिदास तथा विक्रमादित्य में कुंतल-नरेश के विषय में वार्त्तालाप का निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

"असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या,
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥"

अर्थात् हे राजन्, कुंतल नरेश कामी तथा व्यसनी शासक है। उसने आप ही के ऊपर समस्त राजकार्य का भार छोड़ दिया है। इसके आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि महाकवि कालिदास विक्रमादित्य के राजदूत बनकर कुंतल राजा की सभा में गये थे। इसकी पुष्टि क्षेमेंद्र कृत 'औचित्य-विचार-चर्चा' से होती है। इस पुस्तक में वर्णित बातों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि कालिदास ने किसी 'कुंतलेश्वर-दौत्य' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इस पुस्तक के नाम से ही ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास कुंतल राजा के पास दूत बनकर गए थे। क्षेमेंद्र ने अपनी पुस्तक में कालिदास के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है—

१—तालगुंड का लेख (एपि० इंडिका भा० ८ पृ० २४)—

"गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसम्भ्रमकेसरानि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि यो बोधयेत् दुहितृदीधितिभिर्नृपार्कः॥"

२—इं० हि० क्वा० भा० ६ पृ० १६७–२०१।

"इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये ।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥"

कहा जाता है कि कालिदास जब दूत बनकर कुंतल-राजसभा में पहुँचे तो पृथ्वी पर ही बैठ गए। इस पर राजा ने उच्च आसन देने के लिये आग्रह किया। कवि ने उत्तर दिया कि जहाँ पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु तथा सातों समुद्र हैं, वह स्थान मेरे लिये भी अनुपयुक्त नहीं है, अर्थात् पृथ्वी पर बैठने में कोई असम्मान की बात नहीं।

यद्यपि मौलिक ग्रंथ का पता नहीं लगा है तथापि इन संदर्भों के आधार पर स्थिर किया जाता है कि महाकवि कालिदास, विक्रमादित्य की आज्ञा से, कुंतल के दरबार में राजदूत बनकर गए थे। काल-क्रम के अनुसार गुप्त तथा कुंतल का यह प्रथम संबंध है। इसके पश्चात् ही कुंतल-नरेश ककुस्थवर्मा ने अपनी पुत्री का विवाह गुप्त वंश में किया। इस वैवाहिक संबंध से मैत्री और भी दृढ़ हो गई। कालिदास के उपर्युक्त दौत्य-कर्म से यह अनुमान किया जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाकाटकों की राजधानी में स्थित होकर यह कार्य किया था। यह बात प्रकट है कि उसके जामाता रुद्रसेन द्वितीय के पश्चात् वाकाटक राज्य का शासन-प्रबंध गुप्तों द्वारा ही होता था। अतः यह संभव है कि वाकाटक राज्य में ठहरकर उसने कालिदास को राजदूत के रूप में भेजा हो। जो हो, परंतु गुप्त-कुंतल-संबंध की बातें उपरि-कथित दोनों बातों से स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

चयन

चंद्रगुप्त मौर्य के संबंध में खोज

भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट के मुखपत्र, खंड १८ भाग २ में श्री हरिश्चंद्रजी सेठ एम० ए०, पी-एच० डी० ने एक लेख प्रकाशित करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वस्तुत: चंद्रगुप्त मौर्य का न तो नंद वंश के साथ ही कोई संबंध था और न वह मगध का ही रहनेवाला था; वह उत्तर-पश्चिमी भारत का रहनेवाला था और संभवत: उसी का दूसरा नाम शशिगुप्त था। पत्रिका के पिछले अंक (भाग १८—अंक ४) में प्रकाशित डा० सेठ के लेख, 'अलेक्जेंडर की भारत में पराजय और दुर्गति', की यह पूर्ति करता है। अत: इस लेख की मुख्य मुख्य बातें यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

सबसे पहले विंसेंट स्मिथ ने लोगों में यह भ्रम फैलाया था कि चंद्रगुप्त मगध के नंद राजाओं का एक वंशधर था और मुरा नाम की दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसके इस विचार का मूल आधार यह था कि विशाखदत्त के मुद्रा-राक्षस नामक नाटक का जो परिचय सन् १७१३ ई० में ढुंढिराज ने लिखा था, उसी में ये सब बातें लिखी हुई थीं। परंतु इस विषय का इससे पहले का और कोई ऐसा प्रामाणिक तथा संतोषजनक उल्लेख नहीं मिलता, जिससे इस मत की पुष्टि हो सके। इसमें संदेह नहीं कि मुद्राराक्षस में भी एक दो स्थानों में कुछ ऐसी बातें आई हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त का नंदों के साथ कुछ संबंध था। पर साथ ही इस नाटक के अन्य स्थानों में कुछ ऐसी बातें भी आई हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि चंद्रगुप्त न तो मगध का रहनेवाला था और न नंदों के साथ उसका कोई संबंध ही था। अंतिम दृश्य में, जहाँ चाणक्य, चंद्रगुप्त और राक्षस एक साथ आते हैं वहाँ, ऐसा जान पड़ता है कि राक्षस ने चंद्रगुप्त और चाणक्य

को उसी समय पहले-पहल देखा था। यदि चंद्रगुप्त वस्तुत: मगध का रहनेवाला और नंदों का वंशधर होता, तो अवश्य ही राक्षस बहुत पहले से उससे परिचित होता। इसके अतिरिक्त चाणक्य ने तो नंद वंश का समूल नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। यदि चंद्रगुप्त भी नंदों का ही वंशधर होता, तो चाणक्य उसे कभी मगध के सिंहासन पर न बैठाता। इस विषय में राक्षस के आचरण की भी संगति नहीं बैठती। वह नंद वंश का परम भक्त था। यदि चंद्रगुप्त भी नंदों का ही वंशधर होता, तो राक्षस उसका विरोध न करता और मगध के सिंहासन पर मलयकेतु को, जो विदेशी और म्लेच्छ था, बैठाने के लिये तैयार न होता।

एक बात और है। अंतिम नंद राजा सर्वार्थसिद्धि, ढुंढिराज के अनुसार, चंद्रगुप्त का दादा होता था। लेकिन जब सर्वार्थसिद्धि मारा गया, तब तो चंद्रगुप्त ने कुछ भी न किया; और उसके साथी पर्वतक के मारे जाने पर चंद्रगुप्त ने उसकी अंत्येष्टि तक की थी। इससे सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त का नंदों के साथ कोई संबंध नहीं था और कदाचित् पर्वतक के साथ ही विशेष संबंध था।

वायु, विष्णु, मत्स्य, ब्रह्मांड और भागवत आदि पुराणों में चंद्रगुप्त के संबंध में इतना ही उल्लेख है कि उसने अपने अमात्य कौटिल्य की सहायता से नंद वंश का नाश करके मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की थी। उनमें इस बात का कहीं कोई संकेत तक नहीं मिलता कि नंदों के साथ चंद्रगुप्त का किसी प्रकार का संबंध था। पुराणों में इस बात का उल्लेख तो है कि महापद्मनंद शिशुनाग वंश के महानंदिन् की उपपत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। परन्तु चंद्रगुप्त के संबंध में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। यदि सचमुच चंद्रगुप्त भी इसी प्रकार नंद का दासीपुत्र होता तो पुराणों में इस बात का भी उल्लेख अवश्य होता।

जिन प्रमाणों के आधार पर डा० सेठ इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चंद्रगुप्त वस्तुत: उत्तर-पश्चिमी भारत का रहनेवाला था, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) पाटलिपुत्र की खुदाई में चंद्रगुप्त के जो प्रासाद निकले हैं, वे सब पारसी ढंग के हैं और परसेपोलिटन की नकल मालूम होते हैं। उसने भारत में जो बृहत् साम्राज्य स्थापित किया था, वह भी पारसीक साम्राज्य के ढंग का था। इससे सिद्ध होता है कि पारसीक साम्राज्य के साथ उसका घनिष्ठ वैयक्तिक परिचय था।

(२) सीरिया के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एप्पियन (समय ई० दूसरी शताब्दी का पहला चरण) ने चंद्रगुप्त के संबंध में लिखा है—"वह भारतीयों का राजा था जो सिंधु के पास रहता था।"

(३) सिकंदर ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया था, उस समय चंद्रगुप्त उत्तर-पश्चिमी प्रांत में था। यदि वह मगध का रहनेवाला था तो उस समय वह वहाँ किस प्रकार पहुँचा ? आधुनिक इतिहास-लेखकों ने इस समस्या का निराकरण एक ऐसे ढंग से किया है जो बिलकुल असंबद्ध और अविश्वसनीय जान पड़ता है। उस समय चंद्रगुप्त की अवस्था बीस वर्ष से भी कम रही होगी। परंतु कहा जाता है कि जब मगध में नंद का राज्य नष्ट करने में वह विफल हुआ, तब वह भागकर पंजाब चला गया। जब सिकंदर भारत से चला गया, तब उसने सहज में अश्मकों, मल्लों और पुरु सबको अपने अधीन कर लिया। इन्हीं लोगों ने सिकंदर का सबसे ज्यादा मुकाबला किया था। अत: सहसा इस बात पर विश्वास नहीं होता कि जिन लोगों को सिकंदर भी अपने अधीन नहीं कर सका था, उन्हें एक ऐसे नव-युवक ने अपने अधीन कर लिया, जो मगध से भागकर आया था और जिसके पूर्वजों या मूल निवास-स्थान के संबंध में लोग कुछ भी नहीं जानते थे। यह बात तो तभी मानी जा सकती है, जब यह भी मान लिया जाय कि चंद्रगुप्त मगध का रहनेवाला नहीं था, बल्कि उन्हीं उत्तर-पश्चिम-वासियों में से एक था।

(४) भारत के समस्त पश्चिमी सीमा-प्रांतों पर चंद्रगुप्त मौर्य और उसके वंशधरों का बहुत दिनों तक अधिकार बना रहा था। सबसे पहले मौर्यों के समय में ही भारत की यह पश्चिमी प्राकृत सीमा

भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित हुई थी। इस प्रदेश पर पूरा पूरा अधिकार स्थापित करने में न तो मुगलों को ही सफलता हुई थी और न अँगरेजों को ही हुई है। इससे भी यही अनुमान होता है कि चंद्रगुप्त पश्चिमी भारत का रहनेवाला था और इसी लिये वह वहाँ के वीर निवासियों को अपने वश में रख सका था।

(५) सिकंदर के भारत से जाते ही चंद्रगुप्त ने पंजाब में ग्रीक शक्ति का मूलोच्छेद कर दिया था, बल्कि उसके भारत छोड़ने के पहले ही उसके नियुक्त किए हुए अधिकांश ग्रीक क्षत्रप मार डाले गए थे। विंसेंट स्मिथ आदि का यह कहना ठीक नहीं है कि सिकंदर के जाने के कई वर्ष बाद चंद्रगुप्त ने मगध से आकर पंजाब की यूनानी सेनाओं का नाश किया था। वस्तुतः सिकंदर के भारत से प्रस्थान करने के कुछ महीनों के अंदर ही पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी शक्ति शायद ही कहीं नाम को रह गई थी।

अब यदि यह मान लिया जाय कि चंद्रगुप्त उत्तर-पश्चिमी भारत का ही रहनेवाला था, तो प्रश्न होता है कि यह चंद्रगुप्त कौन था। इस संबंध में डा० सेठ का मत है कि यह वही शशिगुप्त है, जिसका राज्य सिकंदर के समय में हिंदूकुश के पूरब में था और जिसे यूनानियों ने सिसिकोट्टोस कहा है। सिकंदर के मुकाबले में पारसवालों की सहायता करने के लिये वह अपनी सेना लेकर बैक्ट्रिया गया था। लेकिन जब पारसी परास्त हो गए, तब वह सिकंदर से मिल गया था। हिंदूकुश और सिंध के बीचवाले प्रदेश में अश्मकों ने सिकंदर का जबर-दस्त मुकाबला किया था। परंतु सिकंदर ने उस प्रदेश पर विजय प्राप्त करके उसे शशिगुप्त के अधीन कर दिया था; और तब उसने सिंधुनद पार किया था। सिकंदर जिस प्रदेश पर विजय प्राप्त करता था, उसी प्रदेश के किसी सरदार को वह प्रदेश सौंप दिया करता था। अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि शशिगुप्त ने वहाँ से आगे बढ़-कर सिकंदर की शक्ति का नाश किया था और तब उसने चाणक्य की सहायता से मगध पर भी विजय प्राप्त की थी। और जैसा कि मुद्रा-

राक्षस से प्रकट है, इस काम में पंजाब और सिंध के राजाओं ने उसकी सहायता की थी।

इस प्रकार संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि चंद्रगुप्त वस्तुतः यही शशिगुप्त था और अश्मक क्षत्रियों का सरदार था। जब मौर्यों ने भारत के अन्यान्य प्रदेशों पर विजय प्राप्त की, तब कई प्रदेशों में अश्वक या अश्मक लोग बस गए थे। यहाँ तक कि बौद्ध साहित्य में गोदावरी के तट पर भी दक्षिणी अश्मक देश का उल्लेख मिलता है। रैप्सन ने लिखा है कि शूरसेनों की भाँति हैहय, अश्मक और वीतिहोत्र भी यदु के वंशधर अर्थात् चंद्रवंशी थे। और मेगास्थिनीज ने लिखा है कि चंद्रगुप्त चंद्रवंशी था।

एक बात और है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "मुरा" की संतान का नाम "मौर्य" नहीं हो सकता—वह "मौरेय" होना चाहिए। हिंदूकुश और सिंध के बीच के जिस प्रदेश में बहुत दिनों तक अश्मकों का राज्य था, उस प्रदेश में इस समय भी 'कोहे मोर' नाम का एक पर्वत वर्त्तमान है, जिसे यूनानी मेरोस कहते थे और जो कदाचित् संस्कृत का मेरु भी हो सकता है। और संभवतः इसी पर्वत के नाम पर चंद्रगुप्त ने अपने वंश का नाम "मौर्य" रखा होगा।

कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि शशिगुप्त से चंद्रगुप्त हो जाना कुछ भी कठिन नहीं है।

देवनागरी और भारत के मुसलमान शासक

बिहार ऐंड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल, खंड २३, भाग ४ में डा० हीरानंद शास्त्री महोदय का उपर्युक्त शीर्षक का एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। यहाँ हम उसका अनुवाद देते हैं:

"मौर्यकाल में भारतवर्ष में एक सामान्य वर्णमाला प्रचलित थी, यह बात पुरातत्त्ववेत्ताओं अथवा अभिलेखों के ज्ञाताओं को, जिन्होंने प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखे अभिलेखों का अध्ययन किया है, विदित है। भारतवर्ष का अर्थ यहाँ इसी नाम से ज्ञात इस भूखंड का कोई भाग-विशेष नहीं है, किंतु कुमारी अंतरीप से हिमालय प्रदेश तक विस्तृत यह समस्त विशाल देश है। महान् मौर्य सम्राट् अशोक ने इस समस्त भूखंड पर शासन न किया हो, परंतु अपने प्रख्यात धर्मलेखों में उसने जिस वर्णमाला का उपयोग किया वह उसके विशाल साम्राज्य से बाहर के प्रदेशों में स्वतंत्र व्यक्तियों के द्वारा भी व्यवहृत होती थी। सिंहल में भी उन दिनों यही लिपि चलती थी। भारतवर्ष के दूर दक्षिण में, अर्थात् तिरुनेवली (तिनेवेली) प्रांत में, अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो मौर्यशैली की ब्राह्मी लिपि में लिखे गए थे। ऐसे ही लेख सिंहल में भी मिले हैं। यह लिपि स्पष्टत: इस कारण व्यवहृत होती थी कि उन प्रदेशों के निवासी इसे पढ़ सकते थे। इससे अनेक वर्णमालाएँ उद्भूत हुईं जो विभिन्न प्रांतों में चल पड़ीं। वर्णों के रूप धीरे धीरे परिवर्तित हो गए। परंतु वे परिवर्तन ही हैं और जननी लिपि ब्राह्मी है जो एक समय समस्त भारत की सामान्य लिपि थी। एक साधारण तुलना इस बात को स्पष्ट कर देगी। यहाँ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं।

विकसित लिपियों में एक का नाम देवनागरी या नागरी है। इसका यह नाम क्यों है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता,

परंतु यह नागरों की अथवा बहुत सभ्य लोगों की वर्णमाला थी। ईसा की ७वीं शताब्दी में इस वर्णमाला ने अपना निश्चित रूप बना लिया था—इतना कि 'उष्णीषविजयधारिणी' की हस्तलिखित प्रति के साथ, जो 'होराउजीतालपत्र' के नाम से प्रसिद्ध अन्य प्रतियों के साथ जापान भेजी गई थी और जो जापानी अनुश्रुति के अनुसार निश्चय से ईसा की ६ठी शताब्दी के अपरार्ध में वर्तमान थी, इसका एक चित्र लगा दिया गया था। स्वर्गीय डा० ब्यूलर का इस वर्णमाला के संबंध में कथन है कि "यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि आधुनिक देवनागरी से बहुत मिलती हुई एक वर्णमाला ७वीं और ८वीं शताब्दियों में और संभवतः इससे और पहले अवश्य साधारणतया व्यवहृत होती थी।" राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग का समंगढ़ दानपत्र, जो ७५४ ई० का है, यह प्रमाणित करेगा कि यह ईसा की ८वीं शताब्दी में इस रूप में हो गई थी। ब्यूलर ने इस बात को भारतीय लिपिमाला-विषयक अपने महान् ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया है। ईसा की १०वीं शताब्दी के लगभग यह लिपि स्थिर हो गई और इसने वह रूप धारण कर लिया जो चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। हल्के विभेद कभी कभी दिखाई देते हैं, परंतु वे व्यक्तिगत और रुचि-वैचित्र्यगत हैं। उदाहरणार्थ, इन वर्णों को लिखने का जैन लोगों का अपना ही ढंग था। उन्हें सरलता से पढ़ने के लिये अभ्यास की अपेक्षा है। इस्लाम के आगमन के समय देवनागरी या नागरी का एक स्थिर रूप व्यवहार में था और यह मुख्यतः उत्तर भारत में चलता था, यद्यपि इसके प्रयोग के उदाहरण दक्षिण में भी मिलते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जैन इसे बहुत चाहते थे और अपने ग्रंथ तथा पत्र इसी में लिखते थे। मेरे पास १७८० विक्रमी (=१७२३ ई०) के जैन हस्तलिखित ग्रंथ हैं जो औरंगाबाद में इसी वर्णमाला में लिखे गए थे, यद्यपि उस समय वहाँ के लोगों की लिपि नागरी नहीं कनाड़ी थी। यही नहीं, वे हिंदी काव्य के प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। सबसे पुराने दोहे, जिनका अब तक पता लगा है, जैनों के द्वारा लिखे गए थे। इस

बात का उस बहुश्रुत विद्वान्, हिंदी के सुप्रसिद्ध समर्थक, मेरे स्वर्गीय प्रिय मित्र, नहीं भाई डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने, जिनकी स्मृति में ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं, विशद उल्लेख किया है। यदि मैं भ्रम में नहीं हूँ तो हिंदी में सबसे पुरानी पद्यरचनाएँ जैन मुनियों की लेखनी से प्रसूत हैं। इसके लिये हिंदी के हिमायती उनके प्रति नत-मस्तक होंगे। ये रचनाएँ निस्संदेह प्राकृत में हैं, परंतु वह प्राकृत हिंदी की सगी है, इसकी पूर्वजा है। परंतु यह यहाँ विचार्य विषय नहीं है। बात यह है कि यद्यपि उत्तर में अनेक छोटी लिपियाँ थीं, परंतु मुसलमान-आक्रमण के समय देश के शासकों के द्वारा व्यवहृत मुख्य वर्णमाला देवनागरी थी। अलबेरूनी, वह प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् जो महमूद गजनवी के आक्रमणों में उसके दल के साथ था, अपने 'तहक़ीके हिंद' में, जो १०३० ई० के लगभग पूरा हो गया था और जो हिंदू आचार, विज्ञान और साहित्य के वर्णन के विचार से बहुत ही मूल्यवान् है, इसके विषय में कहता है कि "हिंदू एक बार लेखन-कला भूल गए थे; एक दिव्य प्रेरणा के द्वारा पराशर के पुत्र व्यास ने इसे फिर उपलब्ध किया।" महान् मुसलमान संस्कृतज्ञ के इस कथन से प्रकट होगा कि उसके काल में देवनागरी हिंदुओं की सामान्य लिपि थी। महमूद ने अवश्य इसे भारत की मुख्य वर्णमाला माना होगा और इसी से उसने अपने विख्यात चाँदी के सिक्के में, जिसे उसने ४१८ हिजरी (=१०२७ ई०) में महमूदपुर या लाहोर से चलाया था, इसे प्रयुक्त किया। वह सिक्का प्रकाशित हो चुका है। उसने कलिमा संस्कृत में अनूदित कराया और उसे सिक्के के मुखपक्ष में इसी लिपि में, जो उसके लिये काफिरों अथवा मूर्तिपूजक नास्तिकों की लिपि थी, अंकित कराया। वह इस प्रकार है—

'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद'

'ईश्वर एक अदृश्य है, मुहम्मद उसका प्रतिनिधि, महमूद राजा।'

पीछे अंकित है, 'अयं टंकम् महमूदपुरघटिते हिजरियेन संवति ४१८', अर्थात् यह सिक्का महमूदपुर (या लाहोर) में हिजरी सन् ४१८ में

ढला था। संस्कृत सदोष है, किंतु इस प्रसंग में इसका कोई महत्त्व नहीं है। यह तथ्य स्थिर रहता है कि महमूद गजनवी जैसे महत्त्वाकांक्षी ने, जिसके हृदय में हिंदुओं के लिये कोई स्नेह नहीं था, अपने सिक्के पर उनकी लिपि का प्रयोग किया और इसमें पवित्र कलिमा लिखवाया।

दिल्ली के सुल्तान बादशाह मुहम्मद बिन साम ने अपने सोने के सिक्कों के मुखपक्ष में संपत्ति की देवी लक्ष्मी की मूर्ति तक रखने की अनुमति दी और दूसरे पक्ष में 'श्रीमुहम्मदविनिसाम्' यह गाथा लिखवाई। शम्सुद्दीन अल्तमश (१२१०-३५ ई०) और रुक्नुद्दीन फीरोजशाह (१२३५-३६ ई०) के सिक्कों में गाथाएँ देवनागरी में हैं। केवल इन्हीं मुसलमान शासकों ने नहीं, किंतु निम्नलिखित शासकों ने भी देवनागरी वर्णमाला को अपने सिक्कों में स्थान दिया था।

(१) जलालुद्दीन रजिया, प्रसिद्ध बेगम (जिसने १२३६ से १२३९ ई० तक शासन किया)।

(२) मुइज्जुद्दीन बहरामशाह (१२३९—१२४१ ई०)।

(३) अलाउद्दीन मसऊद शाह (१२४१—१२४६ ई०)।

(४) नासिरुद्दीन महमूद (१२४६—१२६५ ई०)।

(५) गियासुद्दीन बलबन (१२६५—१२८७) ई०।

(६) मुइज्जुद्दीन कैकुबाद (१२८७—१२९० ई०)।

(७) जलालुद्दीन फीरोज २ (१२९०—१२९५ ई०)।

(८) अलाउद्दीन मुहम्मदशाह २ (१२९५—१३१५ ई०)।

गियासुद्दीन तुगलक ने भी, जिसने १३२० से १३२५ ई० तक शासन किया, अपने सिक्के पर इस लिपि का प्रयोग किया, जहाँ 'श्रीसुलतां गयासुदीं' यह लिखा मिलता है। उसके परवर्ती मुहम्मद तृतीय बिन तुगलक के कुछ सिक्कों पर भी 'श्रीमुहम्मद' इसी लिपि में लिखा है। आगे के काल में सूरि वंश के कुशल संस्थापक शेरशाह को, जिसने भारत का साम्राज्य हुमायूँ से छीन लिया और १५४० से १५४५ ई० तक लोकहित के अनेक कार्य करते हुए सफलता से शासन

किया, अपने सिक्कों पर गाथाओं के लिखने में हम इसी लिपि का प्रयोग करते पाते हैं। उसके परवर्ती इस्लामशाह (१५४५—१५५२ ई०) और मुहम्मद आदिलशाह (१५५२-५६ ई०) ने इसका ऐसा ही प्रयोग किया।

आगे हम देखते हैं कि अनेक अन्य मुसलमान शासकों को नागरी लिपि के प्रयोग के प्रति कोई विरोध नहीं था। उदाहरणार्थ, गियासुद्दीन इवाज ने, जिसने १२११ से १२१६ ई० तक बंगाल का शासन किया, गियासुद्दीन बहादुरशाह ने, जिसने १५५४ से १५६० ई० तक राज्य किया और दाऊदशाह कररानी ने, जिसने १५७२ से १५७६ ई० तक उस प्रांत का शासन किया, इसी लिपि में अपनी गाथाएँ लिखीं। चार स्वतंत्र मुसलमान शासकों ने भी, जो दिल्ली के सुल्तान बादशाहों के समकालीन थे—नासिरुद्दीन कुबाचा (१२०३—१२२८ ई०), ख्वारिज्म का जलालुद्दीन (१२२०—१२२४ ई०), सैफुद्दीन अलहसन कुरलग (१२३६—१२४६ ई०) और नासिरुद्दीन मुहम्मद कुरलग (१२४९ ई०)—अपने सिक्कों पर गाथाएँ हिंदी में अंकित कीं।

और इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि ससानी वंश, जो पश्चिमी भारत में हूणों के आक्रमण के बाद स्थापित हुआ था, अपने सिक्कों पर पहलवी के साथ देवनागरी लिपि का प्रयोग करता था। इनमें से एक सिक्के पर 'शाही तिगिन' का नाम है और उसकी नागरी गाथा का अर्थ 'भारत और फारस का राजा' है।

ये तथ्य स्पष्टतया बताएँगे कि विभिन्न वंशों के मुसलमान शासक, जिन्होंने भारत पर अधिकार किया,—जब से कि अर्धचंद्र इस भूमि पर लहराने लगा तभी से—देवनागरी लिपि के समर्थक थे, जिसके प्रति अब मुसलमान जनता को बड़ी आपत्ति हो रही है। काल की आवश्यकताओं के कारण इसकी माँग हुई और करोड़ों हिंदुओं की सदिच्छा से इसका पोषण भी हुआ। भारतीय मुसलमान उपरिलिखित तथ्यों पर ध्यान दें और यदि कुछ प्रतिकूल धारणाएँ हों तो उन्हें त्यागकर भारत में देवनागरी को अपने मार्ग पर निर्विघ्न चलने दें।

समीक्षा

नारी—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; पृष्ठ-संख्या २१६; मूल्य १।।) ।

जमना एक साधारण हिंदू गृहस्थ नारी है। उसका पति बिंदा (वृंदावन) नौकरी के लिये कलकत्ते गया और बरसों तक लौटकर न आया। इस बीच जमना के देवोपम ससुर की मृत्यु हो गई और वह अपने एकमात्र बच्चे हरलाल को लेकर पति के वियोग में किसी तरह दिन काटने लगी। इसी वियोग-काल में एक दिन डाकिया एक पैकेट दे जाता है जिसे वह अपने पति का पत्र समझकर उत्सुकतापूर्वक हल्ली (हरलाल) से पढ़वाने चलती है, पर उसे निराश होना पड़ता है। उसमें हल्ली का सूचीपत्र निकलता है जिसे उसने कहीं से लिखकर मँगवाया था। उस रंगीन सूचीपत्र के पीछे हल्ली अपने सहपाठियों, विशेषकर हीरा, की ईर्ष्या का पात्र बनता है और शाला के पंडितजी द्वारा पिटता भी है।

हीरा मोतीलाल चौधरी का लड़का है जो अपने कई सौ रुपए जमना पर निकालता है। मोतीलाल महाजनी परंपरा का सच्चा प्रतिनिधि है—लोभी, धूर्त और बेईमान। जमना उसका ऋण चुका देती है पर वह झूठी रसीदें देकर उसे धोखा देता है। वह रुपए पाकर भी जमना के कुएँ, खेत और उसके पुत्र समान प्यारे आम के पेड़ पर अधिकार करना चाहता है। वह पहले तो अजीत से सौदा करता है पर जब उससे दाल नहीं गलती तो वह सीधे बिंदा से जाकर परदेस में मिलता है और उससे झूठमूठ कहता है कि जमना अब अजीत के साथ रहती है। वह उसे कुवाँ और खेत अपने नाम लिख देने के लिये तैयार करता है और उसे सदर की कचहरी में ले जाकर शीघ्रता

से लिखा-पढ़ी पक्की करा लेता है। बेचारा बिंदा सदर तक आकर भी घर नहीं आता।

जमना अपूर्व सुंदरी है, किंतु इतनी गंभीर, आस्तिक और पति-भक्त कि वह दूसरा पति करने की बात भी नहीं सोच सकती, यद्यपि उसके समाज में इसके लिये निषेध नहीं। वह सीधी इतनी है कि उसे विश्वास नहीं होता कि मोतीलाल उसे झूठी रसीद दे सकता है या हीरा हल्ली के रुपए चुरा सकता है। अजीत माते के लाख प्रयत्न करने पर भी वह यह कहना नहीं चाहती कि उसे मोतीलाल के रुपए नहीं देने हैं। बुरा तो वह किसी का सोच ही नहीं सकती।

अजीत माते अपनी स्त्री के देहांत के बाद से एकांत जीवन व्यतीत करता है। जंत्र मंत्र के लिये तो वह प्रसिद्ध है ही, उसे वह सारी समयोचित विद्या भी स्वभावसिद्ध है जो एक सफल ओझा के लिये अपेक्षित होती है। इसके सिवा प्रबल पुरुषत्व उसके मन और शरीर दोनों में भरा हुआ है। उसमें अपूर्व साहस है और वह दुनियादारी से खूब परिचित है। यही अजीत एक दिन ऊपर से तो केवल असहाय जमना का हितू बनकर, पर भीतर उसे वश में करने की एक अदम्य आकांक्षा लिए हुए, उसकी छोटी सी गिरिस्ती में उतरता हुआ दिखाई देता है। वह जमना को एक समझदार औरत की तरह घर बसाने की शिक्षा देता है और अपने सूने जीवन के अभाव की ओर उसकी सहानुभूति खींचता है। वह उसे महाजन का भय दिखाकर अपने को उसका एक मात्र रक्षक सिद्ध करना चाहता है और उसे यह विश्वास दिलाने के लिये कि उसका पति मर गया, वह नीच जगलाल को गवाह पेश करता है। किंतु जमना पर उसका कोई जंत्र मंत्र नहीं चलता। तब वह सच्चे प्रेमी की भाँति सब प्रकार से जमना के हित-साधन में जुट पड़ता है और अनेक कष्ट सहता है। अंत में जमना कृतज्ञता से द्रवित होकर उसके साथ घर बसाने को तैयार हो जाती है। पर मानो उसका धर्म उसे इस भूल को सँभाल लेने के लिये एक अवसर

देता है। अजीत विचार करने के लिये समय माँगता है और इस बीच जमना सचमुच सँभल जाती है।

जमना के जीवन का हल्ली ही एक सहारा है। हल्ली के लिये ही वह मजबूर होकर अजीत के सामने झुक जाती है। हल्ली यद्यपि अजीत को प्यार करता था, पर माँ के साथ उसके नए संबंध की कल्पना करके वह उससे जल उठता है। पिता के वियोग तथा माता के दुःख से वह बीमार पड़ता है, पर फिर यह समझकर कि माँ के दुःख का वही कारण हो रहा है, वह जमना को अजीत के घर रहने की सम्मति देता है। जमना उसकी इस कमजोरी पर उसे मीठी सी झिड़की देती है। फिर वह अपनी संपत्ति को सदा के लिये मोतीलाल पर निछावर करके पुत्र के साथ चल पड़ती है—जीवन के उस अंधकारमय अनंत पथ पर जिसका कहीं छोर नहीं। लेखक के शब्दों में "वह चिरंतन नारी युग युग के अंधकार में उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है,—दुःख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके! उसे कोई भय नहीं है, कोई चिंता नहीं है।"

नारी का क्षेत्र बड़े बड़े नगरों की विक्षोभकारी भीड़भाड़ से दूर उस शांत वातावरण में है जहाँ भारत का हृदय स्थित है। उसमें न दिमागी लड़ाई लड़नेवाले चरित्रों का ढेर है, न साँस रोकनेवाली जटिल घटनाओं की भरमार। प्रेम की गुदगुदानेवाली अठखेलियाँ भी नहीं हैं। जो है वह सामान्य और चिर परिचित। पर लेखक की मर्म-भरी लेखनी के स्पर्श से वह पारस हो गया है। उपन्यास में हमें काव्य का सा रस मिलता है। क्यों न हो? सियारामशरणजी उप-न्यासकार के पहले तो सिद्धहस्त कवि ही हैं। उनकी इस कृति के बीच बीच में छिपा हुआ काव्यमर्म उसी प्रकार हृदय को स्पर्श कर लेता है जिस प्रकार हल्ली को अपने बिरवे के घने पल्लवों में छिपे हुए आम के गुच्छे दिखाई पड़ते हैं। वह हल्ली और उसकी बालमंडली तो जैसे इस उपन्यास का प्राण ही है। पर जिस प्रकार मधुर बाल्यावस्था के बाद हल्ली को कठोर संसार का सामना करना पड़ा उसी प्रकार अंत में

पूरे बल के साथ एक समस्या हमारे हृदय में चुभ जाती है, जब हम अंधकार में विलीन होती हुई असहाय जमना के पीछे व्यर्थ आँखें फाड़े हुए सन्न-से खड़े रह जाते हैं। उस समय कुछ देर के लिये हमें विचार में पड़ जाना पड़ता है।

गुप्तजी की यह सुंदर कृति हिंदी संसार के लिये अवश्य मान्य होगी।

चित्रगुप्त

हिंदुस्तानी की पहली किताब—प्रकाशक दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा, मदरास; पृष्ठ संख्या ६५; मूल्य लिखा नहीं।

यह "पहली किताब" मदरास सरकार के लिये तैयार की गई है और वहाँ के प्राइमरी स्कूलों में कदाचित् अनिवार्य रूप से पढ़ाई जायगी। पुस्तक के आरंभ में मदरास सरकार के प्रधान सचिव के नाम मौलाना अब्बुल कलाम आजाद का लिखा हुआ अँगरेजी भाषा में एक प्रमाणपत्र भी छपा है, जिसमें कहा गया है कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह वास्तव में उस भाषा का सच्चा नमूना है, जिसे सार्वप्रांतीय भाषा "बनने" का स्वाभाविक अधिकार है। मतलब यह कि यह वह भाषा है जो सब प्रांतों के पारस्परिक विचार-विनिमय के लिये गढ़ी जा रही है—वस्तुतः कोई ऐसी भाषा नहीं है जो पहले से देश में चली आ रही हो। और बात है भी ठीक।

कुछ ही वर्ष पहले हमारे प्रांत की सरकार ने हिंदुस्तानी नाम की एक ऐसी नई भाषा गढ़ने का विचार किया था जो नागरी और फारसी दोनों लिपियों में समान रूप से लिखी जा सके, जिसे हिंदू और मुसलमान सभी समझ सकें। समझदारों का माथा उसी समय ठनका था। परंतु यह कल्पना ऊपर से देखने में बहुत ही सुंदर थी और इसलिये इसने उन लोगों को बहुत जल्दी मोह लिया जिनके हाथ में देश के राजनीतिक आंदोलन की बाग-डोर थी। अवश्य ही हिंदी

और उर्दू दोनों भाषाओं के साहित्यसेवी इस नई गढ़ी जानेवाली भाषा को सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे; क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे और जानते हैं कि आजकल "हिंदुस्तानी" के नाम से जो नई भाषा गढ़ी जा रही है वह इसलिये साहित्य के किसी काम की नहीं है कि गंभीर विषयों तथा उच्च विचारों के व्यंजन के लिये उसका उपयोग नहीं हो सकता। परंतु देश के राजनीतिक नेताओं ने बिना सोच-विचार किए और बिना साहित्यसेवियों और भाषाविदों का कुछ भी परामर्श लिए केवल इस उद्देश्य से इस भाषा का समर्थन और प्रचार करना आवश्यक समझ लिया कि इससे देश के भिन्न भिन्न संप्रदायों और जातियों में एकता बढ़ेगी। यह विषय बहुत गंभीर है और एक छोटी सी पुस्तक की समीक्षा में इसके सब अंगों का विवेचन न तो संभव ही है और न वांछनीय ही।

मदरास की वर्त्तमान आधुनिक सरकार अपने प्रांत में इस नई हिंदुस्तानी भाषा का प्रचार करने पर तुल गई है और इसी लिये यह "पहली किताब" तैयार कराई गई है। यह पहली किताब उस मदरास प्रांत के बालकों को पढ़ाई जायगी जहाँ के हिंदुओं की बात तो जाने दीजिए, बड़े बड़े पढ़े-लिखे मुसलमान भी अरबी फारसी का एक शब्द नहीं जानते। यह पुस्तक मदरासवालों को यह बतलावेगी कि उत्तरी भारत में हिंदी और उर्दू नाम की दो अलग अलग भाषाएँ हैं, जिन्हें क्रमशः हिंदू और मुसलमान बोलते हैं और जिन दोनों के संयोग से यह नई हिंदुस्तानी भाषा बन रही है। यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मदरास सरीखे प्रांत में, जहाँ की भाषाओं में तीन-चौथाई के लगभग संस्कृत के शब्द होते हैं, इस हिंदुस्तानी भाषा के प्रचार का राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से कितना घातक प्रभाव पड़ेगा। लेकिन दुःख इसी बात का है कि इस थोड़े से समय में ही वह हिंदी पर बहुत बड़ा आघात कर जायगी। और इस आघात से हिंदी को बचाना प्रत्येक हिंदीसेवी का परम कर्त्तव्य है।

खैर; पुस्तक में जहाँ तहाँ इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि यह या तो किसी हिंदी-दाँ मौलवी की लिखी है और या किसी ऐसे

सज्जन की लिखी है जिन पर उर्दू-फारसी का काफी प्रभाव है। पुस्तक में हिंदी भाषा के शब्द अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और अरबी-फारसी के शब्दों की भर-मार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें ही पृष्ठ पर अकरम, ज़मज़म और अग़मत आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आए हैं जिनका मतलब शायद मदरास के बड़े बड़े मुल्ला भी न समझते होंगे। और इसी तरह के शब्दों से युक्त हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में पुस्तक के आरंभ में "बच्चों से" कहा गया है—"यह हमारे देश के करोड़ों आदमियों की जबान है और थोड़े दिनों में देश के सारे लोग इसे समझेंगे। ...... इससे आपस का मेल-जोल और बढ़ेगा।" अरबी और फारसी के मुश्किल से मुश्किल शब्द तो इसमें बिल्कुल शुद्ध रूप में रखे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे "अमृत" शब्द के भी हाथ-पैर तोड़कर उसे "अमरत" बना दिया गया है। पृ० ३७ में आया है—"रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-बी, नमस्ते।" यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या। अंतिम पृष्ठ पर "हमारा देश" शीर्षक कविता का पहला पद है—

"हिन्दुस्ताँ है देश हमारा, जान से हमको अपनी प्यारा।"

कैसी खासी उर्दू वाक्य-रचना है! अगर इसी को "हमको अपनी जान से प्यारा।" कर दिया जाता तो शायद उसमें हिंदी-पन आ जाता। लाना तो था हिंदुस्तानी-पन; इसलिये "जान से हमको अपनी प्यारा।" रखा गया, जिसका ठीक ठीक अन्वय शायद दिल्ली और लखनऊ के बच्चे भी न कर सकें।

और ऐसी पुस्तक किसने प्रकाशित की है? उस संस्था ने जिसका नाम "दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा" है और जिसकी स्थापना किसी समय दक्षिण भारत में सचमुच हिंदी का प्रचार करने के लिये हुई थी और जिसने दक्षिण में अब तक हिंदी का बहुत कुछ प्रशंसनीय प्रचार किया भी है!

रामचंद्र वर्मा

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची पत्रिका के दूसरे अंक में प्रकाशित होगी।—सं०।

विविध

पत्रिका, वर्ष ४२

"पहिले पहिल सन् १८९६ में यह पत्रिका त्रैमासिक रूप में इस अभिप्राय से निकाली गई कि इसके द्वारा ऐसे लेखों की संख्या बढ़ती रहे जिनका लक्ष्य न कि केवल पाठकों का मनोरंजन करना और उनके रंग में रंग मिलाना हो वरन् हिंदी बोलनेवालों के विचारों को कुछ आगे बढ़ाना और उनकी दृष्टि को कुछ और दूर तक फैलाना हो। १२ वर्ष तक यह पत्रिका उक्त निश्चय के अनुसार पुरातत्त्व, ज्योतिष, दर्शन तथा और और साधारण विषयों पर लेख लेकर उपस्थित होती रही और यदि उन बातों की जिनका हमारी भाषा में अभाव है, पूर्ति नहीं तो उन पर ध्यान अवश्य आकर्षित करती रही। × × × × हिंदी साहित्य की सामयिक स्थिति का निदर्शन करना, उसकी उन्नति के उपायों पर विचार करना और उसके संबंध में जहाँ कहीं जो बात हो उसकी सूचना देना अब से यह पत्रिका अपना प्रधान धर्म समझेगी।" सन् १९०९ में तत्कालीन संपादक (पं० रामचंद्र शुक्ल) ने पत्रिका के विगत भागों का इस प्रकार सिंहावलोकन किया था और आगे के लिये नीति स्थिर की थी। आगे दस वर्ष पत्रिका इसी प्रकार प्रकाशित हुई और सन् १९१९ में इसके २४ भाग पूरे हुए। इस बीच इसके स्वरूप में आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन होते रहे।

सन् १९२०, अर्थात् संवत् १९७७, में समय देखकर सभा ने 'प्राचीन शोध संबंधी त्रैमासिक पत्रिका' के रूप में पत्रिका का नवीन संस्करण प्रकाशित करना प्रारंभ किया। रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद, स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के उत्साह तथा उद्योग से यह प्रतिष्ठित हो चली। रायल सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन

एंड आयर्लैंड की अप्रैल सन् १९२१ की पत्रिका (पृष्ठ २८६-८७) में ही प्रसिद्ध विद्वान् श्री जी० ए० ग्रिअर्सन ने लिखा था, "रायल सोसाइटी के सभासदों का ध्यान नागरीप्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका 'नागरीप्रचारिणी' के नए संस्करण पर दिलाना चाहिए। × × अब सभा ने पत्रिका का नवीन संस्करण शुद्ध वैज्ञानिक रीति पर प्रकाशित करने का निश्चय किया है और इसके पहले दो अंक सभा के कार्य की विशेष उन्नति के सूचक हैं। इनसे एक ऐसी पत्रिका का आरंभ होता है, जो, हम आशा करते हैं, एक भारतीय विद्वत् सभा के सर्वथा उपयुक्त होगी।" यथासंभव इस आशा के अनुकूल चलकर इसने नवीन संस्करण के १८ भाग तथा अपनी सेवाओं के ४२ वर्ष पूरे किए हैं।

इस अंक से पत्रिका अपने ४३वें वर्ष में प्रवेश करती है। सभा चाहती है कि उसकी मुखपत्रिका अपने पद पर आरूढ़ रहकर और भी उपयोगी सिद्ध हो, इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत हों। अतः सभा ने इसके उद्देश्य अब इस प्रकार निश्चित कर दिए हैं—

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

इस नीति के अनुसार पत्रिका के आकार तथा प्रकार में कुछ आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं। आशा है, विद्वज्जन तथा उत्साही पाठक इनका स्वागत करेंगे और पत्रिका उनके वर्धमान सहयोग तथा सहायता से हिंदी भाषा तथा साहित्य एवं भारतीय अनुशीलन की अधिकाधिक सेवा कर सकेगी।

सभा की प्रगति

संवत् १९९४ का सभा का वार्षिक विवरण १७ वैशाख १९९५ के वार्षिक अधिवेशन द्वारा स्वीकृत होकर उसी मास में प्रकाशित हुआ। उक्त अधिवेशन में ही नियमावली में भी संशोधन हुआ और संशोधित नियमावली प्रकाशित करके, वार्षिक विवरण के साथ ही, सभासदों के पास भेज दी गई।

वार्षिक चुनाव

वार्षिक अधिवेशन में संवत् १९९५ के लिये जो पदाधिकारी तथा प्रबंधसमिति के सदस्य चुने गए उनके नाम इस प्रकार हैं:—

पदाधिकारी

सभापति—पं० रामनारायण मिश्र, बी० ए०, पी० ई० एस० (रिटायर्ड)।

उपसभापति—रायसाहब ठा० शिवकुमार सिंह। पं० रामचंद्र शुक्ल।

प्रधान मंत्री—पं० रामबहोरी शुक्ल, एम० ए०, साहित्यरत्न।

अर्थमंत्री—बाबू ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०।

साहित्यमंत्री—बाबू रामचंद्र वर्मा।

सदस्य

संवत् १९९५ से १९९७ तक — श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी०। श्री राय कृष्णदास। श्री पं० विद्याभूषण मिश्र, एम० ए०। पं० रमेशदत्त पाँडे, बी० ए०। पं० श्रीराम मिश्र एम० ए०, एल-एल० बी०। पं० अयोध्यानाथ शर्मा, एम० ए०। श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, एम० ए०। श्री राधेकृष्णदास, श्री कृष्णानंद, एम० ए०, बी० टी०।

संवत् १९९५ से १९९६ तक	पं० बलराम उपाध्याय ऐडवोकेट, एम० ए०, एल-एल० बी०। पं० केशवप्रसाद मिश्र। श्री राधाकृष्ण नेवटिया। श्री सूर्यप्रसाद महाजन। पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी, एम० ए०, एल०-एल० बी०।
संवत् १९९५ तक	रायबहादुर बाबू श्यामसुंदर दास, बी० ए०। श्री ठाकुरदास, बी० ए०, एल-एल० बी०। श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०। पं० रमापति शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०। श्री दत्तो वामन पोतदार। श्री ब्योहार राजेंद्र सिंह। ठाकुर गोपालशरण सिंह।

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर बाबू शिवप्रसाद गुप्त प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए।

नई प्रबंधसमिति के द्वारा प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग निम्नलिखित उपसमितियाँ बनाई गईं—

साहित्य उपसमिति	संयोजक	साहित्य-मंत्री।
अर्थ उपसमिति	,,	अर्थ-मंत्री।
पुस्तकालय उपसमिति	,,	ठा० शिवकुमार सिंह।
सभाभवन उपसमिति	,,	श्री गुरुशरणलाल सिन्हा।
हिंदी-नागरी-प्रचार उपसमिति	,,	पं० चंद्रबली पांडेय, एम० ए०।
संकेत लिपि उपसमिति	,,	पं० निष्कामेश्वर मिश्र।

इस वर्ष नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादन के लिये एक संपादक-मंडल चुना गया जिसके सदस्यों का नामोल्लेख प्रस्तुत अंक के कवर पृष्ठ २ पर है।

हस्तलिपि-शोध विभाग के निरीक्षक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट् तथा सहायकनिरीक्षक पं० विद्याभूषण मिश्र, एम० ए० चुने गए।

प्रकाशन

इस वर्ष अब तक निम्नलिखित पुस्तकें छपकर तैयार हुई हैं—

रसगंगाधर भाग २, भारत का अंधकारयुगीन इतिहास ।

शब्दसागर खंड २ (पुनर्मुद्रित) (द्वितीय संस्करण) सूर-सुषमा, त्रिवेणी, प्रेमसागर, रानी केतकी की कहानी ।

मश्रासिरुल उमरा भाग २ तथा सोवियतभूमि, ये दो पुस्तकें छप रही हैं और शीघ्र तैयार हो जायँगी ।

प्रचार

श्री सत्यनारायण शर्मा, जो सभा के सभासद हैं और जो लंका में हिंदी-प्रचार का कार्य कर रहे थे, इस समय वहाँ से लौट आए हैं । खेद है कि अर्थाभाव के कारण सभा न उन्हीं को फिर लंका भेज सकी और न किसी अन्य सज्जन को ही । अत: वहाँ का काम रुका पड़ा है ।

प्रचार की दृष्टि से सभा ने इधर कुछ संस्थाओं को नागरी-प्रचारिणी पत्रिका तथा कुछ पुस्तकें बिना मूल्य दी हैं, जिनमें इस्लामियाँ पुस्तकालय बनारस तथा यंग मेंस इंडियन ऐसोसिएशन, मदुरा, के नाम मुख्य हैं । दो हिंदी पढ़नेवाले मद्रासी विद्यार्थियों को भी सहायता दी जाती है ।

आर्थिक स्थिति

इस समय सभा की सबसे मुख्य समस्या धन-संग्रह करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की है । यथासंभव सभा ने अपना व्यय कम कर दिया है, और पुस्तकों की बिक्री तथा सभासदों की संख्या बढ़ाकर आय में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा रहा है । स्थायी सभासदों के चंदे से ९००) रुपये के लगभग एकत्र हुआ है जो बंक में स्थायी कोष के खाते में जमा कर दिया गया है । स्थायी कोष के रुपयों के स्टाक सर्टीफिकेट खरीदे जायँगे । यह निश्चय हो चुका है कि पुस्तक-प्रकाशन तथा पुरस्कारों की निधियों में से जिनके सरकारी

कागज नहीं खरीदे गए हैं उनके भी स्टाक सर्टीफिकेट खरीद कर सब ट्रेजरर आव चेरिटेब्ल एंडाउमेंट फंड, यू० पी०, के पास जमा कर दिए जायँ।

धन-संग्रह करने के लिये सभा का एक प्रतिनिधि-मंडल शीघ्र ही कलकत्ता, ग्वालियर, राजपूताना आदि स्थानों में भ्रमण करेगा। पहले यह मंडल कलकत्ता जायगा। वहाँ के उत्साही सभासदों ने सहायता देने का वचन दिया है। उदयपुर राज्य के रेवेन्यू मिनिस्टर पं० कमलाकर द्विवेदी ने भी सभा को सहायता दिलाने का वचन दिया है और उनकी सहायता से प्रतिनिधि-मंडल राजपूताना तथा ग्वालियर से धन संग्रह करेगा।

प्रसन्नता की बात है कि इस वर्ष प्रांतीय सरकार ने कलाभवन के लिये १२००) की एककालीन सहायता की स्वीकृति दी है और आशा है कि सरकार यह सहायता वार्षिक रूप में दिया करेगी।

नवीन प्रकाशित पुस्तकें—

अन्धकार युगीन भारत

(अनुवादक—बा० रामचन्द्र वर्मा)

प्रस्तुत पुस्तक स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, बार-एट्-लॉ की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है। भारतीय इतिहास में ईसवी सन् १८० से ३२० तक का समय अन्धकार युग कहा जाता है जिस पर स्व० डा० जायसवाल ने पूर्ण प्रकाश डाला है। राष्ट्र तथा इतिहास के प्रेमियों के लिये यह पुस्तक संग्रहणीय है। आवश्यक चार्ट एवं चित्र भी यथा स्थान दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। लगभग ५४० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३॥) ।

हिन्दी रसगंगाधर (दूसरा भाग)

(अनुवादक—पण्डित पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी)

यह संस्कृत के उद्भट विद्वान् जगन्नाथ पण्डितराज के ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है। संस्कृत के जानकारों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि "रसगंगाधर" संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त प्रामाणिक लक्षण ग्रन्थ है। अलंकार सम्बन्धी स्वतन्त्र आलोचनाओं से भरा हुआ इतना पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में इसके पश्चात् दूसरा नहीं बना। इसी ग्रन्थरत्न का यह हिन्दी रूपान्तर है। इसमें उदाहरण के मूल श्लोक तो हैं ही उनका रूपान्तर भी छन्दोबद्ध ही है। प्रथम भाग, जो पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हो चुका है, काव्य के लक्षण भेद तथा रस आदि के सम्बन्ध में है। प्रस्तुत भाग में अलंकारों का बड़े विस्तार के साथ मार्मिक वर्णन किया गया है। साहित्य प्रेमियों को इस ग्रन्थ की एक प्रति अपने संग्रह में अवश्य रखनी चाहिये। पृष्ठ संख्या लगभग ८०० । मूल्य सिर्फ ३॥) तीन रुपया आठ आने।

त्रिवेणी

(रचयिता—पण्डित रामचन्द्र शुक्ल)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के "मलिक मुहम्मद जायसी", "महाकवि सूरदास" तथा "गोस्वामी तुलसीदास" शीर्षक तीन समालोचनात्मक प्रबन्धों के विशिष्ट अंशों का संग्रह है। इसके प्रारम्भ में श्रीकृष्णानन्दजी की ३० पृष्ठों की भूमिका भी है। पुस्तक के नवीन संस्करण का मूल्य १) एक रुपया केवल।

मआसिरुल उमरा (दूसरा भाग)

(अनुवादक—बाबू व्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल बी०)

यह फारसी का बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें मुग़ल शासन-काल के प्रायः सभी बड़े-बड़े सरदारों और अमीरों की जीवनियाँ हैं। इतिहास प्रेमियों के लिये पुस्तक बड़े मोल की है। प्रायः छप कर तैयार है।

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी।

// नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४३-संवत् १९९५ [नवीन संस्करण] भाग १९-अंक २

(७) कवि सूरदास कृत 'नलदमन' काव्य

[लेखक—डा॰ मोतीचंद, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰]

बहुत दिन हुए, श्री राधाकृष्णदासजी ने स्वलिखित महाकवि सूरदास की जीवनी में उनके काव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा था कि परंपरागत जन-श्रुति के अनुसार सूरदासजी ने 'नल-दमयंती' नामक एक काव्य की रचना की थी। पर वह काव्य इस समय अप्राप्य है। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्रजी ने इस काव्य को खोज निकालने के उद्देश्य से कविवचन-सुधा में एक सहस्र का पारितोषिक घोषित किया था। पर इस काव्य का पता न चला। आज उस ग्रंथ का पता भी चला तो उसके लेखक दूसरे ही सूरदास निकले।

इधर जब से मैं बंबई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम का क्यूरेटर नियुक्त हुआ, मुझे वहाँ की संगृहीत फारसी पुस्तकों की विस्तृत सूची बनाने का अवसर मिला। इन पुस्तकों में 'नलदमन' नामक एक चित्रित पुस्तक भी थी जिसे पहले की सूची में सूचीकार ने फैजी-कृत 'नलदमन' पदवी दे रखी थी। पहले तो मैंने समझा कि शायद फैजी-कृत नलदमयंती-चरित का यह फारसी अनुवाद हो, क्योंकि अकबर के दरबारी कवि फैजी का बनाया 'नलदमन' प्रख्यात है। पर म्यूजियम

के नल-दमन काव्य के एक दो पन्ने उलटते ही मुझे पता लग गया कि यह नलदमन नाम का प्रेमाख्यानक काव्य अवधी में सूरदास नामक कवि का लिखा हुआ है। इन सूरदास का संबंध सूरसागर के रचयिता सूरदास से कुछ भी नहीं, जैसा आगे पता लगेगा। जान पड़ता है, सूरदास के नाम-साम्य से नलदमन की रचना सूरसागर के सूरदास के जिम्मे कर दी गई। नलदमन की रचना हिंदी में सूफी विचारों से रंजित प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति ही है। विशेषता इतनी ही है कि अवधी में लिखे हुए प्रेमाख्यानक काव्य मुसलमान कवियों की रचनाएँ हैं और नलदमन एक हिंदू की। अवधी में काव्य लिखने का कारण भी कवि ने लिखा है जो नीचे के अवतरण से, जो काव्य के अंत से लिया गया है, स्पष्ट है।

यारो पेह कछू मैं अखिया। इश्क फिराक पूरबो भखिया॥
मत जानहुँ यह पूरब बतिहा। पूरब देस पँजाबी मतिहा॥
हौं अपनी भाषा भी जानूँ। नुकता नुकता सब पहचानूँ॥
उस भाखा बिच शैर घनेरे। इश्क हकीकव आखे मेरे॥
अस अपनी भाखा बिच बानी। बनै भलो पै कोदह सतरानी॥
होवै मरमैं कल जो कभी। जिस किस तासों जाइ न बभी॥
बाज पंजाबी होरे न जानै। रतन पारखी रतन सजानै॥
उत भाषा महरम सब कोई। पढ़ै जो मतलब समझै सोई॥
तिस कारन यह प्रेम-कहानी। पूरब दी भाषा बिच आनी॥
दो०—बाग बगीचा सो भला, जो सबही साँझा होइ।
बानी तस भाखी भली, जिन्ह समुझै सब कोइ॥

प्रेमाख्यानक काव्यों का मूल सूफी धर्म है जिसका प्रचार सूफी संतों और दरवेशों द्वारा भारतवर्ष में हुआ। ज्ञान मार्ग का प्रसार यहाँ था ही, सूफियों द्वारा उसमें उपासना और प्रेम का भी समावेश हुआ। इसी प्रेम को व्यक्त करने के लिये प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अनेक प्रेम-गाथाओं की रचनाएँ कीं जिनमें लौकिक प्रेम की ओट में उन्होंने प्रेममय ईश्वर 'जानान हकीकी' के प्रति प्रेम का उपदेश दिया।

इन कवियों के लिये केवल मनुष्य ही प्रेम से नहीं जलता; वे तो पशु पंछी स्थावर जंगम सब में प्रेम की चाह देखते हैं। कोयल काली क्यों है, क्योंकि प्रेमाग्नि से वह जल गई है। दाड़िम का कलेजा फट क्यों गया है, वियोग से; नदियों में हिलोरें किस लिये आती हैं ? प्रियतम से मिलने के लिये। प्रेमी के वियोग से जितनी जलन होती है इतना ही प्रेमी अपने ध्येय में आगे बढ़ता है। सूफियों के लिये जितना फिराक में सुख है उतना विसाल में नहीं।

प्रेममार्गी कवियों में सर्वप्रथम कुतबन ने मृगावती की रचना ई० सन् की १५वीं शताब्दी के अंतिम भाग में की। पर भारत-कला-भवन काशी में एक अवधी काव्य के कुछ चित्रित पन्ने हैं। चित्रों की शैली १५वीं शताब्दी के आरंभिक काल की जैन-कला जैसी है। इससे पता लगता है कि प्रेममार्गीय गाथाओं का जन्म कम से कम १५वीं शताब्दी में तो अवश्य हो गया था। कुतबन के बाद मंझन की मधु-मालती लिखी गई। तदुपरांत मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य पद्मावत की रचना १५४० ई० में की। १६१३ ई० में उसमान ने चित्रावली लिखी। १६१९ ई० में शेख नबी ने ज्ञान-दीप लिखा। इसके बाद ही १६५८ में सूरदास ने नलदमन लिखा जो अब तक अप्राप्य था। इनके बाद के ग्रंथों में कासिमशाह का हंस-जवाहिर (१७२१ ई०), नूरमुहम्मद का इंद्रावती तथा फाजिलशाह का प्रेम-रतन (१८४८ ई०) प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत पुस्तक फारसी लिपि में लिखी हुई है। इस पुस्तक में १९३ डबल पृष्ठ हैं। जिन पर चित्र नहीं बने हैं उन पृष्ठों पर १५ सतरें हैं। पूरे पृष्ठ की नाप ९$\frac{1}{2}$" × ५$\frac{3}{4}$" तथा लिखित भाग की नाप ७$\frac{1}{2}$" × ४" है। कातिब ने पृष्ठ-संख्याएँ नहीं दी हैं, बाद में किसी ने पेंसिल से भर दी हैं। बहुधा चित्र पूरे पेज के नहीं हैं। वे पृष्ठों के बीच में या निचले भाग में, एक दूसरे कागज पर, लिखकर चपका दिए गए हैं।

पुस्तक फारसी के सुंदर नस्तालीक अक्षरों में लिखी हुई है। पृष्ठ के बीचोंबीच हाशिया छूटा हुआ है जिसके दोनों ओर पाठ अंकित

हैं। पाठ की हद सुंदर लाल, काले, नीले तथा सुनहरे खतों से बाँध दो गई है। दोहे सुनहरे अक्षरों में, बीच में पड़ी पट्टियों में, लिखे हुए हैं। पुस्तक औरंगाबादी कमख्वाब की जिल्द में बँधी हुई है।

पुस्तक के अंत में इस प्रति के लेखक का नाम बाबुल्ला वल्द मुहम्मद जहीद दिया हुआ है। इस प्रति की नकल हिजरी सन् १११० यानी बादशाह औरंगजेब के राज्य-काल के ३३वें वर्ष में समाप्त हुई। यह प्रति मियाँ दिलेर खाँ नामक किसी सरदार के लिये तैयार की गई थी। ये दिलेर खाँ कौन थे, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। ये औरंगजेब के प्रसिद्ध सिपहसालार दिलेर खाँ नहीं हो सकते, क्योंकि इनकी मृत्यु सन् १६८२ यानी इस किताब के लिखे जाने के सोलह वर्ष पहले हो चुकी थी। चित्रों की शैली से यह पुस्तक हैदराबाद की लिखी मालूम होती है और शायद मियाँ दिलेर खाँ वहीं के कोई उमरा या रईस रहे होंगे।

पृष्ठ ११ पर कवि अपना वंश-परिचय देते हैं। उनका नाम सूरदास था तथा पिता का नाम गोबरधनदास। वे कंबू गोत्र के थे तथा उनके पुरखों का निवासस्थान गुरदासपुर जिले के कलानौर स्थान में था। उनके पिता वहाँ से आकर लखनऊ बस गए थे। वहाँ सूरदास का जन्म हुआ।

नल-दमन काव्य लिखने का उद्देश्य लिखते हुए कवि का कहना है कि वह एक दिन महाभारत में नल-दमयंती का प्रेमाख्यान पढ़ते पढ़ते प्रेम की पीर से व्याकुल हो उठा—

विकल भयो तन छुट कपटाई। विषधर डसै लहर जनु आई॥
मन मोरैं तन कै सुधि खोई। नींद जाय अंतै पर सोई॥
तृखा सिरान न माँगैं नीरा। भूख अघाइ बैठ होइ तीरा॥
पावक पुंज भयो तन मोरा। पेम पौन धर धर झकझोरा॥
जिन्ह की पेम-कथा मैं जारा। धन ते जिन्ह झेली सो झारा॥
दो०—कथा अगिन होइ हिय परी, बरै रुई ज्यों ढेर।
जो जल नैन न ढारते, भेइ होइ जर खेह॥

इस प्रेम-ज्वाला से विकल होकर कवि ने निश्चय किया कि वह नलदमयंती की प्रेम-कथा से संसार में प्रेम की आग लगा देगा।

पेम बैन मोरे मन आई। दबी अगिन यह दियो जगाई॥
पेम उसास पौन सों बारूँ। बार बिरह बाती घृत डारूँ॥
प्रघट करूँ जो अलाव जग जानै। जो पेमै सिक कै सुख मानै॥
पेम बीज लै पौध लगाऊँ। रकत सींच फुलवार बनाऊँ॥
आनौ बरन पुहुप उपजाऊँ। अति पेमी जन तिन्हहिं रिझाऊँ॥
इन्ह बिच पेम खान हिय खोलूँ। अबध अमोल बोल नग बोलूँ॥
बिरह बेद बानी मुख आनूँ। सान पेम सों पेम बखानूँ॥
औ भाठी मद पेम चुआऊँ। नल कै कथा सो नल कै लाऊँ॥
ऐसो पेम-मई मधु ढारौं। जासों दया पेम पग बारौं॥
जिन्ह कै बात चाव उपजावै। जो सुन कहै सो उन कहँ जावै॥
दो०—पेमी पीउ निहार जे, चाखत खिन छक जाहँ।
एक पियाला फिर पिवै, दोऊ भर अयदाहँ॥

इस प्रकार प्रेम-रस से मतवाले होकर सूरदास ने हिजरी सन् १०६८ यानी संवत् १७१४ (ई० सन् १६५७) में नलदमन काव्य लिखना आरंभ किया। कथा का मूल आधार उन्होंने महाभारत से ही लिया पर अपनी कल्पना के अनुसार कुछ नई बातें भी जोड़ दीं।

पुस्तक का आरंभिक पृष्ठ सुंदर उनवान और सोने के गुबारे से अलंकृत है। तीन तरफ हाशियों में बादरूम की बेलें हरे, नीले, लाल तथा गुलाबी रंगों से बनी हैं। ग्रंथारंभ बिसमिल्लाह रहमानुर्रहीम से होता है। बाद में ईश-प्रार्थना शुरू होती है। कवि उस ईश्वर का स्मरण करता है जो आदि अंत में एक ही है, जो रूप-रहित है, जो न बड़ा है न छोटा, न सजा है न फूटा। वह नाम-रहित है अर्थात् निर्गुण है। उसका वर्णन नहीं हो सकता, फिर भी वह सब में रम रहा है। चर्म-दृष्टि से वह देखा नहीं जा सकता। सब में होते हुए भी वह सब से न्यारा है। बिना उसके ध्यान के कुछ नहीं हो सकता।

सब में औ सब ही सों न्यारा। सब कुछ करै अकरता प्यारा॥

तिन्ह चिंतै बिन कुछौ न होई। पै करतूत न लागै कोई॥
मंदिर माहँ दिया ज्यों बारा। त्यों घट घट तासों उजियारा॥
घट महँ किरन सिकत सब तासों। पै वह अलग दिया ज्यों यासों॥
जैसे कँवल सूरज मिल खिलै। पै याको गुन ताह न मिलै॥
कँवल खिलै कछु सुरज न खिला। औ ताके मुख मिलै न मिला॥
ज्यों चेतन जड़ माँह समाना। अनमिल जाय मिला सा जाना॥
ज्यों पानी पूरे घट माँहीं। दिस्टि परै ससि की परिछाहीं॥
जल गुन जान परै जनु हुलै। चंद सो अलग न हलै न चलै॥

दो०—कही न जाहिं बनाइ कछु, ता साहब के रंग।
रंग अंग सब ता मिल बनै, आपुन रंग न अंग॥

अलिप्त और अकर्ता होते हुए भी वह संसार का पालन और नाश करता है। उसी ने सृष्टि बनाई; प्रकाश, जल, पवन तथा आकाश की रचना की। धरती, पाताल, मेरु, समुद्र उसके खेल हैं। प्राणि-मात्र का उसने सृजन किया, और वही सब की रक्षा करता है और भोजन देता है। छोटों को बड़ा और बड़ों को छोटा कर देना उसके लिये खेल है। जो जिस भाँति उसका भजन करता है वह उससे उसी भाँति मिलता है। उसके लिये साहब-सेवक, जड़-चेतन सब एक से हैं।

वहै नचैया वहै बजैया। वहै खेल औ वहै खेलैया॥

जब तक मनुष्य आपा नहीं गवाँ देता तब तक उससे मिल नहीं सकता।

दो०—अगिन प्रगट जब काठ तें, काठै देइ जराइ।
तबहि काठ तासों मिलै, नातर मिलो न जाइ॥

नल-दमन काव्य बादशाह शाहजहाँ के राज्य-काल के अंतिम वर्ष में लिखा गया था इसलिये इस प्रकरण में कवि ने बादशाह के बल, अधिकार तथा प्रजा-पालन की प्रशंसा की है। शाहजहाँ के प्रताप से अभिमानी राजे किसान हो गए। उससे वही बचा जो उसकी शरण में आया। न्याय का इतना बोलबाला था कि गऊ और सिंह एक ही

घाट पर पानी पीते थे। पुत्र भी अगर अन्याय करे तो वह उसको दंड देता था। वह नित्य प्रांतों से आई खबरें सुनता था। बुधवार को बादशाह न्यायासन पर बैठता था। किसान सुख से किसानी करते थे और राज्यकर अदा करते थे। सर्वत्र सुख का राज्य था। जो कोई दुखी किसान होता उसे बैल, बीज, भोजन सब कुछ बादशाह की ओर से दिया जाता था। भिखमंगों को इतना द्रव्य दान में मिलता था कि फिर उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती थी।

कवि सूरदास के गुरु श्यामलाल भटनागर थे। इनके गुरु थे रंगबिहारी। इनका वासस्थान लाहौर था और यह कुँकरेजा खत्री जाति के थे। रंगबिहारी चार भाई थे। ये सब सर्वदा धर्मकर्म तथा अतिथि-सेवा में लग्न रहते थे। रंगबिहारी प्रातःकाल नित्य अखाड़े में जाकर बालकों की कसरत देखते थे और उनको चने की दाल बाँटते थे। एक दिन एक तपस्वी वहाँ आए। उनसे प्रभावित होकर उन्होंने दीक्षा ली तथा एक पहुँचे हुए महात्मा हो गए। इनके शिष्य भटनागर कायस्थ जाति के श्यामलाल हुए।

मोहि तिन्है यह पंथ लगावा। कृपा कीन्ह कर जाप सिखावा॥

भूले भटकै बाँह गहि, मारग दियो लगाइ।
लोहा कंचन कै लियो, पारस पग परसाइ॥

उज्जैन का राजा नल छत्रपतियों में सर्वश्रेष्ठ था। उसका पांडित्य, न्याय तथा धर्म-प्रियता संसार में विख्यात थी। उसके रूप की उपमा नहीं हो सकती थी। वह रूप ऐसा था कि सबके चित्त में बस सा जाता था।

पुरुष नारि जाके चित परा। फिर भर जनम न चित सों टरा॥

प्रेम-पंथ का वह सच्चा अनुरागी था। रात-दिन प्रेमियों की कथाएँ सुना करता था और उनकी अवस्था सुन सुनकर रोया करता था। विद्वानों से भी उसका बड़ा प्रेम था। सर्वदा राजसभा में विद्वान् आया ही जाया करते थे। एक दिन सभा जुड़ी हुई थी। बात ही बात में प्रेम की चर्चा चल पड़ी और सौंदर्य की बात छिड़ गई। विद्वानों

ने कहा कि सोलह कलाओं से पूर्ण पद्मिनी नारी तो सिंहल द्वीप ही में मिल सकती है। इस पर एक भाटिन से न रहा गया। उसने हाथ जोड़कर कहा कि सिंहल द्वीप में पद्मिनी नारी तो होती हैं पर जंबू-द्वीप में एक ऐसी नारी है जिसका जोड़ा नहीं। और यह कोई सुनी हुई बात नहीं, भाटी की देखी हुई थी। और तब तक योग्य वर न मिलने से वह अनब्याही भी थी।

तदुपरांत भाटी कुंदनपुर नगर का तथा दमयंती के रूप का वर्णन करती है। राजा नल के पूछने पर वह नगर के चारों ओर लगे हुए वृक्ष—नारियल, जामुन, खिरनी, आँवला इत्यादि—का तथा उन पर किलोल करते हुए पक्षियों का वर्णन करती है। इन सब में उसे प्रेम ही के दर्द का आभास मिलता है। वृक्ष ऐसे खड़े हैं मानो—

प्रभु के प्रेम गड़े होइ गाढ़े। तिनहीं ध्यान एक पग ठाढ़े॥
ज्यों ज्यों पेम अगिन तन जारै। कै पतझरि ठूठ कर डारै॥

विरहाग्नि में जलते हुए पक्षियों की भी दशा बुरी थी।

कोकिल बिरह जरी भइ कारी। कुहू कुहू सब दिवस पुकारी॥

वहाँ सुंदर तालाब भी प्रेमरस में मानो भरते हुए हैं। चारों ओर पक्के घाट बने हुए हैं इससे—

जद्यपि पेम हिलोर उठावै। उमँग आँस जल ढरन न पावै॥
नीरज नैन पेम रँगराते। पुतरी भँवर मीन मद माते॥

वहाँ सूफी, संन्यासी, जंगम और जैन इत्यादि साधकों का वास है जो सबको धर्मोपदेश देते हैं। मृगनयनी पनिहारिनों की तो बात ही क्या है—

पनिहारी देखी मृगनैनी। गज-गामिन औ कोकिल-बैनी॥
पहिरैं चीर सोभा तन भाँती। राइ मुनैय्यन कै अस पाँती॥
लेजू पाट गहैं गह हाथैं। नैनन्ह पानी कलसा माथैं॥
निपट लाज सों आवहिं जाहीं। पायन दिस्टि सुरत घट माँहीं॥
जो कोइ सखी नेक दृग फेरै। सूफी दिस्टि बंग कर हेरै॥
मिल सब सखी ताह समुझावहँ। जन परदेसिन्ह पंथ बतावहँ॥
बलि चेतहु घट महँ मन देहू। बाकी दिस्टि सूध कै लेहू॥

माथे बोझ बाट रपटीली। रपट परै दुख होइ छबीली॥
जो घट फोरि जाहु घर छूँछै। का पुनि कहहुँ कंत जब पूछै॥
दो०—रपट फोरि घट खोइ जल, बिन पानी बिललाहिं॥
पुनि धौं कब आवा चढ़ै, कब कुम्हार कहँ जाहिं॥

उपवन में फलों के वृक्ष और पुष्प भी मदमाते हैं—

दो०—गुल गुल कहै जो पिउ बिरह, गुल गुल काली देह॥
सोई धन पिउ गुल मिलै, रलै रसीले नेह।
लाला कहै लाल तन सोना। पेम दाग उर दाग बहूना॥

वहाँ बड़े बड़े सुंदर महल हैं। नगर की शोभा का क्या कहना है। घर घर दानपुण्य और शिव-पूजा होती है। पंडित पुराण-कथा कहते हैं। नगर में एक बड़ी हाट है जहाँ व्यवसाय होता है। कहीं बनिया हिसाब-किताब करता है, कहीं जौहरियों की दुकानें लगी हैं, कहीं सोना-चाँदी बिकता है, कहीं पसारी की दुकान है तो कहीं बजाज की। मानिक चौक में खूब कारबार होता है। माली फूल बेचते हैं। रास्ते में कहीं नाच होता है, कहीं वैद्य नाड़ी देखते हैं तो कहीं जड़िया जड़ी बेचता है। कहीं सपेरे हैं तो कहीं ठग।

पतिव्रता रानी को कोई संतान न थी। इससे राजा-रानी दुखी रहा करते थे, पर इसे कर्म-फल मानकर संतोष रखते थे। एक दिन राजा पास में ठहरे हुए एक तपस्वी के दर्शन को गया। ज्ञान-चर्चा के उपरांत राजा को उन्होंने तीन सदाफल दिए, और एक जंभीरी नीबू। इनके फल-स्वरूप राजा को तीन पुत्र और दमयंती नाम की एक सुंदर कन्या हुई। दमयंती ने थोड़े ही दिनों में सब शिक्षा प्राप्त कर ली। उसके रूप की चर्चा संसार में फैल गई है। घर घर उसकी चर्चा होने लगती है। भाटिन का कथन सुनकर नल दमयंती पर मोहित हो गया।

उर सुनि नारि रूप कर भाऊ। लागस पेम बान उर घाऊ॥

राजा मोहित होकर भाटी से हस्तिनी, शंखिनी, चित्रिणी और पद्मिनी स्त्रियों के गुण, मन बहलाने के लिये, सुनता है। दमयंती के

नख-शीख का वर्णन सुनकर राजा दमयंती के प्रेम में ऐसा व्याकुल हुआ कि उसे तन-बदन की सुधि भूल गई। राज-काज से चित्त हट गया। प्रेमाग्नि से जलकर उसकी दशा बदल गई।

> जिन्ह तन बासा पेम को, तिन घट रकत न माँस।
> अगिन तेज दोऊ उवत कै, चुइ निकसै होइ आँस॥

राजा अपनी इस अवस्था को छिपा न सका। बिरह से वह तड़फड़ाने और उसासें भरने लगा। ओझा, वैद्य कोई भी इस बीमारी का पता न लगा सके। सेनापति ने भी राजा को धीरज बँधाया पर आग घटने के बदले बढ़ती ही गई।

> पेम प्रबल मन धरै न धीरा। धीर दिए बाढ़े अति पीरा॥
> बिरह व्याध भयो जिउ लेवा। तरफै ज्यों नौं बझा परेवा॥
> जद्यपि नैन मेघ झर लावहँ। आँस नीर उर नदी बहावहँ॥
> तदपि चित्त चातक न सिराई। ऊ तिन्ह स्वाँति बूँद लव लाई॥
> दिन ज्यों त्यों दुख पीर सहाँरी। बिरह रैन दूभर अति भारी॥
> तपा सूर दिन भै निसि माहीं। नीरज नैन खुलैं न मुँदाहीं॥
> मन भया भँवर भँवै चहुँ ओरा। अंक कमोदनि ज्यों गहि भोरा॥
> चलहँ झखरात तपत ऊस्वासा। बढ़ी पेम मन पीउ पियासा॥
> अगिन समुद्र बिरह भयो तोरा। तहाँ परा बोहित तन मोरा॥
> अटपट लपट लहर चहुँ पासा। मनो जरै सब भुइं अकासा॥
> तै सोइ चाव पवन होइ बहै। पौन अगिन राखै क्यों रहै॥

राजा विह्वल होकर अपनी एकाकिनी प्रीति को दुहाई देने लगा। लोगों ने कहा कि देश में आपकी हँसी हो रही है पर उसको उसे परवा कहाँ! उपदेशकों से उसने प्रेम-पंथ की कठिनता तथा उसमें पड़नेवाले दुःखों का वर्णन किया। लोगों की हँसी के बारे में राजा ने कहा—

> पेम लाग मोंहि हँसै जो कोई। पूखा जाइ पेम सुख होई॥
> ज्यों ज्यों बीजु मेघ कहँ हँसै। त्यों त्यों ताह पेम परगसै॥

नल की इस अचल प्रीति ने दमयंती के हृदय से प्रत्युत्तर पाया। नल ने न कोई पत्र भेजा न दूत, फिर भी उसकी प्रेमाग्नि के प्रकाश ने दमयंती का हृदय प्रकाशित कर दिया—

मिला जो चाहै पेम सों, तो पेम करो गहि नेम।
प्रेमैं प्रीतम मिलन कहँ, बीच बसीठ सो पेम॥
जो कोऊ जाके रँग रातै। सोऊ पुनि ताके मद मातै॥

नल के विरह में वह रात-दिन तड़फड़ाने लगी। चित्त को सांत्वना देने को उसने नल का चित्र बनाया। उसे नल को देखने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वह तो उसके हृदय में घर किए हुए था। रात को जब सखियाँ सो जाती थीं तो वह चित्र देखा करती थी। उसे भला नींद कहाँ—

नींद निरासै आइ कै, कौन ठौर ठहराइ।
नैन जो मंदिर नींद कै, तहाँ पिउ रहा समाइ॥

दमयंती की धाय ने उसके अनमनेपन का कारण पूछा पर उसने बात बनाकर उसे टाल दिया। किंतु धाय कब माननेवाली थी। वह दमयंती की माता के पास गई तथा उसका समाचार कहा। माता का हृदय अपनी प्यारी पुत्री का हाल सुनकर रो उठा। वह दौड़ी हुई दमयंती के पास गई पर उसको भी उसने बातों में टाल दिया। वैद्य बुलाए गए। ओझा लोगों ने झाड़ फूँक की पर फल कुछ न हुआ।

ओझा करहिं उपाइ मिल, मुल्ला पढ़हिं दुआइ।
ना नल मिलै न कल पड़ै, कैसैं जिउ ठहराइ॥

एक दिन एक सखी ने रात में दमयंती को नल का चित्र देखते हुए पा लिया। दमयंती ने बात बनाना चाहा और कहा कि वह अचिंत का चित्र है। पर बात खुल गई। इसके बाद वह दिन को भी अपने पास चित्र रखने लगी। विरहाग्नि ने शरीर सुखा दिया। वह रो रोकर नल को याद करने लगी—

पीतम दधि अपार दुख तोरा। उठै लहर पर लहर हिलोरा॥
तन बोहित भए जर्जर आना। रोम रोम दुख नीर समाना॥

जद्यपि द्दग उलीचहँ मीता। तऊ सो नेक होइ नहिं रीता ॥
डगमगाइ डूबन पर आवा। नहिं तोउ बिन कोउ तीर लगावा ॥

एक सखी ने जाकर पटरानी से सब हाल कहा। रानी ने राजा को खबर दी तो उसने तुरंत दमयंती के स्वयंवर के आयोजन की आज्ञा दी। सब तरफ समाचार फैल गया। शुभ दिवस में राजा नल ने भी स्वयंवर के लिये प्रस्थान किया। साथ में सेना तथा और सामान था। मार्ग में शुभ शकुन मिलते गए। रास्ते में ठहरते ठहराते नल ने कुंदनपुर में आकर डेरा डाला।

इतने में नारद मुनि घूमते घामते कैलास पहुँचे और दमयंती के स्वयंवर का समाचार इंद्र को सुनाया। इंद्र यह समाचार सुनता हुआ वरुण और यम के साथ कुंदनपुर दमयंती के वरण की आशा से चला। वहाँ पहुँचते ही इंद्र ने नल को दमयंती के पास अपने प्रेम-संदेश पहुँचाने की आज्ञा दी तथा उसे एक मंत्र सिखा दिया जिससे वह तिरोहित होकर दमयंती के पास पहुँच सकता था। मंत्र से नल दमयंती के समीप जा खड़ा हुआ। वह उसके चरणों में गिर पड़ी—

असँभरि धाइ पाँइ महँ परी। गह कर सीस गरैं नल खरी ॥

दो०—मिल ससि रबि रोवन लगे, हियरैं उमड़ा सुक्ख।
ता दिन तपन निसर चली, या निसि जागन दुक्ख ॥

एक दूसरे की ओर एकटक देखने लगे—

दो०—नैन परस्पर रीझ छक, सहज भए मतवार।
वहै पियाला वहै मद, वहै सो पीवनहार ॥

पूछने पर नल ने इंद्र का संदेश कहा। दमयंती ने नल को ऐसा निठुर सँदेसा लाने के लिये उपालंभ देते हुए कहा—

दो०—हैं। तू अरपन कै रही, तन मन जोबन जीउ।
चाहन तन मन सहित लै, चाहै एकौ जीउ ॥

नल को इंद्र के शाप के भय से मुक्ति के लिये सांत्वना देते हुए उसने कहा कि वह स्वयंवर में नल का स्वयं वरण करेगी, इसलिये

अगर इंद्र को शाप देना होगा तो उसे देगा। इंद्र वहाँ का समाचार सुनकर मन मारकर बैठ गया।

स्वयंवर के ठाठ का तो कहना ही क्या था। सजावट में सोने-चाँदी की भरमार थी। राजाओं का दल टकटकी लगाए दमयंती की आशा में बैठा था। इतने में आभूषणों से सुसज्जित दमयंती ने सभा में प्रवेश किया। देवताओं ने यह जानकर कि दमयंती नल को वरेगी उसको धोखा देने के लिये, नल का रूप धारण कर लिया। कई नलों को देखकर दमयंती चकित रह गई। उसने, संकट से छुड़ाने के लिये, भगवान् की प्रार्थना की। तुरंत आकाशवाणी हुई, जिसमें देवताओं के मनुष्येतर लक्षणों की बात थी। दमयंती ने आकाशवाणी सुनते ही नल के गले में जयमाला डाल दी। इंद्र आदि देवता आशीर्वाद देते हुए अपने अपने घर गए। ज्योनार होने के बाद नल शय्यागृह में गया और नल-दमयंती का मिलन हुआ। प्रियतम से मिलने जाती हुई दमयंती का कैसा सुंदर वर्णन है—

लाज मान भै मेंट सब, मान सखी कै बैन।
तन मन जीऊ ले चली, जिन्ह कै तिन्ह कौं दैन॥

इसके बाद दमयंती बिदा होकर उज्जैन आई। नगर में आनंद होने लगा। सब ने दमयंती के रूप-गुण की प्रशंसा की। नल-दमयंती बारहो मास आनंद-केलि में बिताने लगे।

कथा-प्रसंग में अब कवि नल पर आपत्ति आने के कारण की कल्पना करता है। इंद्र जब देवताओं के साथ लौटकर स्वर्ग जाने लगा तो रास्ते में द्वापर और कलियुग मिले। ये कुंदनपुर, दमयंती के स्वयंवर में भाग लेने, जा रहे थे। जब इंद्र ने दमयंती द्वारा नल के वरण का समाचार इन दोनों से कहा तब कलियुग बड़ा क्रुद्ध हुआ और मन में नल के प्रति वैर-भाव रखने लगा। उज्जैन आकर वह नल से बदला लेने की घात में रहने लगा। नल सदा पवित्र रहनेवाला और धर्मनिष्ठ था इसलिये कलियुग की दाल नहीं गलती थी। एक दिन संयोग ऐसा हुआ कि नल सायं-संध्या करके बिना पैर धोए हुए सो गया। फिर क्या

था, कलियुग को अच्छा अवसर मिला और वह नल के हृदय में प्रवेश कर गया। तदुपरांत कलियुग नल के भाई पुष्कर से मिला। उसे नल से जुआ खेलने के लिये उकसाया। जुए में नल धीरे धीरे सब कुछ हार गया। यहाँ तक नौबत पहुँची कि दमयंती का आभूषण तक न बचा। रानी ने यह हाल देखकर अपने बालकों को उनके ननिहाल भेज दिया। पुष्कर सिंहासन पर बैठ गया तथा नल को देश-निकाले की आज्ञा दे दी। साथ ही ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई नल को भोजन देगा उसे प्राण-दंड होगा। नल, दमयंती को लेकर, वन वन भटकने लगा। भाग्य ने ऐसा मुख मोड़ा कि अपने भी पराए हो गए--

जहाँ तहाँ निरादर होई। द्वारें भेटैं गहै न कोई॥
आवत देखि लोग मुख मोरैं। इष्ट मित्र कोउ आँख न जोरैं॥
दो०--अस्तुति निंदा पत्त अपत, सबै काल पर होइ।
उवत सूर प्रथमैं नवै, अथवत नवै न कोइ॥

घूमते-घूमते क्षुधा से व्याकुल नल ने अपना जामा फेंककर एक पक्षी को पकड़ने का प्रयत्न किया पर भाग्य ने इसमें भी उसे धोका दिया। वास्तव में पक्षी कलियुग था जो नल के जामे को लेकर उड़ गया। नल अब अत्यंत दुखी हुआ और उसने दमयंती से कुंदनपुर, अपने पिता के घर, लौट जाने को कहा। पर पतिपरायणा दमयंती इस बात को कैसे मान सकती थी।

एक दिन भूख से व्यथित होकर नल नदी के तीर पर पहुँचा। वहाँ उसे दो मरी हुई मछलियाँ देख पड़ीं। अत्यन्त प्रसन्न होकर नल ने दमयंती को मछलियाँ बनाने को दीं और स्वयं स्नान करने को गया। पर अभाग्य ने उसका पीछा अभी नहीं छोड़ा था। दमयंती की अँगुलियों में अमृत था जिससे मछलियाँ जी उठीं और पानी में चली गईं। राजा जब लौटकर आया और मछलियाँ न मिलीं तो उसने समझा कि भूखी रानी ने उन्हें खा लिया है, पर जब रानी से उसने सब समाचार सुना तो उसके कष्ट का पार न रहा। थके-माँदे पति-पत्नी एक गाँव में आए। भाग्य के कोप से व्याकुल राजा अपनी प्यारी पत्नी

का कष्ट न देख सका। उसने सोती हुई दमयंती की चादर का आधा हिस्सा अपना बदन ढाँकने के लिये फाड़ लिया और वह दमयंती को छोड़कर चल दिया। सबेरे जब दमयंती को नल न मिला तो उसकी दशा पागलों की सी हो गई और वह अपने प्रियतम की खोज में दर दर भटकने लगी—

नैनन्ह चली जाइ जलधारा। जनु समुद्र जल लीन्ह अफारा॥
उनए मेघ बरखन जनु लागे। चातक पिक बोलहँ अनुरागे॥
पिउ पिउ पिऊ पिऊ रट लावै। कुहुक कुहुक नल नल गुहरावै॥
लहकत फिरै बीज कै नाईं। खिन इत खिन उत लिए भँवाई॥
जनु अवछरा फिरै बौरानी। इंद्रलोक बिछुरै भरमानी॥
कै जनु मतवारी मदमाँती। कूटत फिरै दुहौं कर छाती॥
सुरत न पट ओढ़ै कि उघारी। कित आधो चादर कित सारी॥
दो०—तन कै सुधि तिनको नहीं, मन पिउ रहा समाइ।
सो न मिलै जिउ कलमली, ढूँढ़ै औ बिललाइ॥

इस प्रकार वन में घूमते हुए दमयंती को एक अजगर निगल गया। संयोग से एक ग्वाला यह घटना देख रहा था। उसने तुरंत अजगर को मारकर दमयंती का उद्धार किया। पर दमयंती के रूप पर उसका मन रीझ गया। कामांध होकर जैसे ही उसने दमयंती का हाथ पकड़ना चाहा वैसे ही दमयंती के सतीत्व के तेज से वह मरकर गिर पड़ा। रोती, बिललाती और अपने भाग्य को कोसती हुई दमयंती आगे बढ़ी। रास्ते में एक सिंह मिला। दमयंती ने सोचा कि वह उसे मारकर दु:खों का अंत कर देगा। पर सिंह भी उसके तेज से घबराकर भाग गया। फिर उसे साधुओं का समूह मिला जिसने उसे सांत्वना दी। अंत में दमयंती को बनजारों का एक दल मिला। उस दल के नेता को अपना परिचय देते हुए दमयंती ने अपने पति की टोह ली पर कुछ पता न लगा। बनजारों के सरदार ने दमयंती को अपने साथ चलने को कहा जिससे वह नगर नगर घूमकर स्वयं अपने पति का पता लगा सके। पर दुर्भाग्य ने अब तक दमयंती

का पीछा न छोड़ा था। एक रात्रि में जंगली हाथियों के झुंड ने बनजारों पर हमला करके उन्हें कुचल डाला। केवल दमयंती बच गई। उसे रोते और सिर धुनते हुए देखकर कुछ ब्राह्मणों ने, जो उस रास्ते से जा रहे थे, उसे धीरज बँधाया। वे लोग उसे अपने साथ चँदेरी ले गए। दमयंती की सुंदरता की चर्चा नगर में होने लगी। वहाँ की पटरानी को जब यह समाचार विदित हुआ तब उसने उसे बुलाकर अपनी सेवा में रख लिया।

इधर नल को दमयंती के वियोग से अतीव कष्ट और चिंताएँ होने लगीं और वह रह रहकर अपने को कोसने लगा। एक दिन नल ने वन में दावाग्नि लगी हुई देखी। उसे अग्नि में से एक दुखी प्राणी की, सहायता पाने की, आवाज सुन पड़ी। पास जाने पर नल को एक सर्प दिखलाई दिया जो, एक ब्राह्मण के शाप से, चल न सकता था। नल ने उसे उठाकर अग्नि के बाहर तो कर दिया पर उसने नल को डस लिया। डसते ही नल का रँग काला पड़ गया। नल के पूछने पर सर्प ने उत्तर दिया कि उसने उसकी भलाई के लिये ही काटा है। इससे नल को कोई कष्ट न होगा और जब उसके दुर्दिन बीत जायँगे तो स्मरण करने पर सर्प स्वयं आकर विष हर लेगा। उसने नल को राजा ऋतुपर्ण की सहायता से द्यूत-विद्या सीखने की सलाह दी। घूमते घूमते नल ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या में पहुँचा। राजा उससे मिलते ही उसके गुणों को जान गया और उसे घुड़साल, चित्रालय, और पाकशाला का अध्यक्ष बना दिया। अपने किए पर पश्चात्ताप करते हुए, ईश्वर के ध्यान में मग्न, नल अपना समय व्यतीत करने लगा।

नल-दमयंती का समाचार जब कुंदनपुर पहुँचा तो राजा भीमसेन को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपनी कन्या की खोज में चारों ओर दूत भेजे। शिवदेव नामक एक विप्र दमयंती की खोज में चँदेरी पहुँचा और एक दिन दमयंती से उसकी भेंट हो गई। पटरानी को अब दमयंती का असली परिचय प्राप्त हुआ। वास्तव में वह उसकी भगिनी की कन्या थी। उससे बिदा होकर बड़े साज-सामान के साथ

दमयंती अपने पिता के घर कुंदनपुर आई। चारों ओर इस खुशी में आनंद-मंगल होने लगे। पर दमयंती का प्रिय-वियोग-संताप बढ़ता ही गया। रानी ने अपनी लाड़िली बेटी की यह दशा देखकर राजा से नल की गहरी खोज करने को कहा। नल की खोज में चारों ओर ब्राह्मण भेजे गए। एक ब्राह्मण नल को खोजते खोजते अयोध्या पहुँचा। वहाँ नल से भेंट हुई। दमयंती का हाल सुनकर वह पछाड़ खाकर गिर तो पड़ा, पर उसने अपना भेद न बताया। विप्र कुंदनपुर लौट आया और उसने दमयंती को नल का सब समाचार कह सुनाया। दमयंती ने अब छल से नल को बुलाने की सोची। ब्राह्मण शिवदेव को उसने अयोध्या में जाकर राजा ऋतुपर्ण से यह कहने की आज्ञा दी कि 'दमयंती ने नल की आशा छोड़ दी है और जो कोई आज ही कुंदन-पुर पहुँच जायगा उसे दमयंती वर लेगी।' दमयंती ने यह चाल इसलिये चली कि उसे इस बात का विश्वास था कि नल के सिवा और कोई घोड़े हाँककर इतने कम समय में कुंदनपुर नहीं पहुँचा सकता था। ऋतुपर्ण ने शिवदेव से जब यह समाचार सुना तो वह बड़ा ही आनंदित हुआ और उसने तुरंत चलने की ठानी। नल ने रथ हाँका और दोनों कुंदनपुर की ओर वेग से चल पड़े। रास्ते में एक बहेड़े का पेड़ मिला। राजा ने नल से कहा कि वह उसकी पत्ती पत्ती का गुण जानता है। नल ने फौरन उस वृक्ष को काट डाला और उसमें, राजा के कथनानुसार ही, गुण पाए। नल की प्रार्थना पर राजा ने द्यूत-विद्या भी उसे सिखला दी। संयोग से कलियुग का विश्राम-स्थल भी वह वृक्ष ही था। उसके कट जाने पर कलियुग बड़ा दुखी हुआ। नल के पास आकर उसने अपनी करनी के लिये क्षमा माँगी। नल ने उसे क्षमा कर दिया। अब रथ कुंदनपुर आ पहुँचा। ऋतुपर्ण के आने का समाचार भीमसेन ने सुना तो उसने उसकी अगवानी की पर ऋतुपर्ण के अकस्मात् आने से उसे आश्चर्य हुआ। ऋतुपर्ण ने अपने आने के कारण को छिपाकर "केवल प्रेम से दर्शन करने आया हूँ" कहकर बात बना दी। दमयंती ने भेदिया भेजकर नल का समाचार लिया। फिर नल से बिना आग-पानी के रसोई

पकवाकर तथा उसके मलने पर भी पुष्प अपना रंग न बदले, इन परीक्षाओं को लेकर दमयंती नल से मिली। दमयंती ने खूब उलाहने दिए और दोनों का संयोग हो गया।

नल के आवाहन करने पर उस सर्प ने, जिसके डसने से वह काला पड़ गया था, आकर अपना विष उतार लिया। ऋतुपर्ण ने जब नल को पहचाना तो बड़ी क्षमा-याचना की। नल ने उसकी बड़ाई करते हुए उसे अश्वविद्या सिखला दी। कुछ दिनों के बाद नल उज्जैन वापस आया और फिर जुए में पुष्कर को हराकर राज्य का अधिकारी हो गया। वह चाहता तो पुष्कर को प्राणदंड भी दे सकता था पर उसने उसे क्षमा कर दिया। अब नल-दमयंती का समय आनंद से कटने लगा। पर समय के प्रभाव से दंपती बूढ़े हो चले—

चलत चलत जोबन चल भयऊ। रहा न रूप रंग उड़ गयऊ॥
सूखा सरवर रहा न पानी। दोऊ कँवल बेल मुरझानी॥
तिन्ह सब अंग अंग पलटाए। भँवर केस बक रूप देखाए॥
लहर समुद्र नैन कै तारा। बार बार जल लेइ उफारा॥

होते होते दमयंती की मृत्यु निकट आ गई।

तेल जरा बाती पुनि घटी। दीपक ज्योति भई लटपटी॥
तेल बिना पुनि दिया न जरै। काष्ठ-हीन पावक किमि जरै॥

दमयंती नल को छोड़कर स्वर्ग सिधारी। नल के कष्ट का तो कहना ही क्या। उसने अपने पुत्र को गद्दी पर बैठाकर एकांतवास ग्रहण किया। निराकार का स्मरण करते करते उसमें तन्मयता का ऐसा भाव आया कि वह अपने लक्ष्य से एक हो गया।

मन तिन्ह देइ तन सुरत गँवाई। प्रान तिनहिं मैं रहा समाई॥
उपज ज्ञान अज्ञान हेराना। चल बियोग संजोग समाना॥
सुमिरन भजन बिसर सब गयऊ। जाकर भजै सोऊ अब भयऊ॥

संक्षेप में "नल-दमन" में वर्णित नल और दमयंती की यही कथा है।

(८) हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं का व्यावहारिक साम्य

(पत्रिका, भाग १९ अंक १, पृ० ४८ से आगे)

[लेखक—श्री ना० नागप्पा, एम० ए०]

चौथा अध्याय

व्यंजन-परिवर्तन

(१) आदि व्यंजनागम (Prothesis)

हिंदी में निश्चयवाचक सर्वनामों के आदि में "ग्" का आगम करने की प्रवृत्ति अलीगढ़ जिले में पाई जाती है। ब्रजबोली के "वह", "वा", "व्हाँ", "वे" के रूप अलीगढ़ में "गु" या "ग्व", "ग्वा", "ग्वाँ", "ग्वे" हो जाते हैं। इसी प्रकार "उन्नीस" का "गुन्नीस", "उन्तीस" का "गुन्तीस" और "उनहत्तर" का "गुनहत्तर" बोले जाते हैं।

आ० भा० आ० भाषाओं में स्वर से आरंभ होनेवाले शब्दों के आदि में "ह्" का आगम होता है। मध्य एवं पश्चिमी पहाड़ी, राजस्थानी और भीली में "और" (< अपर) का "हौर" बोला जाता है; पंजाबी में भी "होर" शब्द चलता है।

हिंदी में "यह" एवं "वह" सर्वनामों के आदि "य्" एवं "व्" को ग्रियर्सन साहब ने आगंतुक मानकर आदि वर्णागम के अंतर्गत इनको रखा है। इन सर्वनामों के "ई" [< (अप०) इमु] और "ओ" < [अप० ओइ] रूप (भोजपु० बो० "ऊ") विद्यापति की कीर्त्तिलता में मिलते हैं ["बालचंद विज्जावइ भासा, दुहुँ नहिं लग्गइ दुज्जण हासा। ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चय नागर मन मोहइ।"] हिंदी में "एकाएक" का "यकायक" भी लिखा जाता है।

द्राविड़ भाषाओं में आदि 'ए' 'ए', एवं 'ओ', 'ओ' का 'य' एवं 'व' पूर्वक उच्चारण बराबर होता है। जैसे :—

(कन्नड)	लिखित रूप	उच्चरित रूप	शब्दार्थ
	एतक्के	यतक्के	क्यों ।
	एप्पत्तु	येप्पत्तु	सत्तर ।
	ओलग	वालग	शहनाई ।
	ओनके	वनके	मूसल ।

द्राविड़ भाषाओं में आदि < < ह > > का आगम

(१) कन्नड में आदि में 'ह' के आगम के उदाहरण—

[जैसे :—(त०) < < अलट्टु > > > (क०) < < हरटु > > (=बकना)

(त०) < < अरु > > > (क०) < < हरिगु > > (=किनारा)]

कम मिलते हैं। आ० क० में आदि < < प > > को < < ह > > में परिवर्त्तन करने की प्रवृत्ति पर भा० आ० भा० का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है। संभव है कि इसी प्रवृत्ति के उपमानाभास (False Anology) पर कन्नड के कुछ शब्दों के आदि में भी < < ह > > का आगम होने लगा हो।

(२) तुळु भाषा में आदि < < ह > > आगम की प्रवृत्ति कन्नड से अधिक है।

जैसे :–(क० बो०) < < अम्बलु > > ∽ (तु०) < < हम्बलु > > (=कामना) (,,) < < एरु > > ∽ (तु०) < < हेरु > (=चढ़ना)

(३) कुई भाषा में अवधारणार्थ में 'ह' का आदि में आगम होता है। जैसे :—

(कु०) < < हिळ्ळे > > (=नहीं) ∽ (त०) < < इल्लै > >, (क०) < < इल्ल > >

(४) गोंडी में आदि < < ह > > आगम कहीं कहीं होता है। जैसे :—

< < हल > > = नहीं ∽ (क०) < < अल्ल > >

(५) कुरुक् बोली में आदि ह-आगम प्रादेशिक है, सर्वत्र नहीं होता।

उदा० :-(कु०) < <हल्का> >(=लहरें) (क०)< <अले > >(=लहर)

(कु०) < <हरा> >(=हल) ∽ (क०) < <एरु, आरु> >।

(६) ब्रहुई बोली में भी आदि ह का आगम होता है। जैसे,

(ब्र०) < <हर्र> >(=फाड़ना), ∽ (त०) < <अडर> >।

(ब्र०) < <हे> >(=उठ), ∽ (क०) < <एळु> >।

द्राविड़ भाषाओं की इस आदि ह-आगम की प्रवृत्ति पर भा० आ० भा० का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

(२) शब्दों के मध्य में व्यंजनागम

यों तो शब्द के मध्य में उद्वृत्त स्वरों के बीच में भा० आ० एवं द्रा० भाषाओं में 'य्' तथा 'व्' का आगम होता है। इस < <य्> > वा < <व्> >के आगम को "लघुप्रयत्नतर श्रुति" का एक खास नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त हिं० आदि एवं द्रा० भाषाओं में शब्द के मध्य में < <र> > का भी आगम होता है। जैसे,

(राजस्थानी) < <त्राँबू> >(=ताँबा)

(प० पहाड़ी) < <भ्रुक्खा> >(हिं०) भूखा

(हिं०) शाप>श्राप

(क०) [बो०] में < <आयितु> > (=हुआ) का < <आयित्रु> >

< <होयितु> >(=गया) का < <होयित्रु> >

< <एनु> > (=क्या) का < <एन्रु> > बराबर बोले जाते हैं।

(३) सवर्ण विधि (Assimilation)

"प्रा० भा० आ० भा० के म० भा० आ० भा० के रूप में परिवर्त्तित होने में जो जो परिवर्त्तन हुए हैं उनमें सबसे मुख्य परिवर्त्तन असम

संयुक्त व्यंजनों का सम संयुक्त व्यंजनों में परिवर्त्तन होना है। म० भा० आ० भा० की इस प्रवृत्ति ने प्रा० भा० आ० भा० से बिलकुल भिन्न रूप दे डाला। "क्त", "प्त" जैसे संयुक्त व्यंजनों के 'क्', 'प्' वर्णों को अस्फुट करने की प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते जनता का रुख अंतिम 'त्' के स्फुट एवं स्पष्ट उच्चारण की ओर चला। इस प्रवृत्ति ने 'क्' को भी 'त' के स्थान से बोलने के लिये जनता को बाध्य कर दिया जिससे 'क्त', 'प्त' जैसे संयुक्त वर्ण 'त्त' एवं 'त्त' में परिवर्त्तित हो गए। जैसे :—
(प्रा० भा० आ०) < < लिप्त, भक्त > > > < < लिप्‌त, भक्‌त > > > < < लित्‌त, भत्‌त > > < (म० भा० आ०) < < लित्त, भत्त > >

इस सावर्ण्य के साथ साथ पार्श्विक, अनुनासिक एवं ऊष्म वर्णों का उच्चार-लाघव भी हुआ। प्राय: स्पष्ट उच्चारण के प्रति जनता की प्रवृत्ति का अधिक होना ही इसका कारण हो सकता है। कुछ और उदाहरण नीचे दिए जायँगे।

(प्रा० भा० आ० भा०) < < धर्+म, सह्+य, शुक्+र, यज्+ञ, अक्+षि, शुष्+क > > (प्रा० भा० आ० भा०) > < < धर्म, सह्य, शुक्र, यज्ञ, अक्षि, शुष्क > > (म० भा० आ० भा०) > < < ध-म्म, स-ज्झ, सु-क्क, य-ञ्ञ, अक्खि, (*सुह्क) सुक्ख > >"

ODBL.Vol I

सावर्ण्य में प्राकृतों एवं कन्नड में विशेष साम्य है जो नीचे दिखाया जायगा।

सावर्ण्य के संबंध में सामान्य नियम यह है कि समान स्वनवाले (जैसे:—दोनों स्पर्श अल्पप्राण अघोष; "क+त") वर्णों के संयोग में उत्तरवर्ण (जैसे "त्त") प्राय: रह जाता है और असमान स्वनवाले (जैसे:— एक स्पर्श अघोष अल्पप्राण और दूसरा स्पर्श अघोष महाप्राण; "क्+ख्" वर्णों के योग में अधिक बलवाला व्यंजन रह जाता है। (जैसे:—"क्+ख्" > "ख्ख्")।

इस अवसर पर व्यंजनों का वर्गीकरण उनकी शक्ति-हीनता के अनुसार किया जा सकता है:—

(१) स्पर्श व्यञ्जन

(२) नासिक्य (वर्गीय व्यंजन)

(३) ळ्, स्, व्, य्, र्, ह

१. दो स्पर्श व्यंजन ।

< <क् + त् > > > त्त, ग् + ध् > द्ध्, द् + ग् = ग्ग्, इत्यादि ।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	संस्कृत	कन्नड
रिक्त	रित्त	रीता	रिक्त	रिक्कट (रा० १५)
दुग्ध	दुद्ध	दूध	चित्रगुप्त	चित्तगुत्त (बो०)
मुद्ग	मुग्ग	मूँग		

२. एक नासिक्य वर्ण और दूसरा स्पर्श वर्ण ।

(१) समान वर्ग के नासिक्य अल्पप्राण स्पर्श एवं स्पर्श व्यंजनों के योग में नासिक्य वर्ण अपरिवर्तित होता है। (२) परंतु, एक नासिक्य अल्पप्राण स्पर्श वर्ण के भिन्न वर्ग के स्पर्श व्यंजन के योग में 'नासिक्य' का 'अनुस्वार' में परिवर्तन हो जाता है ।

	प्राकृत	कन्नड
(१)	(सं०) शृंखला > (प्रा०) संखल > (हिं०) साँकल कंठ > कंठ > (हिं०) कंठ	(सं०) शृंखला > संकले (बेड़ी) (सं०) कंठ > कंठ
(२)	पंक्ति > पंति > (हिं०) पाँती संध्या > संझ > " साँझ	पंक्ति > पंति (रा० २६) संध्या > संजे (बो० रा० २५)

(३) योग में पूर्व में स्पर्श एवं पर में नासिक्य (स्पर्श) आने पर स्पर्श वर्ण का द्वित्व होता है।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	संस्कृत	कन्नड
अग्नि	अग्गि	आग	अग्नि	(तें०) अग्गि
सपत्नी	सवत्तो	सौत	सपत्नी	सौति (बो०)

(४) उपर्युक्त नियम के अपवाद भी लक्षित होते हैं :—

(प्रा०) < <-ज्ञ- > < < > >-ण्ण- > >; (क०) < <-ज्ञ- > > > < <-न्न- > > [(< <-ज्ञ- > > > < <-*द्न- > >(मराठी के प्रभाव से) > < <-न्न- > >(क०)]

संस्कृत	प्राकृत	कन्नड	रेफरेन्स
यज्ञ	जण्ण	जन्न	रामाश्वमेध (पृ० १६)
आज्ञापयति	आणवेदि	बिन्नविसु (√विज्ञाप्)	जैमिनी भारत (२-४५)
विज्ञान	विण्णाण	बिन्नण	रामाश्वमेध (पृ० १२)

(५) < <-र- > > + स्पर्श व्यंजन > स्पर्श व्यञ्जन का द्वित्व। (यह प्रवृत्ति कन्नड की भी स्वतंत्र प्रवृत्ति मालूम होती है)

प्रा० भा० आ० भा० (सं)	म० भा० आ० भा० (प्रा०, पा०)	आ० भा० आ० भा० (हिं०)
वर्तते	(प्रा०) वट्टइ	(पूर्वी हिं०) बाटै
कर्पटः	,, कप्पड	कपड़ा
कार्य	,, कज्ज	काज
वर्धते	(पा०) वड्ढति	बढ़ै
कर्म	,, कम्म	काम

संस्कृत	कन्नड	पुरानी कन्नड	आधुनिक कन्नड
अर्घ	अग्ग (बो०)	कर्पु (रा० २३)	(बो०) कप्पु (=काला)
कर्पट	(पु० क०) कप्पड (रा० ३३)	मर्दु (रा० ४१)	,, मद्दु (=दवा)
स्वर्ग	,, सग्ग (रा० २३)	पेर्चिसि	,, हेच्चिसि(=बढ़ाकर)
कार्य	,, कज्ज (रा० ८)	(पंप१-११२ गद्य)	
		किर्चु (पंप २-२६ गद्य)	,, किच्चु (=आग)
		बेर्वावु (रा०३८)	,, हेब्बावु(=बड़ा साँप)
		अर्दके (रा० २९)	,,अदक्के(=उसके लिये)

(६) स्पर्श अल्पप्राण + > > र > > > स्पर्श व्यंजन का द्वित्व ।

संस्कृत	प्राकृत या पाली	हिंदी	संस्कृत	कन्नड
चक्र	(प्रा०) चक्क	चाक	वेत्र	(बो०) बेत्त (=छड़ी)
भद्र	” भद्द	भद्दा	वज्र	(पु०क०) बज्जर (रा० ६१)
वक्र	” वक्क	बाँका	छात्र	” चट्ट (पंप २–२४)
मित्र	(पा०) मित्त	मीत		

(७) स्पर्श व्यंजन + < < व > > > स्पर्श व्यंजन का द्वित्व।

यह प्रवृत्ति कन्नड में नहीं है। केवल एक स्थान पर मुझे इस प्रवृत्ति का उदाहरण मिला है। जैसे प्रज्वल > (पु० क०) बज्जळ। पर, यह शब्द अब लुप्त हो गया है।

प्राकृत एवं पाली में इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे:—

(सं०) उज्ज्वल > (प्रा०) उज्जल > (हिं०) उजेला

(सं०) पक्व > (प्रा० पा०) पक्क > (हिं०) √पक

(८) < <-ल-> > + < <स्पर्श व्यंजन> > > स्पर्श व्यंजन का द्वित्व।

(सं०) फाल्गुन > (प्रा०) फग्गुन > (हिं०) फागुन।

(सं०) गुल्म > (क०) गुम्म (बच्चों को डराने के लिये प्रयुक्त शब्द)

(९) ऊष्म एवं स्पर्श व्यंजनों का योग।

(i) (सं०) > >-ष्क-> > > < <-क्ख-> >

(सं०) पुष्कर > (प्रा०) पोक्खर > (हिं०) पोखरा।
(सं०) पुष्करिणी > (पु०क०) होक्करिणि (द्रा० भा० में महाप्राण नहीं हैं)

(सं०) चतुष्क > (म०प्रा०) चउक्क > (हिं०) चौका, (क०) < <चौक> >

(ii) (सं०) < <-ष्-+-ट-,-ष्-+-ठ-> > > (प्रा०) < <-ट्ठ-> >

(सं०) पृष्ठ > (प्रा०) पिट्ठ > (हिं०) पीठ
(सं०) इष्टका > (क० बो०) < <इट्टिगे> >

(iii) (सं०) < <-ष्प-> (प्रा०) < <-प्फ-> >

(सं०) वाष्प > (प्रा०) बप्फ > (हिं०) भाप
(सं०) शष्प > (क०) शप्प (बो०)

(iv) < <स्त,-स्थ-> त्थ, थ> > (कभी कभी < <ट्ठ> >)

(सं०) स्थान > (प्रा०) थाण; (हिं०) थान।
(सं०) स्थान > (पु० क०) ताण [< म० प्रा० 'थाण']; (ग्रा० क० बो०) ताँवु।

(सं०) हस्त > (प्रा०) हत्थ > (हिं०) हाथ
(सं०) विस्तर > (पु० क०) वित्तर

(v) (सं०) ऊष्मवर्ण + स्पर्शव्यंजन > (प्रा० पा०) < <-स्व-क्ख-> >।

संस्कृत	प्राकृत या पाली	हिंदी	कन्नड
अक्षि	अच्छि		अच्चि (पु० क०)
आश्चर्य	(प्रा०) अच्छरिअ (पा०) अच्छरिय	अचरज	(पु० क०) अच्चरि
मत्सर	मच्छर	मच्छर	(बो०आ० क०) मच्चर
अप्सरा	अच्छरा		(पु० क०) अच्चरसि

(vi) (सं०) < <-क्ष- > > (प्रा०) < <-क्ख- > >

(सं०) अक्षि > (प्रा०) अक्खि > (हिं०) आँख।
(सं०) पक्षी > (पु० क०) < <पक्कि > > (रा० २०) >
(आ० क० बो०) < <हक्कि > > ।

(सं०) शिक्षितः > (शौ० प्रा०) सिक्खिदो > हिं०) √ सीख
(सं०) राक्षसः > (पु० क०) रक्कस (रा० २८)

(१०) दंत्य एवं 'य्' के संयोग में दंत्य का तालव्य में परिवर्तन तथा तालव्य का द्वित्व हो जाता है।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	कन्नड
सत्य	सच्च	सच, साँच	सच्चा(बो.)(=सत्यवादी,विशेषण)
उपाध्याय	उवज्झाअ	ओझा, झा	(पु० क०) ओवज (पंप२-५०)
अद्य	अज्ज	आज	
विद्युत्	विज्जु	बिजली	(आ० क० बो०) बिज्जु
मध्य	मज्झ	माँझ	
मद्य	मज्ज		(बो०) मज्ज

उपर्युक्त उदाहरणों से यह अवश्य कह सकते हैं कि सावर्ण्य-प्रवृत्ति में प्राकृत एवं पुरानी तथा आधुनिक कन्नड भाषाओं का साम्य है। सम संयुक्त व्यंजन के एक व्यंजन को लोप करके पूर्ववर्त्ती

ह्रस्व स्वर को दीर्घ करने की हिंदी वाली प्रवृत्ति कन्नड में नहीं है। यह प्रवृत्ति कन्नड में एकाध जगह मेरे देखने में आई है [जैसे सब्ब >(क०) साच्य]।

"< <-र-> > + स्पर्श व्यंजन स्पर्श व्यंजन का द्वित्व" इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त और सब प्रकार की सावर्ण्य-प्रवृत्तियाँ प्राकृतों से पुरानी कन्नड में होती हुई ज्यों की त्यों आधुनिक कन्नड में आई हैं।

(१) "द्राविड़ भाषाओं की एक विशेषता यह है कि शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन होते ही नहीं; और शब्दों के मध्य में तो असम संयुक्त वर्णों का अस्तित्व तक नहीं रह सकता और जितने संयुक्त वर्ण शब्दों के मध्य में उपलब्ध होते हैं वे सब सम संयुक्त वर्ण ही होते हैं। अत: सावर्ण्य-प्रवृत्ति (The tendency of Assimilation) द्राविड़ भाषाओं की निजी है"[१]। यह प्रवृत्ति द्राविड़ भाषाओं में इतनी अधिक है कि शब्दांत्य असंयुक्त एकाकी व्यंजनों का अनेक स्थानों पर सम संयुक्त व्यंजनों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे:—(क०) √बिडु (= छोड़ना) का पूर्वकालिक रूप < <बिट्टु> > होगा।

(२) सावर्ण्य-प्रवृत्ति मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषता है। यही प्रवृत्ति है जिसके कारण "पाली" भाषा को चाहे तो हम शूद्रों की संस्कृत या अशुद्ध उच्चारित संस्कृत कह सकते हैं। और उत्तर भारत के शूद्र (कम से कम म० भा० आ० काल में) अधिकतर द्राविड थे।

(३) भा० आर्य्य भाषाओं में यह सावर्ण्य-प्रवृत्ति म० भा० आ० भा० काल तक ही समाप्त हो गई ? आ० भा० आ० भा० काल में शब्दों के सम संयुक्त व्यंजनों में से एक व्यंजन का लोप करके पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर के दीर्घ करने की प्रवृत्ति पूर्णतया आर्य्य प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति आ० द्रा० भा० क्या प्रा० द्रा० भाषाओं में भी शायद ही रही हो; पुरानी

१—History of the Bengali Language—Mazumdar, Calcutta University, 1927. —Lecture V pp. 66 ff.

कन्नड में यह प्रवृत्ति नहीं है। इस समय द्रा० भाषाओं में सम संयुक्त वर्णों का ज्यों का त्यों उच्चारण होता है। यदि इसे हम उत्तर भारत के म० आ० भा० काल की खास प्रवृत्ति मानें तो कोई ऐसा कारण नहीं है कि हम तत्कालीन द्राविड़ भाषाओं में भी इस प्रवृत्ति का बीजारोपण न मानें।

विद्वान् Jules Bloch इस तत्कालीन समान प्रवृत्ति पर साश्चर्य्य लिखते हैं :—"How great is the probability that a parallel transformation has occured in Tamil itself !" वे (उपर्युक्त मजूमदार के मत के विरुद्ध) उसी लेख में[१] लिखते हैं "But there is no reason to prevent us from assuming that these languages (Dravidian languages), like those of Northern India, once possessed compound consonants such as, in Sanskrit, have been preserved in written record as त्रि, पुत्र, द्रोणी and हरिद्रा।"

विद्वान् Jules Bloch के इस मत से (१) में प्रदर्शित सिद्धांत का बहुत कुछ खंडन हो जाता है।

श्री मजूमदारजी इस सावर्ण्य-प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव मानकर लिखते हैं :—"If we refer these changes under consideration to the essential peculiarities of the Tamil speech, our problem will be solved. Compounding of र with म as in धर्म and ल with प as in संकल्प cannot be tolerated according to this rule" देखिए (१)

मेरा विचार है कि यह प्रवृत्ति दोनों भाषाओं में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई है। मजूमदार साहब से दर्शित 'धर्म > धम्म'वाली

१-The Intervocalic Consonants in Tamil
—Jules Bloch I. A. Vol XLVIII, 1919 pp.191-5

अर्थात् "< < र > > + स्पर्श व्यंजन > स्पर्श व्यंजन का द्वित्व" वाली प्रवृत्ति दोनों भाषाओं (प्राकृतों तथा द्रा० भाषाओं) में सबसे अधिक है। इसी प्रवृत्ति के अनुसार पु० क० के शब्द, आ० क० में परिवर्त्तित होकर आए हैं और अब भी वे उन्हीं परिवर्त्तित रूपों में चलते हैं। परंतु यह परिवर्त्तन काल ई० १६०० से इधर का है; और संस्कृत शब्दों के "र + स्पर्श व्यंजन" के स्थान में "स्पर्श व्यंजन का द्वित्व" करके प्रयोग करने के बहुत उदाहरण पु० क० के काव्यों में मिलते हैं। अतः यह प्रवृत्ति भी बिलकुल द्राविड़ी नहीं मानी जा सकती। अतः सावर्ण्य प्रवृत्ति पर दोनों भाषाओं का आपस में प्रभाव मान सकते हैं।

(४) व्यंजन-लोप (Elision of Consonants)

(१) आदि व्यंजन-लोप (Aphaeresis)

यह प्रवृत्ति कन्नड भाषा में मेरे देखने में नहीं आई है। भा० आ० भा० में अलबत्ता यह प्रवृत्ति **कहीं कहीं** दृष्टिगोचर होती है। जैसे,

(सं०) **अस्ति** > असति > असइ > अहइ > **है** (हिं०); (हिं०) **याद** > (पु० प०) **आद**।

(२) मध्य-व्यंजन लोप (Syncope)

(१) आ० भा० आ० भाषाओं में मध्यम "र" का लोप हो जाता है। जैसे:—(सं०) कृत्वा > (प्रा०) करिअ > (खड़ी०) 'करि' या 'कर', पर, (बिहारी) < < कर्ऌइ > > या < < कइ > >

हिंदी में **देखके, जाके, सुनके,** इत्यादि प्रयोग बराबर सुनने में आते हैं। इसी प्रकार 'पर' का 'पै' रूप भी चलता है। (हिं०) धरि का बिहारी में < < धर्ऌइ > > या < < धइ > > रूप हो जाता है।

(२) सिंधी, खड़ी बोली, अवधी, बिहारी एवं बंग भाषाओं में मध्यग < < व् > > का लोप हो जाता है। कभी उसके स्थान पर मुखसुख के लिये "य्" या "ह" की श्रुति भी होती है।

संस्कृत	अपभ्रंश	आ० भा० आ० भाषाएँ
नापित:	नाविउ	(खड़ी०अ०सिं०)नाई;(बि०)नाऊ(ब०)नाय़्इ।
दीपक:	दीवउ	(पू० भा० खड़ी०) दिया (सिं०) डिओ।
जीवं:	जीवु, जीउ	(खड़ी० अव०) जी (सिं०) जिउ
कूपक:	कुवउ	(सिं०) खूहु (पं०) खूह, खूहा; (हिं०) कुँआ
नव	नव	(हिं०) नौ (बं०) नय्
कुमार:	कुंवँरु(हेम०१।६२)	(हिं०) कुँअर

(३) मध्यग < <ह> > का लोप और भी अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। अपभ्रंश के कारक चिह्नों ('हि', 'हु', इत्यादि) के "ह"कार का आधुनिक भाषाओं में लोप हो गया है। जैसे, (सं०) घोटकस्य > (अप०) घोडहि > (पु० हिं०) घोड़हि > (हिं०) घोड़इ, घोड़े।

(सं०) पतन्ति > (अप०)पडहिं > (पु० हिं०)पड़इँ > (हिं०)पड़ें।

< <√कह> > के < <-ह-> > का राजस्थानी की कथित भाषा में लोप हो जाता है। हिंदी में भी इस प्रकार के लोप बराबर होते हैं।

जैसे (अप०) कहिहउँ > (हिं०) कइहउँ (=कहूँगा)

कहि > (हिं०) कइ (बो०) (=कहकर)

राजस्थानी में "र" के पूर्ववर्ती "ह" का लोप होने पर उसके स्थान में मुख-सुख के लिये "इ" का आगम होता है। उदा०:—

(फा०) शहर > (रा०) सइर

ज़हर > " झइर

प्राकृतों से विकसित हुई आ० भा० आ० भाषाओं में दो व्यंजनों के मध्य के स्वर का हल्का उच्चारण करके उन व्यजंनों को संयुक्त बनाने की प्रवृत्ति से नए नए संयुक्त व्यंजनों का जन्म इस समय हो रहा है।

इस प्रकार आजकल की आ० भा० आ० भा० की ध्वनि-प्रवृत्ति संस्कृत भाषा-ध्वनि की ओर झुकी हुई सी मालूम होती है। लिखित भाषा के विचार से यह प्रवृत्ति प्रच्छन्न है। मध्यग निकटवर्त्ती व्यंजन [जिनके बीच में एक अशक्त स्वर (Unaccented Vowel) रहता है] अलग अलग लिखे रहने पर भी ग्रामीण बोलियों में इन व्यंजनों का सन्निकर्ष होकर संयुक्त-व्यंजन-वत् उच्चारण होता है। जैसे < <मारना> > शब्द < <मार्ना> > या < <मान्ना> > जैसा सुनने में आता है। दक्षिण भारत के हिंदी विद्यार्थी [(१) जो हिंदी की इस प्रवृत्ति से अनभिज्ञ हैं और (२) जिनकी मातृभाषाओं में < <अ> > का सर्वत्र विवृत उच्चारण होता है]"मारना" शब्द को "मा—र (ा) —ना" पढ़ेंगे, पर, सिखाने पर "मार्ना" जैसा उच्चारण करेंगे।

संस्कृत के भूतकृदंत रूपों से विकसित हिंदी की क्रियाओं में इस प्रकार की नवीन संयुक्त-व्यंजनों की योजना के अनेक उदाहरण मिलेंगे। जैसे:—

(सं०) चलितः > (अप०) चलिअउ > (हिं० ब्रज०) चल्यौ (अवधी) चलेउ। (खड़ी०) चला।

इस उच्चारण-प्रवृत्ति के संबंध में श्री पं० रामचंद्र शुक्लजी 'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका में यों लिखते हैं:—

"दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष सा ब्रज और खड़ी बोली दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ योग होता है वहाँ ब्रज में संधि हो जाती है। जैसे,

{ (अव०) सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार...।
{ (ब्रज०, खड़ी०) स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यार...।

'उ' के उपरांत 'अ' का उच्चारण ब्रज को प्रिय नहीं है। जैसे—

{ (पूरबी) दुआर, कुवाँर
{ (ब्रज) द्वार, क्वारा"

शब्दों के मध्य में वर्णसंकोच द्राविड़ भाषाओं में बराबर हुआ करता है। बोलचाल की भाषा में इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। मैसूर की ग्रामीण बोलचाल में लिखी हुई "<<रत्नन देसिन्त रत्न>>" [लेखक श्री जी० पी० राजरत्नम् एम० ए०, राममोहन कम्पेनी, बेंगळूरु, १६३४] नाटक से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। मध्यग व्यंजनों का लोप करने की प्रवृत्ति आर्य्य भाषाओं की अपेक्षा द्राविड़ भाषाओं में अधिक है।

उदाहरणार्थ एक प्रघट्टक (Paragraph) उद्धृत करना पर्याप्त होगा। उद्धरण के साथ ही साहित्यासीन भाषा में उसका रूप भी तुलना के लिये दिया जाता है।

"ई पुस्तक **ओद्रोरु** नीव्याराना 'ओ नविल्नोडि केंबूत पुक्क **तरकोंतय्य' अनबौदु**; 'बुलीन्नोडि नरि बरे आक्कोंतंते' अन्बौदु। इंगे **इन्नेनार** निंनिंबुद्दि इद्दुंगेल्ला अन्बौदु! अगदिकेने निम्गिंत मुंचे नाने अंव्दुट्टोनि।"—(उक्त पुस्तक की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ५)

साहित्यिक भाषा में इसका लिखित रूप यों होगा—

ई पुस्तकवन्नु ओदिदवरु नीवु यारादरु 'ओहो! नविलन्नु नोडि केंबूतवु पुक्कवन्नु **तरेदुकोंडितु' एन्नबहुदु; 'हुलियन्नु नोडि** नरियु बरेयन्नु **हाकिकोंडितंते' एन्नबहुदु**; इल्लदेहोदरे 'मोडवन्नु नोडि नविलु कुणिदरे, गूबेयन्नु नोडि कोळियु कुणियितु' एन्नबहुदु। हीगेये **इन्नेनादरू** निम्म निम्म बुद्धियु इद्दहागेल्ल अन्नबहुदु! आदुदरिंदले निमगिंत मुंचे नाने **अंदुबिट्टिद्देने**। इदर मेले नीवु **इन्नेनन्नु हेळुवुदु**।

[=इस पुस्तक के पढ़नेवाले आपमें से कोई भले ही यह कह सकते हैं कि 'अरे! मोर को देखकर मुर्गी (?) ने अपने पंख झड़वाए'; नहीं तो यही कह सकते हैं 'बाघ को देखकर सियार ने (भी) अपनी (पीठ पर) दगवा लिया' या यही कि 'बादल को देखकर मोर नाचने लगे तो उल्लू को देखकर मुर्गी नाची'। इसी प्रकार जो सूझे कह सकते हैं! इसी

लिये आप लोगों से (कुछ भी कहने के पहले) मैंने ही कह दिया है। इस पर आप और क्या बोलेंगे !]

उपर्युक्त वाक्यों में स्थूलाक्षर शब्दों के प्रति ध्यान देने से मालूम होगा कि कन्नड में वर्ण-संकोच की प्रवृत्ति कितनी अधिक है। वे ही उदाहरण नीचे कोष्ठक में दिए जाते हैं।

बोलचाल की भाषा (ग्रामीण भाषा)	लिखित भाषा (जो शहर की बोली से मिलती जुलती है)	वह व्यंजन जिसका लोप हो गया है।
ओद्दोरु	ओदिदवरु (= जिन्होंने पढ़ा हो)	व
तरकोंतय्य	तरदुकोंडितय्य (= जी ! झड़वा लिए)	द, ड
अन्बोदु	अन्नबहुदु	ह
आकोत्तंत्ते	हाकिकोंडितंते	ड
इन्नेनार	इन्नेनादरु	द
अन्द्‌दुट्टोनि	अंदु बिट्टिद्देने	द
योळादु	हेळुवुदु	व

पुरानी कन्नड के गद्य-काव्य (रामाश्वमेध) के एकाध वाक्य को आजकल की ग्रामीण बोली में लिखकर यह बताया जायगा कि वर्णों के संकोच की इस प्रवृत्ति ने कन्नड भाषा के रूप को कहाँ तक बदल दिया है।

[पु० क०] < < मनोरमे—'इनकुसिर्वयू' **नाडोळेनित्तो रामायणंगळोळवु** नीं केळदुदारेंळोदं नलमेदोरे कंडु **पेळ्वुदु**।

[बो० क०] < < मनोरमे—ईटोंदेना ओलीदु, नाडोळगे **एटोन्द्र-मैरणोळव**। नी केळीरोग्याव्दोळतो **येऽोद** [ल्वा]

[=मनोरमा—इतना क्यों बोलते हो, देश में कितनी ही रामायणें हैं। उनको जो तुमने सुना है, जो कोई (कथा तुमको) पसंद हो कहना।]

यहाँ इन रूपों की ओर देखिए।

(पु० क०) < < एनित्तो > > (= कितने ही) > (बो० क०) < < एटो > > ['न' का लोप]

(पु० क० सं०) < <रामायण> > > (बो०क०) < <रमैण > >[‘य’ का लोप]

(पु० क०) < <पे.ळ्वुदु> >(=कहना) ,, < < येळोदु > > [‘व’ का लोप]

[पु० क०] मनोरमे अप्पुदप्पुदु। आदोडे मुन्नमारार्गिदनोरेदर्?
[बो० क०] मनोमें—औदौदु। आद्रे मुंदाणे इय्नार्योगेंळ्द्रा ?
[=मनोरमा—हाँ हाँ। तो पहले यह (कथा) किसने किससे कही ?]

(पु० क०) अप्पुदप्पुदु > (आ० बो० क०) औदौदु [‘प्प’ का लोप]

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ सामान्य शब्द भी उदाहरणार्थ दिए जाते हैं।

मैसूर शहर की बोली	मैसूर से एक ही मील की दूरी पर < <पडवारहळ्ळि> > ग्राम की बोली	वह व्यंजन जिसका लोप हुआ है।
गुडिसळु, गुडिस्लु	गुड्लु (=कुटी)	‘स’
अनुभविसु अन्भव्सु	अन्बोसु (=सहो)	‘व’
हलसिनहण्णु, हलस्नहण्णु	अलस्नण्णु (=कटहल)	ह’
अण्णतम्मंदिह, अण्तम्मंद्रु	अण्तन्दीरु (=भाई भाई)	‘म’
साहेब	सायेब	‘ह’
महास्वामी	मासोमि	‘ह’
गृहस्थ	ग्रास्त	‘ह’

कथित कन्नड एवं लिखित कन्नड में जमीन आसमान का अंतर है। अत: अ-कन्नड-भाषा-भाषियों को कन्नड भाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में वर्णलोप की यह प्रवृत्ति अतीव बाधक है। पादरी लोगों को लिखित कन्नड बोलते हुए सुनने से थोड़ी देर के लिये हँस हँस कर मनबहलाव करने का सामान हो जाता है।

लिखित एवं बोलचाल की हिंदी में इतना अंतर नहीं है। यही कारण है कि दक्षिणी शुद्ध हिंदी बोलने का प्रयत्न कर सकते हैं।

मध्य-व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति का हिंदी एवं कन्नड (तथा, अन्य द्रा० भा०) में साम्य मात्र है।

(३) अंत्य-व्यंजन लोप (Apocope)

आ० भा० आ० भा० में यद्यपि अंतिम स्वर का उच्चारण नहीं होता, पर करीब करीब सभी भाषाओं के शब्द प्राय: स्वरांत (हिंदी में अधिकतर 'अ'कारांत) होते हैं। अत: अंतिम व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति कम है। कहीं कहीं अंत्य व्यंजन का लोप हो भी जाता है; जैसे, राजस्थानी में "देह" का कहीं कहीं 'दे" और "मेह" का "मे" [लिं० स० ९।२।१७३] होता है।

द्राविड़ भाषाओं के सब शब्द नियमत: स्वरांत होते हैं। अत: उनमें भी अंत्य-व्यंजन-लोप के उदाहरण नहीं मिलेंगे।

(५) स्पर्श-व्यंजनों का वर्ग-परिवर्तन (Change of class)

(अ) मूर्द्धन्यभाव और दंत्यभाव

(Cerebralization and Dentalisation)

आ० भा० आ० भाषाओं में दंत्य वर्णों के मूर्द्धन्य में परिवर्त्तित होने के उदाहरण काफी मिलेंगे। 'र' एवं दंत्य 'ल' का अर्द्धमूर्धन्य 'ड़' एवं 'ळ' में परिवर्तन होने के संबंध में तीसरे अध्याय में विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है। प्राकृत में 'त' वर्ग का नियमत: 'ट' वर्ग में परिवर्तन होता था। खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, पूर्वी पहाड़ी, बिहारी एवं बँगला भाषाओं में प्राकृतागत 'ण'कार का लोप हो गया है। उड़िया (जिस पर द्रा० भा० का काफी प्रभाव पड़ा है) मराठी, गुजराती, मध्य एवं पश्चिमी पहाड़ी, पंजाबी, लेहंदा एवं सिंधी भाषाओं में प्राकृत के नियम का पालन किया गया है। इन्हीं भाषाओं में 'ल' का भी 'ळ' में परिवर्तन होता है।

ई० एँ०, के १९३२-३३ ई० की संख्याओं के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित "भा० आ० भा० पर नोट" नामक लेख में ग्रियर्सन साहब लिखते हैं "बुरुशास्की भाषा-भाषी प्राचीन काल में दर्दस्थान के निवासी थे। P. L. Barbour (J. A. O. S. Vol. XLI—1921 pp 60 ff) साहब ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि ये लोग प्राचीन द्राविड या मुंड थे जो आर्यों से दर्दस्थान में खदेड़े गए। यदि यह सिद्धांत प्रमाणित किया जाय तो संस्कृत, बुरुशास्की, एवं शिणा भाषाओं में 'न' का 'ण' में परिवर्तन होने के कारण स्पष्ट प्रतीत होंगे।"

मेरा विचार है कि राजस्थानी में 'ण' के उच्चारणाधिक्य का कारण भी उपर्युक्त सिद्धांत के निर्णय के साथ साथ स्पष्ट हो जायगा।

द्राविड़ भाषाओं में कहीं कहीं 'त' एवं 'द' का 'ट' एवं 'ड' में परिवर्तन होने के उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

(कन्नड) < <तगरु > >(=भेड़ा) > < <टगरु > >

< <तोळ्के > >(=खोखला) > < <टोळ्के, टोळ्ळु > >

< <दोम्बरु, डोम्बरु > >दोनों रूप इस समय बोले जाते हैं (=सँपेरा)

<दोळ्ळु, डोळ्ळु > >(=तोंद) दोनों चलते हैं।

(तुळु) < <तारु > >(=भारी) > < <टारु > >

< <तोळ्ळे > >(=खोखला) > < <टोळ्ळे

(तेळुगु) < <तावु > >(=जगह) > < <टापु > >

< <तेकु > >(=सागवान) > > >टेकु > >

<तेन्कायि > > (=नारियल) > < <टेन्कायि > >

(आ) तालव्यभाव (Palatalization)

द्राविड़ भाषाओं में कंठ्य 'क', तालव्य 'च' एवं 'श' का आपस में बराबर विनिमय होता है [उदा० (त०) 'शै' > (क०) कैटिय > (ते०) चेटिय (=हाथ)]।

हिंदी में इस परिवर्तन की प्रवृत्ति बहुत कम है। पर, संस्कृत 'त' के प्राकृत या पाली में परिवर्तित 'च' का हिंदी में परिवर्तन नहीं होता।

जैसे—

(सं०) नृत्य > (पा०) नच्च > (हिं०) नाच।

(सं०) सत्य > (प्रा०) सच्च > (हिं०) सच, साँच [(क०) सच्चा, साचा]।

(सं०) मृत्यु > (पा०) मच्चु > (हिं०) मीच।

इस प्रकार के उदाहरण संस्कृतागत शब्दों के कन्नड में परिवर्तन होने में मिलेंगे। जैसे,

(सं०) नित्यप्रयाण > (पु० क०) निच्चवयण (रा० २४)

(सं०) त्याग > (,,) चाग (पंप १—४५)।

(६) घर्ष वर्णों में परिवर्तन (Changes of Sibilants)

प्राकृत में असंयुक्त (uncompounded) 'श', 'ष' 'स'—तीनों वर्णों का 'स' में परिवर्तन होता था। मागधी प्राकृत में केवल 'श' का व्यवहार होता था। आ० भा० आ० भाषाओं पर भी प्राकृतवाला नियम ही इस बात में अनुशासन करता है। मागधी प्रदेश की बँगला भाषा में 'स' तथा 'ष' का 'श' में परिवर्तन हो जाता है। बिहारी में केवल दंत्य 'स' का व्यवहार होते हुए भी 'स' के स्थान पर 'श' ही लिखा जाता है। इस बात में बिहारी मागधी संप्रदाय का पालन करते हैं। कुछ प्रादेशिक परिवर्तनों के अतिरिक्त प्राय: अन्य सब आ० भा० आ० भाषाओं में दंत्य "स" का ही व्यवहार होता है। इन प्रादेशिक परिवर्तनों में से दो मुख्य हैं।

(१) प्राकृत की कुछ विभाषाओं में दंत्य 'स' का तालव्य 'श' में और 'श', 'ष', 'स' का 'ह' में परिवर्तन होता है।

(२) प्राकृत में शब्द के आदि में घर्ष वर्णों का स्पर्श तालव्य अघोष महाप्राण 'छ' में परिवर्तन हो जाता है। यही प्रवृत्ति

आ० भा० आ० भा० में भी कहीं कहीं दिखाई पड़ती है। इन भाषाओं में 'च' और 'छ' का घर्ष वर्णों में परिवर्तन भी होता है। प्राकृत में यह परिवर्तन तभी होगा जब 'त्' एवं 'स्' का संयोग हो। अतः आ० भा० आ० भाषाओं में घर्ष वर्णों की उत्पत्ति केवल दो प्रकार से हो सकती है—

(१) प्राकृत के घर्ष वर्णों से व्युत्पन्न

(२) 'च' या 'छ' से व्युत्पन्न

(१) घर्ष वर्णों का स्पर्श घर्ष 'च' या 'छ' में परिवर्तन

(सं०) शावक ! >(अप०) छावउ >(हिं० पं० बि० छोकड़ा (पं०) छोहरा। (गु०) छावो, छोकरा (रा०पू० पं०) छोरो।

(सं०) *शल्लिका (हिं०) छल्ली, छालू

(सं०) शयन >(हिं०) चैन

(सं०) षट् >(हिं०) छः

(२) स्पर्श घर्ष 'च' 'छ' का घर्ष 'श, स' में परिवर्तन

'छ' का सीधा 'श' में परिवर्तन कम होता है। मराठी एवं गुजराती में प्रायः 'छ' का दंत्य घर्ष 'स' में परिवर्तन होता है और कहीं कहीं तालव्य 'श' में भी परिवर्तन हो जाता है। राजस्थानी में इसी प्रकार के परिवर्तन देखने में आते हैं :—

(हिं०) "चक्की" के लिये < शक्की > > शब्द राजस्थानी में प्रयुक्त है।

" √चर " < < शर > > " "

" चंदन " < < शंदन > > " "

" छाछ " < < सास > > " "

हिंदी में तालव्य घर्ष एवं तालव्य स्पर्श व्यंजनों में विनिमय बहुत कम होता है। केवल राजस्थानी के निकट कहीं कहीं हो जाता है। यह परिवर्तन केवल बहिरंग आ० भा० आ० भा० तक परिमित है। 'अंतरंग' एवं 'मध्यवर्ती' आ० भा० आ० भाषाओं में यह परिवर्तन कदाचित् ही होता हो।

हिंदी में < <श, ष, स> >

राजस्थानी में श-ध्वनि सर्वत्र प्रचलित है, यद्यपि लिखित नहीं है। 'च' एवं 'छ' का इस भाषा में दंत्य घर्ष 'स' का सा उच्चारण होता है। अतः राजस्थानी में दो भिन्न भिन्न तालव्य व्यंजन होते हैं—

(१) 'श' [लिखित 'स']

(२) 'स' [लिखित 'च' या 'छ']

बिहारी, पूर्वी हिंदी तथा पश्चिमी हिंदी एवं पंजाबी में एक ही स्पर्श घर्ष वर्ण (जिसे 'ऊष्म' कहते थे) रह गया है। दंत्य संघर्षी 'स' का ही व्यवहार प्रायः होता है। बिहारी में भी यद्यपि 'श' लिखा जाता है, पर बोला 'स' ही जाता है।

हिंदी में दंत्य घर्ष 'स' के उच्चारणाधिक्य की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित उदाहरण दिए जायँगे।

'श' > 'स'	(सं०) शलाका	>	(हिं०)	सलाई।
	(सं०) श्वश्रूः	>	(हिं०)	सास।
	(सं०) शंख	>	,,	संख।
'ष' > 'स'	(सं०) कषाय	>	(हिं०)	कसेला।
	(सं०) वर्ष	>	,,	बरस।
	(सं०) आषाढ़	>	,,	असाढ़।

स्थूल दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते हैं कि मध्यवर्त्ती आ० भा० आ० भाषाओं (पंजाबी, पूर्वी हिंदी सहित) एवं बिहारी में केवल < <स> > का प्रयोग होता है। पर, बहिरंग आ० भा० आ० भा० (राजस्थानी तथा बिहारी को छोड़कर) में तालव्य 'श' एवं दंत्य 'स' का प्रयोग होता है।

गृहीत शब्दों के घर्ष वर्णों का आ० भा० आ० भा० में उपर्युक्त प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तन होता है। हिंदी में "नाश" लिखने पर भी प्रायः 'नास' बोला जाता है। (फा०) 'शहर्' को हिंदीवालों ने 'सहर्' बनाकर अपना लिया है। राजस्थानी में 'श' का 'ख' में परिवर्तन होता है। पर यह प्रादेशिकमात्र (local) है। जैसे :—

(माल्वी, कोटा) बाद्‌अस्या <(हिं०) बादशाह् <(फ़ा०) पाद्‌शाह् ।

गृहीत तत्सम शब्दों के असंयुक्त मूर्द्धन्य < <ष> > का पं०, प० हिं०, पू० हिं०, बि०, रा०, म०, प०, एवं पू० प० भाषाओं में स्पर्श-महाप्राण 'ख' में सर्वत्र परिवर्तन हो जाता है। पुरुषसूक्त का उच्चारण इन भाषा-भाषियों से सुनकर दक्षिणी हँसा करते हैं। ये लोग पुरुषसूक्त का निम्नलिखित प्रकार से उच्चारण करेंगे।

"सहस्रशीर्**खा** पुरु**ख**: सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतोऽवृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। पुरु**ख** एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति।"

स्थूलाक्षर 'ख' वर्णों के स्थान पर 'ष' का उच्चारण होना चाहिए।

(सं०) भाषा का अर्द्धतत्सम रूप < <भाखा> >पं०, प० हि०, रा०, म० प०, पू० प, पू० हिं, तथा बि० में चलता है।

घर्ष अल्पप्राण (श, ष, स,) ध्वनियों का घोष ऊष्म 'ह' में परिवर्तन

यह परिवर्तन बहुत हद तक शारीरक (Philological) है। घर्ष ध्वनियों के उच्चारण में मुखविवर इतना सकरा कर दिया जाता है कि निःश्वास रगड़ खाकर निकलता है। जरा और जोर से अंदर से हवा फेंकी जाय तो मुखविवर के खुले रहने पर भी वायु का स्पर्शमात्र होता है, हवा रगड़ खाकर नहीं निकलती। तब ऊष्म वर्ण "ह" का उच्चारण होता है।

शौरसेनी तथा मागधी प्राकृतों में घर्ष ध्वनियों का घोष ऊष्म 'ह' में कदाचित् ही परिवर्तन होता था; पर, महाराष्ट्री प्राकृत एवं अपभ्रंश में यह परिवर्तन हो जाता था। इस प्रकार का परिवर्तन आ० भा० आ० भा० (विशेषतया आसामी एवं उत्तर-पश्चिमी भाषाओं) में बराबर मिलता है।

राजस्थानी में 'स' का अक्सर 'श' में परिवर्तन हो जाता है। परंतु 'मालवा' बोली बोलनेवाली "षोण्डिया" नामक जंगली जाति में 'स' का सर्वत्र 'ह' करने की प्रवृत्ति है। ये लोग (रा०) < < सगूअ ळो > > (= सब) का < < हगूअ ळो > > ,(गु०) < < साँतूअ रो > > का < < हाँतूअरो > > (आहार का दैनिक अंश), (सं०) < < साधु > > का < < हाउ > > (= अच्छा) बोलते हैं।

खड़ी०, पू० हिं० एवं बि० में 'स' का कहीं कहीं 'ह' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे,

(सं०) द्विसप्तति ⁻ (हिं०) बहत्तर।

(सं०) करिष्यति 7 (प्रा०) करिस्सइ 7 करिसइ 7 (अप०) करिहइ, 7 करिअइ 7 (अव०) करी।

(सं०) गोशाला 7 (खड़ी०, अव०, बि०) गोहाल।

(सं०) **अस्ति** < *असति > *असइ < *अहइ > *हयि < *हई > है।

इस महाप्राणता (Aspiration) का कारण समर्पक रीति से अब तक नहीं बताया गया है। हो सकता है कि यह कुछ हद तक शारीरक (Physiological) हो, पर वही एकमात्र कारण नहीं है क्योंकि यह प्रवृत्ति कुछ ही शब्दों तक परिमित है। हो सकता है, गुजराती एवं ईरानी भाषाओं (जिनमें महाप्राणता या Aspiration की अधिक प्रवृत्ति है) का हिंदी पर इस विषय में प्रभाव पड़ा हो। कुछ विद्वानों ने मुंड-प्रभाव की ओर भी इस विषय में इशारा किया है।

अब द्राविड़ भाषाओं को लीजिए:—

द्राविड़ भाषाओं में इनके उच्चारण के लिये दे० तीसरा अध्याय।

तमिळ्:—

तमिळ् लिपि में 'श' तथा 'च' के लिये एक ही चिह्न है। तमिळ् में शब्दों के आदि में 'च' का व्यवहार होता ही नहीं। इस तालव्य घर्ष 'श' का मद्रास के कुछ जिलों तथा कुछ जातियों की

बोली में दंत्य "स" हो जाता है। इस 'स' के उपरांत हमेशा एक प्रकार का स्वर(जो dor sat vowel कहा जाता है) सुनाई पड़ता है। जैसे:—

(त०) < <साप्पाडु> >(=भोजन), < <सोल्लु> >(=बोल), < <सुत्तु> >(=चारों ओर) परंतु अग्रस्वर 'इ, ए' के पूर्व दंत्य 'स' का उच्चारण कहीं सुनने में नहीं आता।

संस्कृत के शब्दों के आदि < < स > > का तमिळ् में 'श' या 'च' लिखा जाता है पर ग्रंथ लिपि में (जो तमिळ्-प्रांत में संस्कृत लिखने में प्रयुक्त होती है) 'स' के लिये पृथक् चिह्न है। तमिळ् भाषा के ध्वनि-दारिद्र्य के कारण संस्कृत के सरल से सरल शब्दों को तोड़-मरोड़कर तमिळ् वाले बोलते हैं। [यही कारण है कि हिंदी-उच्चारण तमिळ् वाले बड़ी देर से सीख पाते हैं। तमिळ्-प्रांत में हिंदी-प्रचार-कार्य्य और प्रांतों से कठिन है।] ध्वनि के अनुरूप लिपि में भी सं० के सब वर्णों को लिपिबद्ध न कर सकने के कारण सं० "सकल" शब्द लिखने पर < < "शगल" > > बोला जाता है। तद्भव शब्दों में तो 'स' का 'श' सर्वत्र हो जाता है। जैसे:—

(सं०) सिंह: 7 (त०) शिंगम्

अर्द्धतत्सम शब्दों की भी यही दशा होती है। जैसे:—

(सं०) < < संतोष > > > (त०) < < शंतोडम् > >

(सं०) < <सुषुप्ति> > >(त०) < <शुळुत्ति> >

नोट:—**'ष' ध्वनि किसी भी द्राविड़ भाषा में नहीं है।** केवल दक्षिणी संस्कृत पंडित (जो प्राय: ब्राह्मण हुआ करते हैं) 'ष' का संस्कृतवत् उच्चारण करते हैं।

कन्नड

यदि तमिळ् को 'श'-प्रधान भाषा कहें तो कन्नड को 'स'-प्रधान भाषा कह सकते हैं। इस विषय में कन्नड-तमिळ्

का हिंदी बँगला सा संबंध है। त० के शब्दों के आदि < <श> > का क० में कहीं 'च' और कहीं 'स' हो जाता है। उदा०—

(i) (त०) < <श- < < >(क०) < <च-> >

(त०) < <शिदर्-> > >(क०) < <चदर्-> > (और < <कॆदर्> >भी) (=बिखेरना)

(त०) < <शिर्-> > >(क०) < <चिक्क> >(=छोटा)

(ii) (त०) < <श-> > > (क०) < <स-> >

(त०) < <शा> >(=मर) > (क०) < <सा-> >

(त०) < <शुट्ट्रु, शुट्रु> > >(क०) < <सुत्तु> > (=चारों ओर)

यही कारण है कि तद्भव शब्दों में भी ऐसा ही परिवर्तन कन्नड में दृष्टिगोचर होता है। पु० क० में (सं०) (i) < < स, श> > > < <च> > (ii) < <च, छ> > > < <स> > और (iii) < <श, ष> > > स हो जाता है।

उदाहरण—

(i) (सं०) < <स> > > (पु०क०) < <च> >, (सं०) 'श' > (पु० क०) 'च'।

(सं०) तुलसी >	(पु० क०)	< <तॊळचि> >	(रा० ३१)
,, हंस >	,,	< अंचे> >	(रा० ४५)
,, शष्कुली >	,,	< <चक्कुलि> >	(बो०)

(ii) (सं०) < <च, छ< < > (पु०क०) < <स> >

(सं०) चर्मन् >	(पु० क०)	सम्म	
क्रकच >	,,	गरगस	(बो० आ० क०)
चूर्ण >	,,	सुण्ण	(,,)
छत्रिका >	,,	सत्तिगॆ	(,,)
छुरिका >	,,	सुरगि	(,,)

(iii) (**सं०**) < < **श, ष** > > > (**पु० क० तथा आ० क०** < < **स** > > । (यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है)

संस्कृत	पुरानी कन्नड	आधुनिक कन्नड
श्री	सिरि (रा० १२)	सिरि
शिथिल	सडिल (रा० ४६) (अप० सढिल्ल)	सडिल
शृंगार	सिंगर (रा० २१)	सिंगार
यश	जस (रा० १५)	यस
वर्ष	बरिस (रा० ६२)	वर्स
वृषभ	बसव (रा० ४७)	बसव
दोष	दोस (रा० २६)	दोस (बो०)
संतोष	संतस (रा० ५२)	संतोस (बो०)
शेष	सेस (रा० ८)	सेस

अतः **कन्नड हिंदी की तरह 'स'-बहुला भाषा है।**

तुळु :—(त०) श' का कहीं 'स' और कहीं 'त' होता है। जैसे :–

(त०) < < श > > >(तु०) < < स > >

(त०) शीरु (=चीखना) >(तु०) सीर्-

(त०) शुडलू (=जलता हुआ) > (तु०) सुडु

क० तथा त० के कुछ शब्दों के < < त > > का तुळु में कहीं < < स > > और कहीं < < श > > में परिवर्तन हो जाता है। जैसे:–

(i) (**त०**) < < **त-** > > > (**तु०**) < < **स-** > >

(त०) - < तोलि > > > (तु०) सुलि, सोलि (=छिलका निकाला जाना)

(त०) < < ती, तु > > >(तु०) < < सू > > (=उज्ज्वल)

[दे० (महुई) < < तूबे > > =चंद्र]

(त०) < < तेळि > > > (तु०) < < सेळि, तेळि > > (=स्वच्छ होना)

(ii) (त० क०) < < त- < < स- > > > (तु०) < < श- > >

(त०) ती, (क०) सी (=मीठा) > (तु०) शी।

(त०) तिरुत्त॒, (क०) तिद्दु (=ठीक करना) > (तु०) शिद्॔।

तुळ॒ में इस समय तीन प्रकार की बोलियाँ मिलती हैं जिनमें शब्दों के आदि 'त' का एक बोली में 'स' तथा दूसरी में 'ह' हो जाता है। जैसे:—

बोली नं० १	बोली नं० २	बोली नं० ३	शब्दार्थ
< < तू > > [∽ (क०) तोरु]	सू	हू	देखना
< < तोजु > >	सोजु	होजु	दिखाई देना
< < तुदे > >	सुदे	हुदे	नदी
< < तेळि > >	सेळि	हेळि	स्वच्छ
< < तर्पु > >	सर्पु	हर्पु	भेदना

उपर्युक्त उदाहरणों में वे रूप जिनके आदि में < < त > > है प्राचीन हैं क्योंकि वे अन्य द्रा० भा० के तदर्थक शब्दों से मिलते हैं। श्री एल० वी० रामस्वामी ऐय्यर जी का अनुमान है कि (दे० इं० एं० १६३३ ई० पृ० १४१-१४४) तुळ॒ में 'स-' एवं 'ह-' 'त-' से ही निकले होंगे। अर्थात्

त > थ् > स।

त > थ् > ह।

परंतु आदि 'स' का 'ह' में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति केवल 'तुळ॒' भाषा में ही उपलब्ध होती है, और किसी द्रा० भा० में नहीं। अत: उस प्रवृत्ति का कारण मुंड का प्रभाव अथवा आर्य्य भाषाओं का प्रभाव मानना होगा। मेरा विचार है कि यह तुळ॒ भाषा पर गुजराती

भाषा के प्रभाव के कारण है। श्री विद्वान् गोविंद पैजी ने सिद्ध किया है कि तुळु भाषाभाषियों के पूर्वज प्राचीन काल में गुजरात के आसपास के रहनेवाले थे।

तेलुगु :—

(त०) < <श- > > (ते०) (१) च
(२) त्स
(३) द्ज़

उदाहरण :—

(१) (त०) शिरु (= छोटा) > (ते०) चिट्ट, चिन्न
(त०) शेवि (=कान) > (ते०) चेवि
(२) (त०) शा [(क०) सा] > (ते०) त्सत्स
(त०) शिप्पु (=कंघी) > (ते०) त्सीपु
(३) (त०) शरक्कु (=सरकना) > (ते०) द्ज़ारु
(त०) शालु (=नहर) [√कालु > द्ज़ालु, कालुव
(=बहना) (=नदी, झरी)
> कालुवे (क०) = नहर]

तेलुगु को हम च-प्रधान भाषा कह सकते हैं।

कुई में आदि < <स- > > का व्यवहार होता है; < <'श-' > > या < <च > > का व्यवहार नहीं होता।

जैसे :—

तमिळ्	कुई
शेलु	सल्ब (=जाना)
शा	साव (=मारना) [(क०) सावु]
ती, तेन् (=मीठा)	सेम्ब (=मीठा होना)
< <तुञ्ञ् > >	सूज (=सोना)
[(दे०) अहुई < <तूघ > > = सोना]	
< <तुघू > >	सुप (=थूकना)

गोंडी में भी शब्दों के आदि में घर्ष वर्णों का प्रयोग बहुत कम होता है। आदि में दंत्य 'स' का व्यवहार प्रायः होता है। इस बात में यह भाषा कुई भाषा से मिलती है। जैसे—

उदाहरण—

गोंडी	**अन्य द्रा० भा०**
साइ (=मर)	(त०) शा, (तु०) सइ, (क०) साइ
सी (=दे)	(कुई) सी
सूर् (=ताक में रहना)	" सूर् (=देखना)
सुर् (=पकाना)	(त०) शुण्डु(=जलाना, जलना)
सीकटि (=अँधेरा)	(तै०) चीकटि > > (=अँधेरा)

कुरुख में घर्ष वर्णों का व्यवहार नहीं होता। उनके स्थान पर स्पर्श अल्पप्राण तालव्य 'च' का प्रयोग होता है।

उदाहरण—

कुरुख	**अन्य द्रा० भा०**
चिच्चू (=आग)	(त०) किंतु, (क०) किच्चु।
चिइ (=देना)	(कुई, गोंडी) सी।
चीर (खुजलाना)	(त०) कीर्, (तै०) चीर्।

ब्रहुई में घर्ष वर्ण होते ही नहीं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्राविड़ भाषाओं में मूर्द्धन्य "ष" का बिलकुल अभाव है। ("ष" का उच्चारण आ० भा० आ० भा० में भी लुप्त हो गया है।) तमिळ् **'श'-बहुला**, तेलुगु एवं कुरुख **च-बहुला** तथा अन्य द्रा० भा० **स-बहुला** हैं। बहिरंग आ० भा० आ० भाषाओं में 'श' तथा 'स' दोनों का प्रयोग होता है और अंतरंग आ० भा० आ० भाषाओं में प्रायः 'स' का प्रयोग होता है।

(७) (Change of Crade) गुण-प्रमाण में परिवर्तन

(१) स्पर्श अघोष व्यंजनों का घोष व्यंजनों में परिवर्तन
(Voicing of Surds)

अपभ्रंश में वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय वर्णों का तृतीय तथा चतुर्थ

वर्णों में नियमतः परिवर्तन हो जाता है[1]। शौरसेनी एवं मागधी प्राकृतों में 'त' 'थ' का 'द' 'ध' में परिवर्तन होता था। प्राकृतों में मूर्द्धन्य 'ट' 'ठ' का 'ड' 'ढ' हो जाता था। आ० भा० आ० भा० में इस घोष उच्चारण की प्रवृत्ति अभी सुरक्षित है। जैसे:—

(सं०) सकल: > (अप०) संगलु > (गु०) संगूअळो (म०) संगूअळा (पं०, हिं०) सगूअरा (बि०) संगर्

(सं०) शकुन: > (अप०) संगुणु > (सिं०) संगुणउ (हिं०) संगुन् (बं०) शगुन्, (गु० पं०) शंगण्।

हिंदी में < <-क-> > के < <-ग-> > में परिवर्तित होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे :—

(i) शोक > सोग

"निसि दिन राम नाम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख **सोग**।" —सूरदास।

(ii) भक्ति > भगति (भक्त > भगूअत)

"जे दिन गए **भगति** बिन, ते दिन सालैं मोहि।"—कबीर।

(iii) उपकारी > उपगारी (उपकार > उपगार)

"दाता तरवर दया फल, **उपगारी** जीवंत।" —(कबीरग्रंथावली का० ना० प्र० स० पृ० ७७)

(iv) सेवक > सेवग

"कबीर उस करता की, **सेवग** तजै न संग। > >—(कबीर ग्रंथावली, का० ना० प्र० स० पृ० ८६)

(v) कौतुक > कौतिग

१—"अनादौ स्वरादसंयुक्तानां कखतथपफां गघदधबभाः" (हेमचंद्र)।

उदा०—जं दिट्ठउं सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु।

पिय-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयंकु॥

(विच्छोह-गरु = विच्छोह-कर)

"कबीरा चल्या राम पै, कौतिगहार अपार।" —(कबीर-ग्रंथावली, का० ना० प्र० स० पृ० ७६)

< <-ख-> > का भी < <घ> > में परिवर्तन होता है। जैसे:—

(सं०) रेखा > (म०) रेघ, (गु०) रेग।

मूर्द्धन्य 'ट', 'ठ' का 'ड', 'ढ' में परिवर्तन हो जाता है

संस्कृत	अपभ्रंश	आ० भा० आ० भा०
पठति	√पढ-	(बंग)√पड़-,(आ०)√पई, (अन्य भाषाएँ) √पढ़-√पड़-
घंटक:	घंडउ	(म०) घड़ा (हिं०) घड़ा (गु० सिं०) घड़ो (बि०) घरा।
√वेष्ट	√वेढ़(हेम०४।२२१)	(गु०)√वीट-, (बं) √बेड़-(आ०)√बेर्-(सिं०) √वेड़्- अन्य भाषाएँ √बेड़-

शौ० तथा म० प्रा० के 'द' (< त) तथा 'ध' (< थ) प्राय: आ० भा० आ० भा० में लुप्त हो गए हैं; पर कहीं कहीं रह भी गए हैं। जैसे:—

(सं०) गीतम् >(अप०) गीदु >(राज०) गीद् [माल्वी बाली]

प्राकृत या अपभ्रंश से क्रमागत शब्दों के अतिरिक्त आ० भा० आ० भा० में अन्य शब्दों के अघोष वर्णों का घोष वर्णों में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति कहीं कहीं दृष्टिगोचर होती है। जैसे, < <क> > > < <ग> >।

उदाहरण—

(जैपुरी बो० राजस्थानी भाषा) थग् < √थक् (हिं०)।

" भगत (अरबी) वक्त्।

" (अ० त०) भिग्[अ]श्या < (सं०) भिक्षा।

(राज० की निमाड़ी बो०) मुगट < (सं०) मुकुटम्

(राजस्थानी मारवाड़ी के अंतर्गत बागड़ी बोली) — गो < को (संबंध कारक चिह्न) LSI-Vol. ix, Pt. 2 p 149)

जैसे '**माणसगो**' = मनुष्य का

अन्य उदाहरण —

(i) < <-ट्ट-> > > < <-ड्ढ-> >

(सं०) कुष्ठ > (अप०) कुट्ठ > (आ० भा० आ० भा०) कोढ़

(ii) < <प-, > > > < <ब-, > >

(सं०) प्रताप: > (अ० त० हिं०) पर्‌अताव ।

(फा०) पादशाह > (हिं०) बादशाह ।

(सं०) उपविष्ट > (अप०) *उपविट्ठ > *पइट्ठ > *बइट्ठ > (हिं०) बैठ ।

तात्पर्य्य यह है कि अघोष वर्णों को घोष करने की अपभ्रंश काल की प्रवृत्ति आ० भा० आ० भा० में सर्वत्र नहीं है, कहीं कहीं सुरक्षित है ।

तमिळ् लिपि में अघोष एवं घोष वर्णों के लिये भिन्न भिन्न चिह्न ही नहीं हैं। उस भाषा में आदि में आए हुए असंयुक्त तथा मध्य या अंत में आए हुए समसंयुक्त स्पर्श वर्णों[1] का ही अघोष उच्चारण होता है। इन्हीं असंयुक्त स्पर्श व्यंजनों का शब्द के मध्य में आने पर घोष उच्चारण होता है। तमिळ् भाषा में न शब्द के आदि में घोष वर्ण आ सकता है न शब्द के मध्य में अघोष वर्ण। यही कारण है कि (सं०) < <दंत: > >का तमिळ् में < <तंदम् > >हो गया है। समस्त पदों में उत्तरपद का प्रथम वर्ण यदि अघोष हो तो उसका घोषवत् उच्चारण होगा। तमिळ् भाषा का घोष-अघोष-वर्ण-संबंधी नियम अन्य द्रा० भा० पर भी लागू होता है।

कन्नड भाषा में अघोष वर्ण का घोष वर्ण में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है।

१—केवल क, ड, त, प वर्णों का द्वित्व होता है

जैसे:—

(i) < <-क- > > > < <-ग- > > (इसकी प्रवृत्ति सब से अधिक है)

(अ) **सामान्य शब्द :—**

(सं०) लोक > (पु० क०) लोग (रा० २)

(सं०) मुकुट > (,,) मगुट (रा० ५४)

(सं०) मुकुल् > (,,) मुगुळ् (पंप २-१८ गद्य)

,, आकाश > ,, आगस (रा० ४५)

द्रा० भा० की मध्यग अघोष वर्णों को घोषवत् उच्चारण करने की प्रवृत्ति के कारण सं० के शब्दों में भी पु० क० में < <-क- > > > < <-ग- > >। **इस प्रवृत्ति के शुद्ध द्राविड़ उदाहरण केवल समस्त पदों में लक्षित होते हैं; क्योंकि केवल शब्दों के मध्य में अघोष वर्ण (असंयुक्त) होते ही नहीं।**

(आ) **समस्तपद**

< <क> > > < <ग> >

मंडु (=मर्द) + कोगिले (=कोकिल) < < मंडुगोगिले > > (रा० २६)

पळ् (=पुरानी) + कन्नडं (=कन्नड) > (पु० क०) पळगन्नडम् > (आ० क०) हळगन्नड

नडु (=मध्य) + कम्बं (=स्तंभ) > (पु० क०, आ० क०) नडुगंबं (रा० २१)

बट्टे (=मार्ग) + कावल् (=रक्षा) > (म० क०) बट्टेगाविल् (जैमिनिभारत ४-६९)

(ii) < <-त- > > > < <-द- > >

बाय् (=मुँह) + तेरे (=पट) > (पु० क०) बायदेरे (=मुँहपट)

आरु (=छः) + तिंगळ् (=मास) > (पु० क०) आरुदिंगळ् (=छमाही)

पालु (=दूध) + तोरे (=नदी) > (पु० क०) पाल्दोरे (=दुग्धधारा)

(iii) < <-प-> > > < <-ब-> >

कण् (= आँख) + पनि (= बिंदु) (पु० क०) कण्बनि।

> (आ० क०) कंबनि।

नगरं (= नगर) + पोक्कु (= प्रवेश करके) > (पु० क०) नगरं बोक्कु। (रा० ५१)

उपर्युक्त तीनों ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ कन्नड व्याकरणों में 'ग, द, ब-आदेश संधि' के अंतर्गत ली गई हैं।

(iv) < < -ट- -ड-

कपट > कप्ड (रा० ३३)

आर्य्य द्राविड़ भाषाओं की इस प्रवृत्ति के संबंध में ग्रियर्सन साहब का मत उद्धृत करना पर्याप्त होगा। उनके मत से मैं सहमत हूँ—

"In the progress of a word through the stage of the Secondary Prakrits, a medial hard consonant first became softened; and then disappeared. Thus the old Sanskrit चलति 'he goes' first became चलदि and then चलइ. Some of the Secondary Prakrit dialects remained for a much longer period than others in the stage in which the softened consonant is still retained. Nay, this softened consonant has in some cases survived even in modern vernaculars. Thus the old Sanskrit शोक is सोग and not सोअ in Hindi. *The occasional retention of this soft medial consonant can be explained by the influence and example of the Dravidian languages, in which it is a characteristic feature.*"

(—L. S. I. Vol. I. Pt. I. p 131)

(२) घोष वर्णों का अघोष वर्णों में परिवर्तन
(Hardening of Soft)

पंजाबी में यह प्रवृत्ति कैकेयी पैशाची प्राकृत से आई है। पर हिंदी में यह प्रवृत्ति नहीं है। पंजाबी में 'भाई' का 'पाई' बराबर बोलते हैं। ग्रियर्सन साहब ने इस प्रवृत्ति के उदाहरणों को दर्द भाषाओं में भी नोट किया है।

द्राविड़ भाषाओं में यह प्रवृत्ति है। (सं०) < < भाग्यम् > > का (त०) में < < पक्कियम् > > होता है। तमिळ् वाले "महात्मा गांधी की जय" के लिये "मग्रात्मा कांती की चै" बोलते हैं।

इस प्रवृत्ति के उदाहरण हिंदी में मुझे नहीं मिले हैं।

(३) प्राणध्वनि का लोप (Disaspirisation)

Disaspirisation की प्रवृत्ति बहिरंग भाषाओं में अधिक है। राजस्थानी एवं हिंदी में यह प्रवृत्ति यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। महा-प्राण-ध्वनि-रहित द्राविड़ भाषाओं में संस्कृत शब्दों के परिवर्तन में यही प्रवृत्ति काम करती है।

(i) शुष्कक: > (अप०) सुक्खउ > (म०) सुका (रा० पं०) √सूक, (अन्य भाषाएँ) √सूख-

"सूकण लागा केवड़ा, तूटी आहट-माल।"—कबीर-ग्रंथावली (पृ० ७४)

(सं०) शंख > (क०) संक (रा० २५)

(ii) (सं०) घटते > (अप०) गढइ (हेम० ४।११२) > (हिं०) √गढ़

(सं०) माघ: > (क०) मागि (रा० ४५) [बो०]

(iii) (सं०) व्यवबुध्यति > (अप०) बोज्झइ > (हिं०) √बुझ-, (रा० गु० म०) √बुज—

(सं०) संध्या > (प्रा०) संझा > { (हिं०) साँझ / (क०) संजे (बो०) }

(iv) (सं०) कृष्ट: > (अप०) √कड्ढ > (राजस्थानी की जयपुरी विभाषा) √काड़-

(हिं० एवं अन्य आ० भा० आ० भा०) √काढ़—

(सं०) शिथिल > (प्रा०) सढिल > [(अप०) सढिल्ल > (हिं०) ढीला] > (क०) (बो०) < < सडिल > >

(v) (सं०) हस्त: > (अप०) हत्थउ >(म० पं० आ० ड०रा०) हात, (अन्य आ० भा० आ० भा०) हाथ

ब्रजभाषा काव्य में कभी कभी 'हात' शब्द भी देखने में आता है। (सं०) 'गृहस्थ' शब्द का ब्रज में "गिर्हस्त" तथा कर्नाटक में "गिरास्त" उच्चारण होता है।

(सं०) कथा > (क०) कते (बो०)

(vi) (सं०) दुग्धम् [> अप०] दुद्धु >[रा०] दूद् [पू० प०] दुत् [अन्य आ० भा० आ० भा०] दुद्ध, दूध।

[सं०] विधि > [पु० क०] विदि [रा० १५]

(vii) [सं०] दर्भ: > [अप०] दुब्भु, डब्भु > [हिं०] डाभ, डाब

राजस्थानी की जयपुरी बोली में 'भी' का 'बा' सा उच्चारण करते हैं।

[सं०] स्तंभ: > [क०] कम्ब, कंब [बो०]

(८) अर्द्धस्वरों एवं वर्गीय व्यंजनों का परस्पर विनिमय

(Interchange of Semi-Vowels and Class Consonants)

(i) तालव्य 'य्', 'ज्'

(ii) वर्त्स्य 'न' तथा पार्श्विक 'ल'

(iii) दंतोष्ठ्य 'व' एवं द्व्योष्ठ्य 'ब'

उपर्युक्त वर्णों का आपस में विनिमय होता है।

पहले (ii) को लीजिए।

१—वर्त्स्य 'न' तथा पार्श्विक 'ल' का विनिमय

(i) न < ल

(सं०) निवृत्तः > (अप०) *णिउट्टु (हेम० १।१३२।) > (हिं०) √लौट-

(सं०) जन्म > (हिं०) (बो०) जल्म
(क०) (बो०) जल्म

(अं०) note (नोट) > (हिं०) लोट

(ii) ल > न

(सं०) लिङ्गपट्टः > (अप०) लिङ्गवट्टु > (बि०) नंगोट

(सं०) लवणम् > (अप०) लोणु > (हिं०) नोन, नून

(सं०) लुञ्च् > (हिं०) नोच्

द्राविड़ भाषाओं में < < ळ > ल > न > > के कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे :—

(क०) √ कोळ् > (ते०) कोनु (=खरीदना)

(क०) तुळुक्कु > (ते०) तोलुक्कु, तोनुकु (=छलकना)

तमिळ् में कर्मकारक-चिह्न 'इल्' विकल्प से 'इन्' होता है।

२—(i) तालव्य अर्द्धस्वर "य" का स्पर्श तालव्य "ज" में परिवर्तन

(ii) दंतोष्ठ्य 'व' का द्व्योष्ठ्य में परिवर्तन

(i) य > ज

प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'य्' का 'ज्' में परिवर्तन होता था। यह परिवर्तन महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतों ही तक सीमित रहा। मागधी प्राकृत में यह परिवर्तन नहीं होता था। जैसे:—

(सं०) योजनम् > (शौ० प्रा०) जोजणं
(मा० प्रा०) योयणं

ऐसा मालूम होता है कि म० भा० आ० भा० काल में 'य्' तथा 'ज्' के बीच में कोई ध्वनि (यूज़्) रही होगी जो कुछ प्रदेशों में 'ज्' तथा कुछ में 'य्' में परिवर्तित हो गई है। अस्तु। प० हिंदी में यद्यपि

'य' का 'ज' में परिवर्तन अनेक जगह होता है परंतु यह प्रवृत्ति पूर्वी ही मालूम होती है। इस विषय में प० हिं० तथा आ० क० दोनों का साम्य है। दोनों भाषाओं में यद्यपि 'य > 'ज' के उदाहरण मिलेंगे, पर 'य' को 'ज' करने की प्रवृत्ति किसी में नहीं है। हाँ, बिहारी 'य' के स्थान पर 'ज' बराबर बोलते हैं।

नीचे हिं० तथा क० के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	हिंदी	संस्कृत	कन्नड
यव	जौ	यम	(आ० बो० तथा पु० क०) जव (रा०४)
√या	जाना	यौवन	(पु० क०) जौवन, जव्वन (रा० २) (दे० हिं० ब्र० जोबन)
कार्य	कारज	कार्य	(पु० क०) कज्ज (रा० ८)
शय्या	सेज	शय्या	सेज्जे (बा० तथा पु० क०) (रा० २१)

< <व> >को < <ब> > करने की प्रवृत्ति आ० क० भाषा की अपनी मालूम होती है। पुरानी कन्नड के शब्दों के 'व' का आ० क० में 'ब' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे:—

(पु० क०) < <वेट्ट> >(रा० ७) > (आ० क०) < <बेट्ट > > (=पहाड़)

(पु० क०)< <वट्टल्> >(रा० १३) > (आ० क०) < > बट्टलु > >(=प्याला)

पुरानी कन्नड तथा तमिळ् दोनों व-प्रधान भाषाएँ हैं और आ० क० ब-प्रधान भाषा है। **तमिळ् के शब्दों के 'व' का आ० क० में नियमतः 'ब' हो जाता है।** जैसे,

(त०) < <वाळ्> > >(क०) < <बाळु> >(=जीवन)

(त०) < <वितिर्> > >(क०)< <बिदिरु> >(=बाँस)

तद्भव शब्दों में भी 'व' का 'ब' हो जाता है। इस बात में हिंदी तथा कन्नड भाषाओं का साम्य है।

संस्कृत	हिंदी	संस्कृत	कन्नड
वक्र	बाँका	वर्ण	(पु० क०, आ० क० बो०) बण्ण (रा०६) (पंप० २-३७ ग)
वधू	बहू	वृषभ	(पु० क०, आ० क० बो०) बसव (रा०४७)
वंश	बाँस	वायन(?)	(पु० क०) बायन (रा० ३२) >आ० क० बागन, बागिन

तमिळ्, मलयाळम्, कुई, तेलुगु, गोण्डी भाषाओं में शब्द के आदि में केवल "व" का प्रयोग होता है। कन्नड, तुळु, कुरुख एवं ब्रहुई भाषाओं में 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग हो जाता है।

(९) व्यंजन-व्यत्यय (Metathesis of Consonants)

वर्ण-व्यत्यय संसार की सभी भाषाओं में पाया जाता है। हिंदी तथा द्राविड़ भाषाओं में इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलेंगे। नीचे नमूने के लिये कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

(सं०) प्रत्यभिजानाति > (अप०) पच्चहिअ'णइ > (हिं०) √पहिचान्

(सं०) परिधीयते > (अप०) परिहइ > (हिं०) >पहिर्-

(सं०) ब्रुडति > (अप०) बुड्डइ (हेम० ४।१०१) > (आ० भा० आ० भा०) √बूड् या √डूब्

(कन्नड) < <अरल्, अलर् > > (=पराग)

(गोंडी) < <लोन्, नोर् > > (=घर)

(कन्नड) < <प्रलर्, प्ररल् > > (=हवा)

,, < <मळल्, मरळ् > > (=बालू)

,, < <पडर्, हरडु > > (=बिखेरना)

(६) भारतवर्ष के कतिपय प्राचीन देवालयों पर भोगासनों की प्रतिमाएँ

[लेखक—श्री शिवदत्त शर्म्मा, देहली]

यों तो मुसलमान शासकों की धर्मांधता के कारण भारतवर्ष में असंख्य देवालय नष्ट हो गए किंतु जो प्राचीन देवालय पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप में अभी तक विद्यमान हैं वे इस देश की प्राचीन कारीगरी की साक्षी देते हुए देशी और विदेशी गुणग्राहकों के चित्त को चमत्कृत करते हैं। देखनेवाले अचंभे में रह जाते हैं कि उस समय, जब पत्थरों को सुदूर ले जानेवाले, काटने-छाँटनेवाले, ऊँचे चढ़ानेवाले अच्छे यंत्रों के विद्यमान होने का पता नहीं चलता तब, ऐसे ऐसे मोटे लंबे चौड़े पत्थर कोसों की दूरी से कैसे लाए गए, कैसे ऐसे काटे-छाँटे गए तथा कैसे बड़ी ऊँचाई पर पहुँचाए गए। फिर खुदाई गढ़ाई के काम का क्या कहना है। क्या कारीगरों ने जादू से उस समय पत्थर को मोम बना दिया था? तनिक सी भी जगह खाली न रहने दी जहाँ फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, देव, दानव या मानव का चित्र न दिखाया गया हो। कई स्थानों में छत की कारीगरी इस कमाल की है कि देखते ही बनता है। ऐसी सजीव कारीगरी के सामने से, जो कहीं कहीं तो ऐसी दिखाई देती है मानो कारीगर ने अपनी टाँकी अभी अभी बंद की है, मनुष्य को आगे बढ़ना कठिन हो जाता है।

ऐसी उत्तम और उत्कृष्ट कारीगरी के कई प्राचीन देवालयों पर कुछ ऐसी चित्रकारी के दर्शन होते हैं जो उन स्थानों के लिये असंगत प्रतीत होती है। इस देश के कवि-कोविदों और धर्मोपदेशकों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह को दबाने के लिये कितने गहरे, कितने अधिक और कितने विस्तृत आदेश तथा उपदेश किये हैं यह लोक-विदित है। ऐसी स्थिति में जिसका प्रबल निषेध हो उसका प्रदर्शन, जो प्रचार के तुल्य

हो और वह भी धर्म-स्थानों में, कैसे संभव है? अधिक से अधिक इतना संगत माना जा सकता है कि चित्रकार मनुष्य को पूर्ण स्वाभाविक प्राकृतिक सौंदर्य से देखे और वैसा ही अकृत्रिम रूप में चित्रित कर दे। अत: नग्न बालक, बालिका, पुरुष अथवा स्त्री की प्रतिमा प्रदर्शित करने में किसी सीमा तक आक्षेप समीचीन नहीं गिना जा सकता; क्योंकि इस नियम को तो किसी न किसी रूप में सब समय के और सब देशों के कारीगरों ने माना है। ऐसी विमुक्तभूषा निर्व्याज मनोहरांगी चित्रकारी सत्काराई है किंतु भोगासनों की प्रतिमाएँ आजकल प्राय: दुराशय को उत्पन्न करनेवाली गिनी जाती हैं। जिन्होंने भारतवर्ष में अधिक भ्रमण किया है और बहुत से प्राचीन देवालय देखे हैं उन्होंने कई ऐसे देवालय देखे होंगे जिनमें दो चार या कुछ अधिक ऐसी प्रतिमाएँ प्रदर्शित की हुई हैं। ये प्रतिमाएँ प्राय: कोनों में दिखाई हुई होती हैं और प्राय: जगमोहन को, जिसमें मुख्य देव-प्रतिमा विराजती है, छोड़कर आगे के मंडप में—जो सभामंडप या नृत्यमंडप कहलाता है उसके—बाहर की तरफ बनाई हुई होती हैं।

यात्री को पेशावर से चलकर कलकत्ते तक यद्यपि हरद्वार, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, मथुरा, वृंदावन, अयोध्या, प्रयाग, काशी, वैद्यनाथधाम जैसे महत्त्व के तीर्थ और पुण्य स्थान मिलते हैं किंतु इनमें कोई बहुत प्राचीन देवालय अच्छे स्वरूप में विद्यमान नहीं मिलता। बुंदेलखंड में, जी० आई० पी० रेलवे के हरपालपुर स्टेशन से ६६ मील की दूरी पर, छत्रपुर राज्य में, खजराहो ग्राम में शिव, विष्णु और जैनियों के देवताओं के कई प्राचीन मंदिर अभी तक अच्छी अवस्था में विद्यमान हैं। ये देवालय चंदेल राजाओं के शासन-काल में ९५० ई० से लेकर १०५० के बीच में बनाए गए। ये सुमेरु के आकार पर बनाए गए हैं। कंडेरिया महादेव, विश्वनाथ, रामचंद्र, नेमीनाथ, पार्श्वनाथ आदि के देवालय उत्कृष्ट कारीगरी से परिपूर्ण हैं। यहाँ पर जो भोगासनों की प्रतिमाएँ प्रदर्शित की हुई हैं उनके विषय में लोकोक्ति है कि हेमवती नामक एक स्त्री ने चंद्रमा से कुछ दुर्व्यसन कर लिया जिसके प्रायश्चित्त रूप

एक यज्ञ किया और उसी संबंध में अपने दुष्कर्म को लोक में प्रदर्शित करनेवाली प्रतिमाएँ देवालय पर बनवाईं परंतु इसमें कोई यथार्थ तथ्य प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यह घटना अन्यत्र लागू नहीं होती। उड़ीसा में पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क में महत्त्वपूर्ण देवालय हैं। पुरी का भगवान् जगन्नाथजी का देवालय विख्यात है। उत्तर भारत में इस धाम का बड़ा मान है। वहाँ हर समय भक्ति भाव से ओत प्रोत यात्री दूर दूर से आते जाते रहते हैं। वे नृत्य-मंडप के बाहर असाधारण, असामान्य और प्रायः अदृष्टपूर्व प्रतिमाओं को देखते हैं और यद्यपि उनके चित्त में कुछ संशय का समुत्थान होता है किंतु वह विचार वहीं रह जाता है। उनके लिये इतना सुन लेना कि ये आलेख्य कलियुग में होनेवाले व्यवहार का प्रदर्शन कराने के लिये बनाए गए हैं अथवा यह कि यदि किसी स्त्री का नग्न स्वरूप में देखने का पातक हुआ हो तो इनके दर्शन से उसकी निवृत्ति होती है पर्याप्त हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों वांछनीय हैं। रामेश्वर धर्म के लिये, द्वारका अर्थ के लिये, जगन्नाथ काम के लिये और बदरिकाश्रम मोक्ष के लिये मुख्य रूप से आराधना करने के धाम हैं। किसी किसी की सम्मति में ये वाम-मार्ग के अवशिष्ट चिह्न हैं।

भुवनेश्वर में लिंगराज, ब्रह्मेश्वर, परशुरामेश्वर, कपिलेश्वर, केदारेश्वर, मेघेश्वर, भास्करेश्वर, राजरानी, वासुदेव आदि के कई महत्त्वपूर्ण देवालय हैं। इस स्थान पर भी ऐसी चित्रकारी मिलती है किंतु कोणार्क में, जो पुरी से उत्तर-पूर्व कोण में २४ मील पर है, ऐसे आलेख्यों की भरमार है। कुछ लोग कहते हैं कि ये प्रतिमाएँ देवालय के बाहर इसलिये बनाई गई हैं कि इनके दर्शन से देवालय पर राक्षसों की कुदृष्टि न पड़े।

बहुत संभव है, ऐसी प्रतिमाओं के बनाने की शैली उस समय प्रारंभ हुई हो जब संसार में सरलता, आर्जव, निर्व्याजता, निष्कपटता, और मायाहीनता का साम्राज्य था। विवाह-पद्धति में कुछ मंत्र ऐसे आते हैं जिनका अक्षरशः अनुवाद कदाचित् आजकल कितने ही लोगों को

अच्छा न लगे; किंतु वे शुद्ध समय के शुद्ध मंत्र हैं जिनमें शुद्ध विचार हैं और वस्तुत: अश्लीलता का छींटा भी नहीं। प्रारंभ में जगदुत्पादक का उत्पत्ति के लाक्षणिक संकेत से जगत् में पूजा जाना आश्चर्य्य की बात नहीं। ऐसा विधान भारतवर्ष में ही नहीं किंतु संसार की बहुत सी प्राचीन जातियों में था। उस प्राचीन काल में जननेंद्रिय को शरीर का बहुत पवित्र भाग मानने की प्रथा थी। जैसे शपथ करते समय आजकल हृदय पर हाथ रखते हैं वैसे ही अरब देश में उस अंग पर, शपथ करते हुए, हाथ रखने की रीति थी। इस विषय में श्रीयुक्त राजेंद्रलाल मित्र रचित Antiquities of Orissa का तृतीय अध्याय पढ़ने योग्य है। उसमें उन्होंने बतलाया है कि ऐसी प्रतिमाएँ, जो आजकल आक्षेप के योग्य गिनी जाती हैं, पूर्वकाल में विदेशों में भी थीं—

According to Dulaure the Symbolic figure carried in procession during the festival of Osiris, and Isis (I'svara-शिव and his consort ईशा) was a representation of the phallus of the bull.

पूर्वकाल में जब लोक में संसार के प्रति घृणा और त्याग का अत्यधिक प्रचार नहीं था तब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही वांछनीय और उपादेय गिने जाते थे[1]। देवालयों में इन चारों का ही प्रदर्शन कराया जाना इस दृष्टिकोण से बुरा नहीं गिना जाता था। देवालयों के रथों पर भी इसी नियम के अनुसार प्रदर्शन कराते थे। देवालयों की दीवारों तथा रथों के चार विभाग माने जाते हैं। सबसे नीचे का विभाग धर्म पुरुषार्थ के लिये निश्चित किया हुआ होता है। दूसरे भाग में अर्थ पुरुषार्थ दिखाते हैं। इसके ऊपर तीसरा भाग काम पुरुषार्थ के लिये और सबसे ऊपर का भाग मोक्ष पुरुषार्थ के लिये निश्चित किया हुआ होता है। इसी के अनुसार कई स्थानों में नीचे के

१—धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या यो ह्येकसक्त: स नरो जघन्य:।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे॥

भाग में आदि शेष के दर्शन प्राप्त होते हैं और उसके ऊपर विवाह तथा युद्ध के दर्शन, उसके ऊपर नृत्य करती हुई अप्सराओं के अथवा कामकला की चित्रकारी और अंत में सबसे ऊपर साधुओं, सिद्धों, संन्यासियों एवं योगियों की प्रतिमाएँ बनाई हुई होती हैं। शिल्प-ग्रंथों में ऐसा विधान निर्दिष्ट है[1]। यथा—

दक्षिणेन गणेशानं उत्तरे नृत्तरूपिणम्।
क्षेत्रेशं चैव क्षेशानां द्वारे तद्द्वारपालकान्॥
ईशावतारक्रीडादिकथारूपाणि चैव हि।
मूलभित्तौ च परितो विन्यसेदुक्तलक्षणम्॥

—शिल्परत्नाकर

देवानां च द्विजानां च वासयोग्यं सनातनम्।
बहिरंतश्च सर्वेषां छत्रं युञ्जीत बुद्धिमान्॥
सुमंगलकथोपेतं श्रद्धानृत्तक्रियान्वितम्।

—मयमत

पुरुषार्थयुतं एवं कर्णमानमुदीरितं।
त्रिचतुश्पञ्चषट्सप्तचाष्टनाड्यकनाडिका॥
एकं तु भारयुक्तं स्यात् क्षुद्रे तु द्वयमेव वा।
मुखे पृष्ठे नाद्यबिम्बं कुर्यादुक्तं विशालधीः॥

—रथशास्त्र

देवालयों में इन प्रतिमाओं के औचित्य के विषय में एक और भी विचार उपस्थित किया जाता है[1]। वह यह कि ये प्रतिमाएँ उस मंडप में तो बनाई नहीं जातीं जिसमें मुख्य देव-दर्शन हैं; और मंडपों में

१—देखो Significance of temple architecture by Dr. R. Shamasastry, B. A. Ph. D. पृष्ठ ७८१ Proceedings and Transactions of the Seventh All India Oriental Conference Baroda 1933.

बनाई जाती हैं जिसका उद्देश्य यह हो सकता है कि भक्तजन उनको देखकर अपने मन से पूछ लें कि कहीं ऐसे दर्शनों से उनके मन में विकार तो नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि यदि विकार उत्पन्न होता है तो वह अभी देव-दर्शन का अधिकारी नहीं हुआ। इसलिये जैसे वस्त्र को खार में उसको अधिक मैला करने के लिये नहीं किंतु साफ करने के लिये डालते हैं वैसे ही ये प्रतिमाएँ मन के मैल को दूर करने के लिये, न कि उत्पन्न करने के लिये बनाई गईं। यह अवश्य सत्य है कि एक शैली एक समय में उचित और संगत गिनी जाती है किंतु वही परिस्थिति-विपरिणाम से अन्य समय में आक्षेपावह हो जाती है।

१ They say it is to ward off evil spirits and protect structure against lightning, cyclone or dire visitations of nature. A pilgrim whose mind does not become affected at the sight of these obscure figures is spiritually fitted to enter into the sanctum and to see the image of the deity. देखो Orissa and her remains by Manmohan Ganguli.

(१०) उर्दू की हिंदुस्तानी

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडे, एम० ए०]

हिंदी-उर्दू-विवाद को शांत करने के लिये जो 'हिंदुस्तानी' नाम का मंत्र निकाला गया है उसके विषय में मौन रहना ही मंगलप्रद जान पड़ता है। परंतु पाठकों से इतना निवेदन कर देना उचित प्रतीत होता है कि हिंदुस्तानी को अपनाने के पहले कम से कम वे एक बार उसके इतिहास और स्वरूप को समझ लेने का कष्ट करें और फिर देखें कि उनकी हिंदुस्तानी का सच्चा रूप क्या है। किस प्रकार वह संस्कृत के प्रचलित तथा ठेठ शब्दों का बहिष्कार कर अरबी-फारसी के अजीब शब्दों को अपनाती जा रही है। अच्छा होगा यदि हम पाठकों के सामने कुछ 'उर्दू' की 'ठेठ हिंदुस्तानी' का नमूना पेश करें और उनसे यह जान लेने की इच्छा प्रकट करें कि आखिर आज हमारी अवस्था में क्या परिवर्त्तन हो गया है कि हमारी राष्ट्रभाषा यानी 'हिंदुस्तानी' से उन शब्दों को भी निकालकर बाहर दफनाया जा रहा है जो देश के कोने कोने में न जाने कब से प्रचलित तथा टकसाली रूप में चालू रहे हैं। यही नहीं, मुसलमानों के प्रधान केंद्र 'उर्दू', अथवा उचित होगा 'उर्दू-ए-मुअल्ला', में भी बराबर व्यवहृत होते रहे हैं।

'उर्दू' अथवा 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के अर्थ को ठीक ठीक ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक है कि हम मीर अमन देहलवी के उस कथन को उद्धृत करें जिसमें उन्होंने 'उर्दू की ज़बान' की चर्चा की है और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की सीमा भी बहुत कुछ निर्धारित कर दी है। उनका कथन[1] है—

१—मीर अमन के सभी अवतरण 'बाग़-ो-बहार' नामक उनकी प्रसिद्ध पुस्तक से लिए गए हैं। इस पुस्तक का एक दूसरा नाम 'क़िस्स: चार दरवेश'

"जब हज़रत शाहजहाँ सकबे क़ेरान ने क़िल-अ-मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर फ़रमाया......तब बादशाह ने ख़ुश होकर जश्न फ़रमाया और शहर को अपना दार-उल-ख़िलाफ़त बनाया तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ। अगर च दिल्ली जुदा है। वह पुराना शहर और यह नया शहर कहलाता है। और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला ख़िताब दिया। अमीर तैमूर[१] के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक़्त तक पीढ़ी-ब-पीढ़ी सल्तनत एक साँ चली आई। निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।" (पृ० ५)

मीर अमन की इतिहास की भूलों पर ध्यान देना व्यर्थ है। यहाँ तो इतना जान लेना ही काफ़ी है कि मीर अमन 'उर्दू-ए-मुअल्ला' तथा 'उर्दू' को किसी लश्कर या बाज़ार के संकेत के रूप में न लेकर केवल शाहजहानाबाद के एक ख़ास टुकड़े के अर्थ में ले रहे हैं जिसकी ज़बान को 'उर्दू की ज़बान' कहते हैं।

'उर्दू की ज़बान' के विषय में मीर अमन का ख़ुद दावा है कि उनकी 'ज़बान' 'सनद' है। उनका कहना है:—

"सच है बादशाहत के इक़बाल से शहर की रौनक़ थी। एकबारगी तबाही पड़ी। रईस वहाँ के मैं कहीं और तुम कहीं होकर जहाँ जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क में पहुँचे वहाँ के आदमियों के साथ-संगत से बातचीत में फ़र्क़ आया और बहुत ऐसे हैं कि दस-पाँच बरस किसी सबब से दिल्ली में गए और रहे। वे भी कहाँ तक बोल सकेंगे। कहीं न कहीं चूक ही जावेंगे। और जो शख़्स सब आफ़तें सहकर दिल्ली का रोड़ा होकर रहा और दस-पाँच पुश्तें उसी शहर में

भी है। यहाँ पर जो अवतरण दिए गए हैं वे मुंशी नवलकिशोर प्रेस के सन् १६२० ई० वाले संस्करण से हैं।

१—अमीर तैमूर की जगह यदि बाबरशाह का उल्लेख होता तो इतिहास की रक्षा हो जाती। मीर अमन की इन भूलों की चर्चा फिर कभी की जायगी।

गुज़रीं और उसने दरबार-उमरावों के और मेले-ठेले उर्स छड़ियाँ, सैर व तमाशा और कूच:गरदी उस शहर की मुद्दत तलक की होगी और वहाँ से निकलने के बाद अपनी ज़बान को लिहाज़ में रखा होगा उसका बोलना अलबत्त: ठीक है। यह आजिज़ भी हर एक शहर की सैर करता और तमाशा देखता यहाँ तलक पहुँचा है।" (वही पृ० ५)।

मतलब यह कि मीर अमन की ज़बान हर तरह से 'मुस्तनद' और 'फ़सीह' होने का क़ुदरती हक़ रखती है। उनके 'नजीब' और 'फ़सीह' होने में किसी को शक नहीं।

मीर अमन की ज़बान के बारे में बहुतों[१] की वही राय है जो ख़ुद उन्होंने इस तरह ज़ाहिर की है। उनकी इस मुस्तनद ज़बान पर संस्कृत के कितने और कैसे कैसे शब्द नाच रहे थे इसका पूरा पूरा पता बताना तो इस समय असंभव है। हाँ, इतना आसानी से किया जा सकता है कि उसका कुछ आभास दिखा दिया जाय और पाठकों से यह जान लेने की इच्छा प्रकट कर ली जाय कि आख़िर आज हम क्यों उन्हें अपनी ज़बान से अलग कर दें? उनका और अधिक उपयोग क्यों न करें? सुनिए, मीर अमन डाक्टर गिलक्रिस्ट को, उन्हीं डाक्टर गिलक्रिस्ट को जो आज उर्दू के कृतांत समझे जा रहे हैं, किस अदब से याद करते हैं और उर्दू के प्रचार का सेहरा उनके गले लगाते हैं। उनका कहना है "सो अब ख़ुदा ने बाद मुद्दत के जान गिलक्रिस्ट साहब बहादुर सा दाना नुक्त:-रस पैदा किया कि जिन्होंने अपने ज्ञान और उक्ति से और तलाश और मेहनत से क़ाअदों की किताबें तसनीफ़ कीं। इस सबब से हिंदुस्तान की ज़बान का मुल्कों में रवाज हुआ और नए सिर से रौनक़ ज़्याद: हुई।" (वही पृ० ५)।

१—सर सैयद अहमदख़ाँ से लेकर डाक्टर मौलाना अब्दुल हक़ तक जिस किसी का अध्ययन कीजिए आपको स्पष्ट अवगत होगा कि वे मीर अमन की ठेठ ज़बान के क़ायल हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां-द-तासी को तो उसका पाठ्य-पुस्तकों से निकाला जाना खल सा गया था। उनकी दृष्टि में 'हिंदुस्तानी' की उचित शिक्षा के लिये उसका पाठ्य-क्रम में बना रहना अनिवार्य था।

अँगरेज़ों अथवा ब्रिटिश सरकार ने किस तरह उर्दू को बढ़ाया, इसका विचार अन्यत्र किया जायगा। यहाँ हमें 'ज्ञान और उक्ति' को नोट कर लेना है और समय पड़ने पर यह याद दिला देना है कि यह उर्दू का 'ठेठ हिंदुस्तानी' शब्द है जिसे "उर्दू के लोग हिंदू-मुसलमान, औरत, मर्द, लड़के-बाले, ख़ास-वो-आम आपस में बोलते चालते हैं।" (वही पृ० ३)।

मीर अमन की 'उर्दू की ठेठ हिंदुस्तानी' में शुद्ध संस्कृत शब्दों का कितना प्रयोग था ज़रा यह भी देख लीजिए। 'मुल्क ज़ेरबाद की रानी का क़िस्सः' ले लीजिए। आरंभ में ही आपको दिखाई देगा :—

"मैं कन्या ज़ेरबाद के देस के राजः की हूँ और वह गबरू जो ज़ंदान-सुलेमान में क़ैद है उसका नाम बहरहमंद है। मेरे पिता के मंत्री का बेटा है। एक रोज़ महाराज ने आग्या दी कि जितने राजः और कुँवर हैं मैदान में ज़ेर झरोके आकर तीर-अंदाज़ी और चौगानबाज़ी करें तो घुड़चढ़ी और कसब हर एक का ज़ाहिर हो। मैं रानी के नेरे जो मेरी माता थीं अटारी-ओझल में बैठी थी और दाइयाँ और सहेलियाँ हाज़िर थीं। तमाशा देखती थीं। यह दीवान का पूत सब में सुंदर था और घोड़े को कावे देकर कसब कर रहा था। मुझको भाया और दिल से उस पर रीझी। मुद्दत तलक यह बात गुप्त रही। आख़िर जब बहुत व्याकुल हुई तब दाई से कहा और ढेर सा इनाम दिया।" (वही पृ० ८६)

अस्तु, हिंदुस्तानी का जो नमूना सामने है उसमें यद्यपि देश को 'देस' और राजा को 'राजः' कर दिया गया है और इस प्रकार अपने विदेशी अथवा उर्दूपन की पूरी पूरी परख दी गई है तथापि यह आज की राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी का सच्चा नमूना नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें कन्या, पिता, मंत्री, माता, सुंदर, गुप्त और व्याकुल जैसे अत्यंत प्रचलित और जीते जागते शब्द आ गए हैं जिनको आज उर्दू के धनी मतरुक कर चुके हैं और फलतः अपनी मुल्की ज़बान में उनको देखना गुनाह समझते हैं। दूसरी ओर उसमें 'नेरे', 'घुड़चढ़ी', 'भाया' और 'रीझी' आदि जैसे गँवारू शब्द भी आ गए हैं। फिर भला ज़बान के

उस्ताद इसे क्योंकर अपनी मुल्की ज़बान मान लें ! यह तो ग़ुलामों की ज़बान के अल्फ़ाज़ हैं। इनको अपनाकर 'इम्तयाज़' का ख़ून नहीं किया जा सकता। मुल्की ज़बान का मतलब देहक़ानी ज़बान नहीं है। वह दिन लद गया जब 'उदू की ज़बान' उदू में सनद मानी जाती थी। अब तो लखनऊ[१] की मजलिसी और अदबी ज़बान मुल्क की असली ज़बान है। उसी का कांग्रेसी या सरकारी नाम हिंदुस्तानी माना गया है, कुछ महात्मा गांधी की हिंदी-हिंदुस्तानी का नहीं। उसका ज़माना तो मीर अमन के साथ 'मदफ़ून' हो गया।

जो हो, मीर अमन ने कुछ इसका ध्यान अवश्य रखा है कि उनकी 'उदू की हिंदुस्तानी' में कुछ हिंदियत भी ज़रूर हो। निदान हिंदू-मुसलिम एकता की एकाध झलक दिखा देने में उनको कोई क्षति नहीं दिखाई देती। चुनांच एक जगह लिखते हैं—

"बहन ने......इमाम ज़ामिन का रुपय: मेरे बाज़ू पर बाँधा दही का टीका[२] माथे पर लगाकर, आँसू पीकर बोली, "सिधारो तुम्हें ख़ुदा को सौंपा। पीठ दिखाए जाते हो इसी तरह जल्द अपना मुँह दिखाइयो।" (वही पृ० १५)।

'दही का टीका माथे पर' देखने का हौसला किसे न होगा, पर यहाँ तो कलंक का टीका ही दिखाई दे रहा है। समय का फेर है। देखिए—

१—पाठकों को अच्छी तरह याद होगा कि अभी कुछ दिन पहले सर तेजबहादुर सप्रू जैसी हिंदुस्तानी-परस्त हस्ती ने लखनऊ की ज़बान की प्रशंसा की थी और 'नासिख़' की अरबी-फारसी-मयी उदू को सराहा था। जब हिंदुस्तानी के हिमायतियों का यह हाल है तब उदू के पेशवाओं की बात ही क्या ! वे क्यों न अपनी क़ौमी ज़बान को मुअर्रब बनाएँ !

२—वहाबियों के घोर आंदोलन ने इस ढँग की हिंदियत का बहुत कुछ विनाश कर दिया। रही सही का ध्वंस शीघ्र ही 'लीग' के कठिन और कठोर हाथों से होने जा रहा है। 'इम्तयाज़' की इस सनक का सामना करना राष्ट्रभक्तों का काम है। दीन-परस्तों को चाहिए कि दीन को मज़हब से अलग करें और रस्म वो रवाज को आसमानी अथवा किताबी होने से बचा लें।

"अगर च कलंक का टीका मेरे माथे पर लगा, पर ऐसा काम नहीं किया जिसमें माँ-बाप के नाम को ऐब लगे। अब यह बड़ा दुख है कि वे दोनों बेहया मेरे हाथ से बच जावें और आपस में रंगरलियाँ मनावें और मैं उनके हाथों से यह कुछ दुख देखूँ।" (वही पृ० ३६)

कलंक का टीका क्यों लगा ? अपने कर्मों से नहीं, बल्कि 'कर्म की रेखा' के कारण। किस प्रकार ? उसे भी जान लीजिए—

"सो तूने देखा। मैं किसू का बुरा नहीं चाहती थी लेकिन यह ख़राबियाँ क़िस्मत में लिखी थीं। टलती नहीं करम की रेखा। इन आँखों के सबब यह कुछ देखा।" (वही पृ० ३४)।

आँखों ने क्या कर दिखाया, कुछ इसका भी पता है ? बेचारी की जो गति हुई वह यह है—

"वह लड़की अपनी हमजोलियों में बैठी थी और ख़ुशी से गुड़िया का ब्याह रचाया था। और ढोलक पखावज लिए हुए रतजगे की तैयारी कर रही थी और कड़ाही चढ़ाकर गुलगुले और रहम तलती और बना रही थी कि एकबारगी उसकी माँ रोती-पीटती सर खुले पाँव नंगे बेटी के घर में गई और दो हत्थड़ उस लड़की के सिर पर मारी और कहने लगी 'काश कि तेरे बदले ख़ुदा अंधा बेटा देता तो मेरा कलेजा ठंडा होता'।" (वही पृ० ६९)।

इतना होने पर भी चैन न मिला। उसको और भी भयानक कष्टों का सामना करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि—

"उसी तरह तीन दिन रात साफ़ गुज़र गए मलिक: के मुँह में एक खील भी उड़कर न गई। वह फूल सा बदन सूखकर काँटा हो गया और वह रंग जो कुंदन सा दमकता था हल्दी सा बन गया। मुँह में फेफड़ी बँध गई। आँखें पथरा गईं। मगर एक दम अटक रहा था कि वह आता जाता था। जब तक साँस तब तक आस।" (वही पृ० ५३)।

निदान, वह दिन भी आ गया कि

"जाते जाते अचिंत एक दरिया कि जिसके देखने से कलेजा पानी हो रहा था, कुछ थल बेड़ा न पाया। इलाही अब इस समुंदर से क्योंकर पार उतारें। एक दम इसी सोच में खड़े रहे। आख़िर दिल में लहर आई कि मलिकः को यहाँ बिठाकर मैं तलाश में नाव नवाड़ी के जाऊँ। जब तलक असबाब गुज़ारे का हाथ आवे तब तलक वह नाज़नी भी आराम पावे। तब मैंने कहा 'ऐ मलिकः अगर हुक्म हो तो घाट-पाट इस दरिया का देखूँ।' फ़रमाने लगी 'मैं बहुत थक गई हूँ और भूकी प्यासी हो रही हूँ। ज़रा दम ले लूँ। जब तईं तुम पार चलने की कुछ तदबीर करो।' उस जगह एक दरख़्त पीपल का था। बड़ा छत्र बाँधे हुए कि अगर हज़ार सवार आएँ तो धूप-मेह में उसके तले आराम पाएँ।" (वही पृ० ३७)

कुछ भी करो, होनहार होकर ही रहता है। आख़िरकार "घोड़ी ने भी जल्दी कर कर अपने तईं मलिकः समेत मेरे पीछे दरिया में गिराया और पैरने लगी। मलिकः ने घबराकर बाग खींची। वह मुँह की नरम थी। उलट गई। मलिकः ग़ोतः खाकर मय घोड़ी दरिया में डूब गई।... मैं सौदाई और जनूनी हो गया और फ़क़ीर बनकर यही कहता फिरता था—इन नैनों का यही बिसेख, वह भी देखा यह भी देख।" (वही पृ० १२०)।

बस, अब और देखने की इच्छा नहीं होती। पाठक स्वयं देखें और कहें कि माजरा क्या है। किस तरह मीर अमन की 'उर्दू की हिंदुस्तानी' हिंदियत के साथ रहती है और उर्दू-ए-मुअल्ला के ठेठ तथा संस्कृत शब्दों को समेटे चलती है, भूलकर भी उन्हें 'मतरुक' या हराम नहीं समझती, शब्दों की तरह ही हिंदी भावों, विचारों तथा वस्तुओं को भी अपनाती और अपनी हिंदियत का परिचय देती है। मीर अमन ऐसा क्यों न करें ? आख़िर वह भी तो हिंद के सपूत हैं और उनका उर्दू-ए-मुअल्ला भी तो हिंद ही में बसा है। फिर वे अरबी-फ़ारसी का वृथा व्यवहार कर उसकी ज़बान को अजनबी क्यों बनाएँ

और प्रमादवश अपने अहंकार की तुष्टि के लिये इसे नबी या इसलाम की सेवा क्यों समझें ?

पाठक ! भूलें नहीं कि यह देश की वाणी अथवा समूचे राष्ट्र की हिंदुस्तानी नहीं बल्कि 'उर्दू' यानी देहली के शाही स्थान की हिंदुस्तानी है, उस शाही स्थान की जो सदा से मुसलिम शासन का केंद्र रहा है और आज भी उर्दू ज़बान का घर समझा जाता है। देश की हिंदुस्तानी का स्वरूप मीर अमन की दृष्टि में क्या होता, इसे आप स्वयं समझ सकते हैं और यदि चाहें तो सचमुच आज उसे अपना भी सकते हैं। बस, केवल समझ और साहस की ज़रूरत है। "साहसे श्रीः प्रतिवसति।"

(११) हिंदू-संस्कृति में ऋण की कल्पना

[लेखक—श्री फतहसिंह, एम० ए०]

ऋण की कल्पना हिंदू-संस्कृति का एक अनूठा एवं अमूल्य आविष्कार है। मनुष्य तो ऋणी उत्पन्न ही होता है,[१] और आजीवन उसके कर्त्तव्यों का ध्येय ऋण से मुक्ति होना चाहिए। प्रायः तीन ऋण ही प्रसिद्ध[२] हैं; परंतु खोज से पता चलता है कि ऋण की कल्पना अधिक व्यापक है और उसके अंतर्गत न केवल देवों, ऋषियों तथा पितरों के प्रति कर्तव्य आता है, अपितु व्यक्ति का समाज और विश्व (जीव-जंतु-सहित) के प्रति कर्तव्य भी आ जाता है।

यद्यपि 'ऋण' शब्द की उत्पत्ति ऋण् धातु[३] से है, जिसका अर्थ पाणिनि[४] ने 'गति' बताया है, जैसा कि ऋ० वे० में प्रयोग भी मिलता[५] है; परंतु इसका व्यापक अर्थ 'किसी प्रकार की कृतज्ञता (अहसान)' प्रतीत होता है, उदा० येन स्वामिप्रसादस्य अनृणतां गच्छाम:[६] तत्रानृणोऽस्मि;[७] एनामनृणां करोमि;[८] प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणम् (गृध्रम्);[९] पितॄणाम-

---

१—श० ब्रा० ३,५,१,६;१,७,२,१;३,६,२,१६; मै० सं० ६,१०६;६,६४।

२—देव, ऋषि, पितृ, दे० रघु० ८,३०;१२,५४; म० भा० ५,५८; मै० सं० ६,१०६;६,६४ इत्०।

३—आप्टे: इं० सं० डि०।

४—ऋणु गतौ, पा० धा० पा०।

५—ऋ० वे० ६,२,६ त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि; ५,४५,६ ऋणुत व्रजं गो: इत्० तु० क० नि० ६-१, साथ दुर्ग-भाष्य।

६—पं० तं० १।

७—उ० रा० ७।

८—शा० ७,१।

९—रघु० १२,५४।

नृणा:[1] । अहसान का बदला देना ही ऋण चुकाना है, कर्तव्य-पालन करना है, धर्म है। उसको न चुकाना है, अपकार[2] है, अधर्म है, पाप है, क्योंकि व्यापक अर्थ में कर्तव्य-भ्रष्टता ही तो पाप है। इसी लिये 'ऋण' शब्द, साधारण-अर्थ[3] के अतिरिक्त 'पाप' अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है[4] ।

वास्तव में ऋग्वेद में, ऋण शब्द में उन सभी कर्तव्यों का समावेश हो जाता है जो जान या अनजान में 'किए नहीं गए' और 'शेष' रह जाने से अपराध या पाप समझे जा सकते हैं। अत: ऋणों से छुटकारा देने के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती है[5] और उनको प्राय: ऋण-मोचक (ऋषया इत्य०) नाम से संबोधित किया जाता है[6] । बृहस्पति सभी के ऋणों को जाननेवाला है;[7] अग्नि सबके ऋणों को चुन लेता है और आदित्य सबके ऋणों को देखता रहता है, जिस प्रकार वरुण सत्यानृत की देख-रेख करता है[7] । अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह पापी (अनृजु) शत्रु के ऋण की परवाह न करे[8] । जो ऋणवान् है उसके पास मरुत नहीं आते[9] । सोम उन सभी ऋणों को जानता है जो हो चुके हैं (कृतानि) या होंगे (कर्त्वा)[10] ।

१—माल० ५,३८ ।

२—तु० व० अनृणताकृत्येनापकारं करिष्यामि—पं० तं० ५; तथा माल० ५,११ ।

३—ऋ० वे० १०,३४,१०;६,१२.५ ।

४—ऋ० वे० ६,१८,५;३,१३; तै० ब्रा० ३,७,१२; तै० आ० २,३-४ इत्० ।

५—ऋ० वे० २,२४,१३,२८, ६ ।

६—ऋ० वे० २,६१,१२;१,८७,४;४८,१५;१३८,—७,८,३;१०,११०,१; ८६,८ इत्० ।

७—ऋ० वे० ७,४६,३; मै० सं० १,२६ इत्य० ।

८—ऋ० वे० ४,३,१३ ।

९—ऋ० वे० १,१६६,७ ।

१०—६,४७,२ ।

ब्राह्मणों, आरण्यकों में भी प्राय: ऋण इसी व्यापक अर्थ में लिया जाता है। तै० ब्रा० ३,७,१२ में अनेक प्रकार के ऋण या पाप गिनाए गए हैं, जिनसे बचाने के लिये अग्नि से प्रार्थना की गई है, जो अपने हाथ से किए हों, द्यूत में या बचपन में, जीवित माता-पिता का स्तन पीने से जो व्यवहार में हुए हों या जनों [जनेभ्य:] को प्रदान न करने के कारण रह गया हो, नए हों या पुराने, निकट हों या दूर। इसी प्रकार की विनती तैत्तिरीय आरण्यक[1] में मिलती है। अग्नि से कहा जाता है कि 'हे अग्नि, मेरे ऋणों को देवताओं से कहकर छुटवा दो',[2] क्योंकि देवता ऋण न चुकानेवाले को दंड देते हैं।

परन्तु तै० आ० में इन सभी ऋणों का वर्गीकरण किया गया प्रतीत होता है और पाँच प्रकार के ऋणों को चुकाने के लिये पञ्च महायज्ञ बतलाए गए हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ[3]। ये यज्ञ प्राय: मनुस्मृति[4] में वर्णित यज्ञों के समान ही हैं। शतपथ ब्रा० के अनुसार जो हवि देवता को दी जाती है, वह उसका ऋण ही है जो चुकाया जाता है[5]। दूसरे स्थान[6] पर फिर कहा है कि जो जन्म लेता है, वह वास्तव में ऋण-रूप [ऋणं ह वै] ही है और उत्पन्न होकर वह जो जो देव, ऋषि, पितृ या मनुष्य के प्रति करता है उतने से वह उनको देय ऋण ही चुकाता है। यहाँ पर कहे हुए ऋण भूत-ऋण को छोड़कर अन्य सब वही हैं जो हम तै० आ० में ऊपर देख चुके हैं। अंतर इतना ही है कि यहाँ पर मनुष्य की अन्न-वस्त्र से सेवा करना ही मनुष्य के ऋण को चुकाना है और यह ऋण सबसे

१—तै० आ० २, ३-४।
२—तै० ब्रा० १,६,५,५।
३—तै० आ० २,१०।
४—मनु० ४,२१;३,७०;३,८१
५—श० ब्रा० १,१,२,१६।
६—श० ब्रा० १,७,२,१—५।

बड़ा है। इसको चुकाने से अन्य सभी ऋण (एतानि सर्वाणि) चुक जाते हैं तथा इसका करनेवाला सर्वसिद्ध (सर्वमाप्त) और सर्वजित् हो जाता है। यह बड़े महत्त्व का अंतर है, विशेषत: बीसवीं शताब्दी के लिये। वास्तव में हिंदू-संस्कृति में यह बात पहले ही मान ली गई थी कि धन बटोरने में, समृद्धिशाली होने में मनुष्य पाप करता[1] है, क्योंकि दूसरों को अवश्य कष्ट देता है। धनी ने यदि धन इकट्ठा किया है तो वह समाज का ऋणी है, क्योंकि उसने दूसरे मनुष्यों का भाग लेकर ही जमा किया है। क्योंकि यह काम उतना ही निर्दोष तथा अनभिप्रेत है जितना कि माँ के स्तन से दूध चूसना जो कि ऊपर ऋणों में सम्मिलित किया गया है।

महाकाव्य-काल में भी ऋणों की संख्या चार तो रही[2] परंतु स्वार्थ के कारण मनुष्य-ऋण के स्थान में विप्र-ऋण हो गया और आगे चलकर यह ऋण भी कोई प्रधान-ऋण न रह गया; केवल मै० सं०[3] में एक जगह वर्णित तीन ऋण ही प्रसिद्ध हो गए। यों तो मै० सं० तथा अन्य क ग्रंथों में चार ऋणों का ही उल्लेख है[4]।

१—ऐ० ब्रा० १७।१३-यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते सः किल्बिषं भवति। तु० क० ऋ० वे० १०, ११७;६ केवलाघो भवति केवलादी, तथा तै० ब्रा० २,८,८,३।

२—रा० २,४,१३–१४; म० भा० १, ४६५६–५८।

३—६. ६,१०६।

४—मै० सं० ६,३५—३७; ४,२५–७; तै० सं० ६,३; ११,१३; श० ब्रा० १,५,५।

चयन

'तथागत'

लंडन विश्वविद्यालय की 'बुलेटिन आव दी स्कूल आव ओरिएंटल स्टडीज' खंड ६, भाग २ में श्री आनंद के० कुमारस्वामी ने 'तथागत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया है। यहाँ उसका अनुवाद प्रस्तुत है:—

बुलेटिन आव दी स्कूल आव ओरिएंटल स्टडीज, खंड ८, पृ० ७८१ में श्री ई० जे० टामस ने तर्क किया है कि बौद्धों ने 'तथागत' शब्द संभवत: जैन 'तथागय' से लिया है और यह किसी अज्ञात अनार्य तथा अद्राविड़ शब्द का अशुद्ध संस्कृत रूप है। यह तो बड़ी खींचतान सी है। श्री टामस इस बात का कुछ ध्यान नहीं रखते कि बौद्ध तथा जैनधर्म के लिये समान वैदिक मूलशब्द हो सकते हैं। अन्यत्र हमने प्रसंग-वश यह दिखा दिया है कि अर्हत् और अत्ता जैसे असंख्य बौद्ध शब्द शुद्ध वैदिक हैं। वहाँ यह भी तर्क किया है कि बुद्ध-गाथा लगभग पूर्णतया वैदिक सामग्री से बनी हुई है। उसमें केवल ऐसे ही परिवर्तन किए गए हैं जो शाश्वत जन्म-कथा को (ठीक) कथा का रूप देने में अनिवार्य्य हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हमें विश्वास है कि जिन बुद्ध को पाली-ग्रंथों में 'सूर्य-सूनु', 'विश्व-चक्षु' और 'महापुरुष' कहा गया है और जिनको कला में अग्नि-स्तंभ के रूप में प्रकट किया जाता है, वे वैदिक अग्नि के अवतार हैं।

ऋग्वेद में केवल अग्नि के संबंध में ही 'आ-गम्' क्रिया का प्रयोग विशेषत: हुआ है। उदाहरणार्थ ऋ० वे० १०-५१-१ में "हमने जिसका आवाहन मनसा किया था वह आ गया है! (आ अगात्) यह ज्ञेय पुरुष।" ऋ० वे० ६-५२ अ० में 'तथा' और 'आगम' एक ही वाक्य में आते हैं, यद्यपि उनका कोई सीधा संबंध नहीं है। अग्नि से "जो कि प्रकृष्ट-रूप से यहाँ आया हुआ (आगमिष्ठ:) है, यह प्रार्थना की जाती है कि वह 'ऐसा करे' (तथा करत्)" कि हम लोग उदयोन्मुख सूर्य को

देखें, इत्यादि। इसी प्रकार विशेषण 'बुद्ध' (जाग्रत्) वैदिक उषबुर्ध (उषाकाल में जाग्रत) की याद दिलाता है जो कि ऋ० वे० में नियमतः अग्नि के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अट्ठ-सालिनी पृ० २१७ पर दिए हुए 'बुध' की व्याख्याओं में से एक ठीक 'अवगमने' (नीचे आना) ही है, देखिए ऋ० वे० ६-९-३ में अग्नि के संबंध में आया हुआ 'अवश्चरन्', और उसके पश्चात् दूसरे पद में आनेवाला 'अयं स जज्ञे......तन्वा वर्धमानः' —उतरते हुए वह उत्पन्न हुआ, शरीर से बढ़ता हुआ।

अतः उपर्युक्त अर्थ में, विशेषतः आगत बुद्ध के संबंध में 'तथागत' को एक अच्छा संस्कृत शब्द समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती।

१९३५-३६ में भारतीय पुरातत्त्व-शोध का कार्य

लीडेन की कर्न इंस्टिट्यूट से प्रकाशित 'एनुअल बिब्लिआग्राफी आव इंडियन आर्क्यालाजी' खंड ११ की भूमिका में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष राव बहादुर श्री काशीनाथ दीक्षित ने उपर्युक्त विषय का विवरण दिया है। कुछ संक्षेप के साथ वह नीचे प्रस्तुत है:—

सन् १९३५-३६ में भारतीय-पुरातत्त्व का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'अमेरिकन स्कूल आव ईरानियन एंड इंडिक स्टडीज' द्वारा किया गया। इस स्कूल द्वारा भेजे हुए अन्वेषक-दल ने डा० ई० जे० एच० मैके की अध्यक्षता में, सिंध के नवाब-शाह जिले में चन्हू-दड़ो स्थान पर काम किया। उस स्थान की खुदाई करने से बहुत सी ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जिनसे ३००० ई० पू० की सिंध-घाटी में क्रमशः होनेवाली कई संस्कृतियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सबसे ऊपरी स्तर में पाए हुए नक्काशीदार और चिकने, चमकीले मिट्टी के बर्तन श्री एन० जी० मजूमदार द्वारा झाँगर से प्राप्त खपरों से मिलते जुलते हैं। दूसरे स्तर के बर्तन झूकर (लरकाना जि०) से मिले हुए बर्तनों के समान हैं। तीसरे स्तर की सभ्यता मोहेंजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता से मिलती है। डा० मैके का कथन है कि प्रथम दो स्तरों के लोग इस

संस्कृति से अपरिचित प्रतीत होते हैं। बहुत से बने हुए तथा अध-बने गुरिआ, छेद करने के बरमे और कितने ही खिलौने पाए गए हैं, जिससे पता लगता है कि चन्हू-दड़ो में उस समय ये वस्तुएँ बनाई जाती थीं। सबसे अच्छा खिलौना एक ताँबे की पहिएदार गाड़ी है, जिसपर एक हाँकनेवाला छड़ी लिए हुए बैठा है। चन्हू-दड़ो से प्राप्त वस्तुएँ भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा बोस्टन म्यूज़ियम ने आपस में बाँट लीं।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से उत्तरी भारत के विभिन्न प्रांतों में खुदाई हुई। श्री माधवस्वरूप वत्स ने सिंध के खैरपुर राज्य में दिजी-जी-तक्री और कोटसुर नामक स्थानों में खोज की। इनमें से पहले स्थान पर एक ४० फुट ऊँचा टीला था जिसमें चट्टानी नींव के ऊपर कम से कम पाँच स्तर थे। यहाँ अनेक प्रकार के रंगीन तथा साधारण बर्तन, खपरे, पत्थर के गोले और शंख के कड़े आदि सिंध-घाटी-संस्कृति के प्रमुख चिह्न पाए गए। रंगीन बर्तनों पर मछलियाँ, लहरदार लकीरें और महराबें लाल-काले रंगों में बनी हुई हैं। कोटसुर में, श्री वत्स के मतानुसार, ऐतिहासिक-काल से पूर्व कुछ लोग रहते होंगे। यहाँ के बर्तन अधिक अच्छे तथा कला-पूर्ण हैं और हरप्पा से प्राप्त वस्तुओं के अतिरिक्त, झूकर तथा लोहुमजो-दड़ो में मिले हुए पीछे के बर्तनों से भी मिलते-जुलते हैं। इन दोनों स्थानों से प्राप्त वस्तुओं में विभिन्न प्रकार की तश्तरियाँ, प्याले, घड़े और ढकने भी हैं। नक्काशीदार तथा छेददार बर्तनों, शंकु के आकार के खपरों तथा खिलौना-गाड़ियों के ढाँचों से पता चलता है कि यहाँ पर सिंध-घाटी-संस्कृति के ऐतिहासिक-काल से पहले के रूप का अध्ययन करने के लिये पर्याप्त सामग्री खोद निकाली जा सकती है।

भारतीय पुरातत्त्व में इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता अनुभव की गई है कि इस बात का पता लगाया जाय कि सिंध-घाटी की संस्कृति का तारतम्य गंगा की तराई में तो नहीं चला गया। इसी उद्देश्य से डा० के० ए० एं० अंसारी ने देहरादून, बिजनौर तथा सहारनपुर के जिलों में कई जगहों को देखा, जिनमें से कई तो ऐतिहासिक-युग से

ही संबंध रखती हैं, परंतु कुछ में इससे पहले का भी हाल मिलने की आशा है। पं० रामेश्वरदयाल डिप्टी मैजिस्ट्रेट ने आजमगढ़ जिले के घोसी स्थान से प्राप्त बहुत से खपरे कलकत्ता तथा लखनऊ अजायबघरों को भेंट किए हैं।

तक्षशिला में धर्मराजिका स्तूप से संबद्ध विहार का उत्तरी-पश्चिमी भाग खोला गया। विहार के एक कोष्ठक से ५०० सिक्के मिले, जिनमें प्रायः सभी वासुदेव के हैं। अतः यह विहार तृतीय ईसवी शताब्दी का होना निश्चित है। विष्णु तथा कार्त्तिकेय जैसे ब्राह्मण-देवताओं की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं जिनको बौद्ध लोग गुप्तकाल में पूजते थे।

बेल्जियम की एक महिला डा० सिमोन कोर्बीआ ने सरी-धेरी (जि० पेशावर) के एक टीले के निचले स्तर से कुछ खपरे पाए हैं, जिससे यह आशा होती है कि यूनानी-काल से पूर्व की सभ्यता के विषय में पेशावर जिले में बहुत कुछ मिल सकता है।

बिहार-प्रांत में नालंद तथा राजगिरि में काम जारी रखा गया और मणियार मठ में श्री जी० सी० चंद्र की अध्यक्षता में नई खुदाई हुई। नालंद में नं० १२ और १३ के स्थानों में कई चैत्य मिले। नं० १३ में बुद्ध की एक भीम-काय बैठी हुई मूर्त्ति का नीचे का भाग प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, एक भूमि-स्पर्श-मुद्रा में बैठी हुई काँसे की बुद्ध-मूर्त्ति तथा ११ पाषाण-मूर्त्तियाँ (जिनमें लिंग को प्रणाम करते हुए नागों की भी एक मूर्त्ति है) पाई गईं। वहाँ स्तंभ के प्यालों को देखने से प्रतीत होता है कि २४ आकृतियाँ २ वृत्तों में खड़ी की गई थीं, परंतु उनमें से केवल भीतरी वृत्त की सात ही सुरक्षित रही हैं। बालादित्य नरसिंह गुप्त के सिक्के तथा कुछ वैयक्तिक मुहरें भी मिली हैं।

मणियार मठ में, सर जॉन मार्शल तथा डा० ब्लौख ने १९०५-६ में जो गुप्तकालीन चंद्राकार ढाँचा पाया था, उसके नीचे दो स्तर और नए मिले। यहाँ पर बने हुए दो घेरों की ईंटें ईसा से पूर्वकाल की ओर संकेत करती हैं। बहुत से किसी कर्मकांड-संबंधी बर्तन मिले हैं जिनकी टोंटियों पर सर्पों तथा पशुओं आदि के, विभिन्न प्रकार के, चित्र बने हुए हैं।

हैं। पत्थर के एक बड़े टुकड़े पर बहुत से सर्प बने हुए हैं और उसपर कुशान-लिपि में एक अभिलेख भी है जिसमें 'मणिनाग के प्रसाद' का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि मणियार मठ के स्थान पर मणिनाग का मंदिर था। महाभारत में मणि-नाग को राजगृह का रक्षक तथा वृष्टि-दाता कहा गया है। अनेक टोंटियोंवाले बर्तन कदाचित् जल-वृष्टि के हेतु की गई पूजा में काम आते थे। नाग-पूजा भारतवर्ष में बहुत व्यापक रही है, परंतु राजगिरि में तीसरी शताब्दी ई० पू० से पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक यह लगातार रही है; जैसा कि मणियार मठ से स्पष्ट है।

श्री एन० जी० मजूमदार ने चंपारन जिले के लौरिया नंदन-गढ़ में कई टीलों की खुदाई कराई जिनमें से सभी बौद्ध-कालीन हैं और जिनमें से एक भी मौर्य-काल से पहले का नहीं। अत: स्व० डा० ब्लौख की यह धारणा, कि वे टीले वैदिक-कालीन कब्रें होंगी, झूठी हो गई। टीला ए में एक बौद्ध-स्तूप था, जिसकी तली में दो घेरों के बीच मनुष्य की जली हुई हड्डियों के साथ राख और कोयले मिले। बी टीला में १७० फुट के व्यास का एक वृत्त मिला, जो कदाचित् किसी स्तूप का आधार रहा होगा। परंतु, इसमें केवल पशुओं की ही हड्डियाँ मिलीं। जिस टीला एन को डा० ब्लौख ने खुदवाया था, उसको भी खोदा गया। वह भी तीसरी या चौथी शताब्दी ई० पू० का कोई बौद्ध स्तूप ही मालूम पड़ता है। इसमें खड़ी ईंटों की बनी हुई एक वृत्ताकार दीवार पाई गई, जिसके चारों ओर दुहरी ईंट का एक चबूतरा है और जिसके भीतर का भू-भाग कड़ी मिट्टी से भरा हुआ है। लौरिया के ओ टीले में एक ईंटों का स्तूप पाया गया। निकटवर्ती नंदनगढ़ के टीले में, जो कि ८२ फुट ऊँचा है, खुदाई की गई और उसकी तली में बहुत से इस प्रकार के कोण पाए गए जैसे कि पहाड़पुर के मंदिर में मिले थे। यहाँ की प्राप्त हुई वस्तुओं में शुंगकाल के खपरे, कुछ मुहरें और कुछ ढले हुए सिक्के, जिनके सीधी ओर एक वृक्ष और उलटी ओर एक हाथी और घुड़सवार हैं, उल्लेखनीय

हैं। दूसरी शताब्दी ई० पू० के कुछ बर्तन और गुरिए भी यहाँ से मिले हैं।

बंगाल में महास्थान नगर के निकट मेंध नामक टीले की खुदाई हुई जिसमें विभिन्न स्तरों पर १७० कोठरियाँ पाई गईं। इस स्मारक में जाने के लिये उत्तर-पूरब में एक सीढ़ी है। प्रधान स्थान बीचो-बीच में है। उसके फर्श में एक पत्थर का टुकड़ा है जिसमें बहुत से उथले छेदों में से एक में एक स्वर्णपत्र था जिसमें झुके हुए साँड़ की आकृति बनी हुई है। इसके ऊपर एक और वर्गाकार कोष्ठ बाद में बनाया गया प्रतीत होता है। मुख्य इमारत को सुदृढ़ रखने के लिये, उसके चारों ओर, एक के बाद एक, कई दीवारें बनी हुई हैं। यहाँ पर बहुत से खपरे मिले हैं, जिन पर कमल आदि फूलों, पशुओं और मनुष्यों की कई आकृतियाँ बनी हुई हैं, जिनको देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यह स्मारक छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी का होगा।

मलाबार में मक्कद-देसं ग्राम में दो छोटी छोटी गुफाएँ खोज निकाली गईं जिनमें अंत्येष्टि-क्रिया-संबंधी धरोहर मिली। तिनेवली जिले के कडयनुलुर नामक स्थान के निकट कई स्थानों को देखा गया, जिनमें से कुछ में अनेकों पात्र मिले जो उसी जिले के अदिचनलुर नामक स्थान से प्राप्त ऐतिहासिक-काल से पूर्व की वस्तुओं से मिलते हैं। कोयंबटोर, उत्तरी अर्काट, नीलगिरि तथा चुडप्पह जिलों से भी कुछ कब्रें तथा बर्तन पाए गए हैं। बढ़ते हुए कृषि-कार्य से इन स्मारकों के नष्ट हो जाने का भय है। मद्रास प्रांत में बहुत सी सामग्री विद्यमान है जिससे पाषाण-काल, ताम्र-काल तथा लौह-काल की संस्कृतियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ब्रह्मा में एम० दुरोसे ने सोमिन्ग्यी पैगोडा के निकट म्योंपगन में एक अद्वितीय स्मारक को निकाला है। इस विहार में ईंटों का मंच है जिसके पूर्व में एक दालान, पश्चिम में एक मंदिर और उत्तर तथा दक्षिण में कुछ छोटी छोटी कोठरियाँ हैं जिनमें प्रत्येक में एक संकीर्ण द्वार मंच की ओर है।

जयपुर राज्य में बैरात में, जहाँ कि अशोक के दो लेख उपलब्ध हो चुके हैं, रायबहादुर दयाराम साहनी को एक अद्भुत वृत्ताकार बौद्ध-मंदिर मिला, जिसका व्यास २७ फुट का है और जिसके चारों ओर एक गोल प्रदक्षिणा-पथ है। मंदिर की भीतरी दीवार ईंटों की बनी हुई है, जिसमें बीच बीच में, कहीं कहीं पर केवल लकड़ी के खंभे ही थे, जिनके टूटे फूटे टुकड़े ही शेष रह गए हैं। ब्राह्मी-लिपि-युक्त बहुत सी ईंटें, उत्तर-काल में, दूसरी दीवार में लगाई गईं। श्री साहनी के मतानुसार यह ३०० ई० पू० की एक चैत्य-गुफा है जैसी कि एक जुनार में पाई गई थी। इसी स्थान पर निचले चबूतरे में एक ईंटों का बना मंच पाया गया और बहुत से चुनार-पत्थर के टुकड़े मिले जो संभवतः दो अशोक-स्तंभों के होंगे। ऊपरी चबूतरे पर श्री साहनी ने एक बड़ा विहार खोद निकाला, जिसमें एक केंद्रीय चतुर्भुज आँगन की हर ओर कोठरियों की दो-तीन कतारें हैं। ठप्पेदार तथा इंडोग्रीक सिक्कों के पाए जाने से यह सिद्ध होता है कि यह विहार ईसा की प्रथम शताब्दी तक निवास-स्थान रहा।

अभिलेखों में सबसे बड़ी खोज चार पाषाण-स्तंभों की है जिनको डा० ए० एस० अल्टेकर ने कोटा-राज्य के बड़वा नामक ग्राम में देखा था। ये स्तंभ स्मारक यूप हैं और इन पर खुदे हुए अभिलेखों (जिनका समय २९५ कृत संवत् दिया है) से ज्ञात होता है कि बल नामक महासेनापति के तीन पुत्रों ने एक त्रिरात्र यज्ञ किया था। रीवाँ तथा अजयगढ़ राज्यों में डा० एन० पी० चक्रवर्ती ने कई नए अभिलेख प्राप्त किए जिनसे उत्तर-कालीन कलचूरियों के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

*

१९३६ में भारतीय मुद्राशास्त्र

पूर्वोक्त बिब्लिओग्राफी की भूमिका में ही श्री रिचर्ड बर्न महोदय ने उपर्युक्त विषय का एक विवरण दिया है। कुछ संक्षेप के साथ वह यहाँ प्रस्तुत है:—

क—प्राचीन-भारत

ब्रिटिश म्यूजियम के श्री जान एलन ने प्राचीन सिक्कों की एक सूची निकाली है, जो कि १८६१ में प्रकाशित होनेवाली कनिंघम की सूची के पश्चात् अपने ढंग की निराली है। १६३ पृष्ठों की भूमिका में लेखक ने कई महत्त्व-पूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं, जिनको कनिंघम नहीं निकाल सके।

श्री एलन ने स्पूनर, वालश और कैंपबेल के इस मत को पुष्ट किया है कि चाँदी के आहत कार्षापण[1] सिक्के, कुछ व्यापारियों द्वारा जारी नहीं किए गए थे। जैसा कि पहले समझा जाता था, सिक्कों के सीधी ओर तो पाँच ठप्पों के चिह्न मालूम पड़ते हैं, परंतु उलटी ओर केवल एक होता है। श्री एलन ने इन्हीं चिह्नों के अनुसार सिक्कों का वर्गीकरण किया है और उनका विचार है कि उनमें से अधिकांश मौर्य्यकाल के हैं, परंतु कुछ उससे पहले के भी हो सकते हैं। भारत में अकेमेनिअन सिगलोई पाए जाने के आधार पर श्री एलन का कहना है कि संभवतः मुद्रण का विचार भारतवर्ष में पाँचवीं या चौथी शताब्दी ई० पू० में अकेमेनिअन राज्य से आया होगा, यद्यपि मुद्रण-प्रणाली पूर्णतया भारतीय थी। मौर्य-कालीन ठप्पेदार सिक्कों से पूर्व भी शलाकाएँ मिलती हैं जो या तो ईरानी ढंग की मोटी शलाकाएँ हैं, या भारतीय ढंग की। इन पर प्रायः एक से अधिक मुहर लगाई जाती थी और वह एक ओर बिल्कुल सादा होती थी।

कुछ पुराने ढले हुए, अनभिलिखित सिक्कों का समय तृतीय या द्वितीय शताब्दी ई० पू० बतलाया गया है। इस मत से स्वर्गीय जायसवाल के इस मत की पुष्टि होती है कि वे सिक्के मौर्यों के हैं।

विभिन्न वंशों के सिक्के बनावट, आकार और अभिलेखों के आधार पर कई वर्गों में विभाजित किए गए हैं। इन सिक्कों में लिखित एक दो नामों को जहाँ-तहाँ से लेकर शुंगों और काण्वों के पौराणिक वंश-वृत्तों में ढूँढ़ना श्री एलन के मत में ठीक नहीं है। मथुरा के सिक्कों

१–'Punch marked.'

का लगभग काल निर्धारित किया गया है। पांचाल सिक्कों की आकृतियाँ, श्री एलन के अनुसार, उन देवताओं की आकृतियाँ हैं जो शासकों में विद्यमान समझे जाते थे। श्री एलन मालव-मुद्राओं पर अभिलिखित अक्षरों को बनानेवालों का नाम नहीं मानते।

प्रो० साहनी ने सिक्का ढालने के साँचों के कई टुकड़े प्राप्त किए हैं। उनमें से कुछ में यौधेयों की मुद्राएँ हैं। ये ब्रिटिश-म्यूजियम की वर्ग २, श्रेणी अ से मिलती हैं। रैप्सन ने इन सिक्कों पर 'बहुधा ङ के' पढ़ा था जिसको एलन ने स्वीकार कर लिया है और जिस मत पर स्व० जायसवाल भी स्वतंत्र रूप से पहुँचे थे। प्रो० साहनी के सिक्कों से इस मत की पुष्टि और भी हो जाती है। श्री पन्नालाल ने मथुरा से प्राप्त ठप्पेदार सिक्कों के साँचों का वर्णन प्रकाशित किया है। यह निश्चित है कि ये साँचे, एरन में कनिंघम द्वारा पाए हुए टूटे साँचों की भाँति ही, जाली सिक्के बनाने के लिये ही थे। ब्रिटिश-म्यूजियम के यौधेय सिक्कों में से आधे ठप्पेदार और आधे ढले हुए हैं। इसलिये यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये साँचे सरकारी थे या जालियों के।

स्व० जायसवाल ने, भारतीय मुद्रा-शास्त्रीय सभा के सभापति के पद से दिए हुए अपने भाषण में, बहुत से सिक्कों को मौर्यों, शुंगों तथा काण्वों एवं उनके पूर्वजों की मुद्राएँ बतलाया और प्राचीन अहिच्छत्र, सहेट महेट, कोसम और राजगिर की नई प्राप्त मुद्राओं का भी वर्णन किया था।

ख—कुशान और छोटे कुशान

श्री यच० कं० देव ने 'मअचेनो' (कार्त्तिकेय का नाम) वाली हुविष्क की मुद्राओं का विवेचन किया है। खरोष्ठी-लिपि के एक अभिलेख में, कनिष्क के विहार में महासेन के संघाराम का उल्लेख है। श्री देव का मत है कि कदाचित् यहाँ संघाराम हुविष्क ने बनवाया था। विम और हुविष्क के सिक्कों का साम्य देखकर श्रीदेव विम को हुविष्क का पिता बतलाते हैं।

पंजाब के शेखूपुरा जिले में, चंद्रगुप्त द्वितीय तथा स्कंदगुप्त के सिक्कों के साथ किदार-मुद्राएँ पाई गई हैं। गंगा के बाएँ किनारे पर इन मुद्राओं के अधिक मिलने से यह कहा जा सकता है कि गुप्त-काल से पूर्व इन लोगों का यहाँ और पंजाब में राज्य था।

ग—ससानी

हुरमज्द प्रथम की एक मुद्रा के आधार पर, श्री एफ० डी० परुक आर्तजरेक्सस के पुत्र पीरूज के दो सिक्कों (जो कि ब्रिटिश म्यूजियम में हैं) की उलटी ओर को एक ढंग से पढ़ते हैं। प्रो० हर्जफील्ड के पढ़ने के अनुसार उनमें 'बुद्द यज्दे' (जो ठीक करने पर बाद में 'बुल्द यज्दे' हो गया) लिखा था परंतु मि० परुक उसे 'मिल्क इंदी' अर्थात् 'सिंध का राजा' पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त, पिरुज के सिक्कों पर जिसको स्मल (समरकंद) पढ़ा गया था उसको परुक महाशय 'इर्द' पढ़ते हैं, जिसका पूरा रूप हुरमज्द के सिक्कों में 'इरादती' है जो संस्कृत इरावती (रावी) से बना है। सिक्के के ऊपरी भाग पर उन्होंने 'ह्रजो' पढ़ा है, जिसको वे 'हराज' या राजपूताना कहते हैं। अतः उनके विचार में लगभग २७० ई० में सिंध, मुलतान और राजपूताना तक ससानी राज्य था, जो निश्चय-पूर्वक मान्य नहीं हो सकता था।

घ—दक्षिण-भारत

मैसूर से पुरातत्त्व-विभाग के तीन वार्षिक विवरण प्रकाशित हैं। १९३३ के विवरण में अनभिलिखित बदामी के सिक्कों से लेकर तैल तृतीय (११५०) तक के २१ सिक्के चालुक्यों तथा उनके शासकों के हैं। १९३४ वाले में उत्तम चोल परकेसरी कुलोत्तुंग तृतीय तथा उसके सहायक केरल के राजाओं के सिक्कों का वर्णन है। १९३५ की रिपोर्ट में २३ आयताकार ताम्र-मुद्राओं का विवेचन है। इन मुद्राओं के एक ओर तो अंकुश के सामने हाथी है; जिसके ऊपर कुछ चिह्न बने हैं, और दूसरी ओर, जहाँ जहाँ दिखाई पड़ता है, वहाँ वक्र रेखा के साथ त्रिकोण तथा अन्य चिह्न बने हुए हैं। चिह्नों को देखने से, वे सिंध-घाटी के चिह्नों से मिलते हुए अधिक मालूम होते हैं। कभी वे एक पंक्ति में, कभी दो में

और कभी छः पंक्तियों तक में पाए जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि उनमें कोर्केइ पाण्य राजों के नाम लिखे हुए हैं।

श्री आर० एस० पंचमुखी ने विजयनगर-वंशों के सिक्कों का वर्णन प्रकाशित किया है। ठप्पेदार सिक्कों तथा आंध्र, कदंबों, चालुक्यों और काकतीयों की मुद्राओं के संक्षिप्त वर्णन के बाद विजयनगर वंश की मुद्राओं का बृहद् विवेचन है। हरिहर द्वितीय के प्रधान-मंत्री माधव ने टकसाल को सुधारा और कन्नड के स्थान पर नागरी लेख प्रचलित किया।

ङ—दिल्ली के सुलतान

श्री यच० नेलसन राइट ने क्वाइनेज ऐंड मेट्रॉलॉजी आव द सुल्तान्स आव दिल्ली नामक पुस्तक में दिल्ली के सुलतानों के सिक्कों के विषय में प्रकाशित पुरानी सभी पुस्तकों का उपयोग किया है। लेखक ने १४८३ अपने सिक्के और ५०० अन्य सिक्कों का वर्णन भी किया है। टामस के मतानुसार एक टंक १०० रत्ती के बराबर होता था, परंतु मि० नेलसन ने १ टंक ९६ रत्ती के बराबर सिद्ध किया है।

च—मुगल

एशियाटिक रायल आर्क्यौलौजिकल सर्वे के दूसरे भाग (१९३०-४ ई०) में कई प्रांतों के कोष की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है, जिसमें जुनार टकसाल का शाहजहाँ का एक नया रुपया है।

छ—ब्रह्मा

इसी रिपोर्ट में श्री यू० म्या का एक लेख कतिपय उन ब्रह्मदेशीय मुद्राओं पर प्रकाश डालता है जो अभी तक अज्ञात थीं।

—फतहसिंह

महाकोशल की राजधानी

एपिग्रेफिया इंडिका के अक्टूबर १९३५ के (१९३७ में छपे) अंक में प्रोफेसर वी० बी० मीराशी और पंडित लो० प्र० पांडेय निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं कि दक्षिण महाकोशल की राजधानी युवन-

च्वांग (ह्वांत्सांग) के समय में अर्थात् सातवीं शताब्दी में रायपुर जिले के सिरपुर (श्रीपुर) में थी।

*　　*　　*　　*

जगन्नाथ-मन्दिर की उत्पत्ति

इस मंदिर के विषय में लोकोक्ति है कि श्रीकृष्ण की मृत देह का नाभि के पास का भाग जलने से रह गया और द्वारका से बहता-बहता पुरी को आया जहाँ उसे एक अनार्य शबर ने समुद्र से निकालकर नील-गिरि पर स्थापित करके पूजा करना आरंभ किया। इंद्रद्युम्न राजा का भेजा हुआ ब्राह्मण विद्यापति उसके यहाँ ठहरा था। उसे बड़ी कठिनाई से आँखों में पट्टी बाँधकर जाने पर दर्शन हुए। उसने अपने राजा से कहा, पर राजा के आने पर उसे दर्शन न मिले। हाँ, आज्ञा हुई कि समुद्र से बहकर आई हुई नीम की लकड़ी की मूर्त्ति बनाओ। मूर्त्ति २१ दिन में पूरी होने को थी और वे देव बढ़ई का रूप धरकर उसे बनाते थे, पर राजा ने कुतूहल से १५ दिन में ही द्वार खोल दिया। बढ़ई तो अदृश्य हो गया पर चार आधी बनी मूर्त्तियाँ मिलीं जिनके पूजने का आदेश उस राजा को मिला। कूर्मपुराण में पुरुषोत्तम क्षेत्र तीर्थ का वर्णन है। नारदपुराण (अ० ५४) में लिखा है कि पुरी में नीलम के बने विष्णु रेत के नीचे दबे हैं।

पद्मपुराण में लिखा है कि कांची का राजा रत्नग्रीव पुरुषोत्तम का माहात्म्य सुनकर पुरी आया और उसने देखा कि मंदिर जीर्ण हो गया था और जंगल में ढँक गया था। किसी किरात-लड़के ने उसे देखा और तब से भील लोग उसे पूजने लगे। मंदिर शुरू में कैसे बना, इसका कुछ भी कथन नहीं है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि अवंति के राजा इंद्रद्युम्न ने पुरुषोत्तम-मूर्त्ति स्थापित की। स्कंदपुराण (विष्णुखंड-पुरुषोत्तम-माहात्म्य) में स्थानीय लोकोक्ति के अनुसार ही कथा है।

दिसंबर १९३७ के इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली में श्री विनायक मिश्र इन बातों को लिखकर कल्पना करते हैं कि पुरी सातवीं शताब्दी में

तीर्थस्थान बनने लगा था और ह्वानसांग उसका वर्णन करता है। आधुनिक मंदिर का समय बारहवीं शताब्दी का है। गंगेश्वर ने उसकी मरम्मत कराई थी और उसके बहुत पूर्व से यह मंदिर वहाँ गिरी हुई स्थिति में था।

* * * *

गरुड़ और अग्निपुराण

'भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट' के १९३८ के एनल्स प्रथम भाग में एक लेख गरुड़ और अग्निपुराण पर है। इन पुराणों में उस समय का प्राय: सब ज्ञान संक्षिप्त रूप से लिखा है। गरुड़पुराण में पुराण के पंच लक्षणों के सिवाय गणित और फलित ज्योतिष, रत्न-परीक्षा, सगुन और असगुन, सामुद्रिक, आयुर्वेद, छंद, व्याकरण, नीति, स्मृति, पूजा, व्रत, दीक्षा, तीर्थ, योग, ब्रह्मज्ञान, रामायण, महाभारत, हरिवंश कथा-वर्णन इत्यादि सब विषय हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पराशरस्मृति, बृहत्संहिता, कलाप-व्याकरण, वाग्भट्ट, नकुल की अश्वचिकित्सा, और भोज के चाणक्य राजनीतिशास्त्र से कुछ अंश उद्धृत कर लिए गए हैं। कुछ भाग दूसरे पुराणों से उतार लिए गए हैं। मत्स्य और स्कंद में जो वर्णन इस पुराण का है उससे आधुनिक पुराण नहीं मिलता। पुराने लेखकों ने जो श्लोक इस पुराण से उद्धृत किए हैं वे भी आधुनिक पुराण में नहीं पाए जाते। बल्लालसेन अपने दानसागर में तारक्षस्य और आग्नेय पुराण को नकली बताता है; उसका समय ११०० स० ई० का है। याज्ञवल्क्यस्मृति के जो श्लोक इस पुराण में उद्धृत हैं उनका समय स० ई० ८०० और १००० ई० के बीच का है। इसलिये ढाका के डा० राजेंद्रचंद्र हाजरा के अनुसार आधुनिक गरुड़पुराण का समय सन् ई० ८५० और १००० के बीच का है। इसका उत्तर खंड इसमें पीछे से जोड़ा गया है। वह स्वतंत्र ग्रंथ जान पड़ता है। गरुड़ पुराण के १—३ में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तर खंड के विषयों का कोई वर्णन नहीं है। किसी निबंध-लेखक ने इस खंड से उद्धरण नहीं किया है। इस कारण यह उत्तर खंड अवश्य पीछे से जोड़ा गया है। पूर्व खंड में भी कुछ अंश क्षेपक जान पड़ता है, विशेष कर अध्याय १४६-

१४९ और २०२। इस पुराण में प्रथम अध्याय में विष्णु के २१ अवतार कहे हैं, अध्याय १४६—१४९ में १० और अ० २०२ में विष्णु के १७ अवतार कहे हैं जिनमें राम, हयग्रीव, मकरध्वज और नाग ये चार शामिल हैं। यह दसवीं शताब्दी का गरुड़पुराण भी अपने निज रूप में नहीं रहने पाया। उसके कुछ अंश खो गए हैं। गरुड़पुराण अग्निपुराण के आधार पर है इसलिये अग्नि उससे पूर्व का है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण आठवीं शताब्दो में बना है, ऐसा मत जोगेशचंद्र राय का है। उसके पूर्व में पुराना ब्रह्मवैवर्त रहा होगा जो अब खो गया है। इस ब्रह्मवैवर्त पुराण में से हेमाद्रि का स्मृतिचंद्रिका प्रायश्चित्त खंड में और दूसरे ग्रंथों में ५५० श्लोक उद्धृत हैं जिनमें से केवल ३० + २६ = ५६ आधुनिक पुराण में पाए जाते हैं।

*   *   *   *

कुछ तंत्र ग्रंथ

उपर्युक्त ग्रंथ के द्वितीय भाग में कुछ तंत्रग्रंथों के निर्माणकाल का निर्णय इस प्रकार किया गया है,—

महासंमोहन तंत्र—ग्यारहवीं शताब्दी के शारदातिलक की पदार्थादर्श टीका के टीकाकार राघवभट्ट स० ई० १४९३ में महासंमोहन तंत्र से उद्धृत करते हैं इसलिये यह तंत्र १४५० ई० में था। यह तंत्र आजकल अप्राप्य है।

षडन्वय महारत्न—इसका वर्णन प्राणतोषिनो में है जिसे रामतोषण शर्मा ने १८२१ में लिखा था। उक्त शारदातिलक के टीकाकार ने स० ई० १४९३ में इस तंत्र से दशविध आणवी दीक्षा के विषय में आठ नव श्लोक उद्धृत किए हैं। इसलिये यह ग्रंथ ई० १४०० से पूर्व का है। यह भी अप्राप्य है।

—पंड्या बैजनाथ

समीक्षा

परमप्प-पयासु (परमात्मप्रकाश) और जोगसारु (योगसार)—श्री जोइन्दुदेव-रचित दो अपभ्रंश रचनाएँ। संस्कृत छाया, पाठांतर, टीका, अनुक्रमणिका तथा विस्तृत प्रस्तावना के साथ संपादित। संपादक—प्रोफेसर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एम० ए०। प्रकाशक—व्यवस्थापक, रायचंद्र-जैन-शास्त्रमाला, परमश्रुत-प्रभावक-मंडल, खारा कुँवा, जौहरी बाजार, बंबई नं० २। १९३३। सुपर रायल अठपेजी आकार। पृष्ठ-संख्या १२ + १२४ + ३९६। सजिल्द। मूल्य ४॥)।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है पर खेद है कि वह अभी तक अज्ञानांधकार में छिपा पड़ा है। हस्तलिखित ग्रंथों के भंडारों में अपभ्रंश कृतियाँ यत्र-तत्र मिल जाती हैं पर उनको खोज निकालना बड़े अध्यवसाय का काम है। सूचीपत्रों में अपभ्रंश को प्रायः प्राकृत ही लिख दिया जाता है जिससे प्रत्येक ग्रंथ को देखे बिना अपभ्रंश ग्रंथों को अलग कर लेना असंभव है। हर्ष का विषय है कि कतिपय अध्यवसायी विद्वानों ने अपभ्रंश-साहित्य के उद्धार का कार्य हाथ में ले लिया है। आलोच्य ग्रंथ के संपादक श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ऐसे ही एक विद्वान् हैं।

श्रीउपाध्ये जी कोल्हापुर के राजाराम कालेज में अर्धमागधी के प्रोफेसर हैं। प्राकृत एवं जैन साहित्य के आप अच्छे पंडित हैं। कई जैन ग्रंथों का संपादन करके आप काफी यश-लाभ कर चुके हैं। वर्तमान ग्रंथ का संपादन भी आपकी कीर्त्ति के सर्वथा अनुकूल ही हुआ है।

इस ग्रंथ में श्री जोइंदु की दो अपभ्रंश रचनाएँ हैं जो दोहा छंद में लिखी गई हैं। पहले ३५२ पृष्ठों में परमप्प-पयासु (परमात्म-प्रकाश) का मूलपाठ और उसकी दो टीकाएँ आई हैं। संस्कृत टीका के कर्त्ता का नाम ब्रह्मदेव और हिंदी टीका के कर्त्ता का नाम दौलतराम है। दौलतराम ने अपनी टीका ईसा की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी थी अत: उसकी भाषा पुरानी और पंडिताऊ ढंग की थी। इस संस्करण में उसे आधुनिक रूप दे दिया गया है। यह अच्छा ही हुआ। प्रत्येक दोहे के नीचे संस्कृत छाया भी दी गई है। हमारी सम्मति में छाया देने की प्रथा यदि प्राकृत तक ही सीमित रहे तो अच्छा। अपभ्रंश तक पहुँच कर शब्दों, शब्दरूपों, विभक्तियों, प्रत्ययों आदि में इतना अधिक अंतर आ जाता है कि छाया छाया न रहकर अनुवाद बन जाती है। पृष्ठ ३५३ से ३६२ तक परमप्पपयासु के पाठांतरों का संक-लन किया गया है। आगे ८ पृष्ठों में मूल दोहों की तथा संस्कृत टीका में उद्धृत पद्यों की दो वर्णानुक्रम सूचियाँ हैं। पृष्ठ ३७१ से ३९४ तक जोगसारु का मूलपाठ संस्कृत छाया, हिंदी अनुवाद, और पाठांतरों सहित दिया गया है। अंत के दो पृष्ठों में जोगसारु के दोहों की वर्णा-नुक्रम सूची है। आरंभ में ९१ पृष्ठों की अँगरेजी में लिखी हुई पांडित्यपूर्ण प्रस्तावना है जिसमें ग्रंथ से संबंध रखनेवाली सभी बातों की मीमांसा योग्यता के साथ की गई है। अँगरेजी से अनभिज्ञ पाठकों के लिये प्रस्तावना का हिंदी-सार पृष्ठ ९३ से १२२ तक में दे दिया गया है। सारांश यह कि ग्रंथ को प्रत्येक प्रकार से उपयोगी बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी गई है। एकाध स्थल पर मतभेद की गुंजायश हो सकती है (उदाहरणार्थ, योगींदु के प्रति हेमचंद्र का ऋण, अथवा योगींदु का समय आदि) पर इससे पुस्तक के मूल्य में कोई कमी नहीं आती।

प्रस्तावना के पृष्ठ २५ पर ग्रंथ में प्रयुक्त छंदों की विवेचना करते हुए दोहा छंद पर विचार किया गया है। किसी विरहांक नामक लेखक का दिया हुआ लक्षण उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया

गया है कि दोहे की प्रत्येक पंक्ति में १४+१२ मात्राएँ होनी चाहिएँ न कि १३+११, जैसी कि साधारणतः मान्यता है। किंतु स्वयं विरहांक ने जो उदाहरण दिया है उसी में गिनने से १३+११ मात्राएँ ही होती हैं। हेमचंद्र का नामोल्लेख भी किया गया है परंतु हेमचंद्र ने प्राकृत-व्याकरण और कुमारपाल-चरित में अपने या दूसरों के जो दोहे दिए हैं उनमें से किसी में १४+१२ मात्राएँ नहीं मिलतीं। १२+११ तथा १३+१० मात्राओं के दोहे हमने देखे हैं परंतु १४+१२ मात्रा का दोहा कहीं हमारे देखने में नहीं आया।

विद्वान् संपादक ने इस कठिनाई का अनुभव किया पर फिर भी विरहांक का समर्थन करना ही उचित समझा। आप लिखते हैं कि विरहांक का अभिप्राय यह है कि दोहे की प्रत्येक पंक्ति में वास्तव में मात्राएँ १४+१२ ही होती हैं, लिखने में चाहे १३+११ ही दिखाई जायँ। संपादक का यह पक्ष-समर्थन कहाँ तक ठीक है, इसके निर्णय का भार हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं। यदि दोहे की पंक्ति में वास्तव में १४+१२ मात्राएँ होतीं तो इतने विशाल दोहा-साहित्य में १४+१२ मात्राओंवाले दोहों की संख्या ही अधिक मिलती, १३+११ मात्राओं-वाले तो कहीं भूले-भटके, अपवाद के रूप में, मिलते। स्वयं विरहांक ही अपने दोहे की पंक्तियों को १३+११ मात्रा की क्यों बनाता?

इस कठिनाई को सुलझाने का प्रयत्न संपादक महोदय ने एक नए तरीके से किया है। आप कहते हैं कि दोहे की पंक्तियों में मात्राएँ तो १३+११ ही होती हैं पर जब हम दोहे को पढ़ते हैं या उसे गाने का प्रयत्न करते हैं तब प्रत्येक चरण के अंतिम लघु वर्ण को दीर्घ पढ़ना पड़ता है। ऐसा किए बिना दोहा पढ़ा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार वास्तविक मात्राओं की संख्या १४+१२ ही हो जाती है। दक्षिण-भारत का तो हमें अनुभव नहीं कि दोहे को कैसे पढ़ते हैं परंतु उत्तरी भारत में दोहे को पढ़ते या गाते समय मात्रा को कहीं दीर्घ नहीं किया जाता। बिना दीर्घ किए ही दोहा मजे से पढ़ा या गाया जा सकता है, दीर्घ करना ही पड़ता है यह बात नहीं।

थोड़ी देर के लिये मान ही लीजिए कि चरण के अंतिम लघु वर्ण को दीर्घ पढ़ना पड़ता है पर दोहे का चरण ऐसा भी तो हो सकता है कि उसके अंत में पहले से ही दीर्घ वर्ण हो। उस अवस्था में दीर्घ को फिर दीर्घ कैसे किया जायगा? ऐसे चरणोंवाले दोहे हेमचंद्र में भी हैं और परमात्मप्रकाश में भी, जैसा कि स्वयं संपादक महोदय ने लिखा है।

इस पर भी संपादकजी विरहांक को ही प्रमाण मानकर कहते हैं कि अंतिम वर्ण न सही, बीच का सही, कोई न कोई दीर्घ अवश्य किया जायगा। हमारी तुच्छ सम्मति में इस द्राविड़ी प्राणायाम की कोई आवश्यकता नहीं। यह कहाँ का न्याय है कि विरहांक का पक्षसमर्थन होना ही चाहिए। अस्तु।

इस सुंदर ग्रंथ के प्रकाशन के लिये संपादक और प्रकाशक दोनों ही अभिनंदन के पात्र हैं।

—नरोत्तमदास स्वामी

सूर्य-किरण चिकित्सा—लेखक—श्रीगोविंदरावजी बापू टोंगू। संपादक और प्रकाशक—डाक्टर दुर्गाशंकर नागर संपादक 'कल्पवृक्ष' मासिक पत्र, उज्जैन (सी० आई०), पृष्ठ-संख्या ४२८। मूल्य २।।) रु० छपाई-बँधाई सुंदर और पुष्ट।

डाक्टर दुर्गाशंकरजी उच्च कोटि के आत्माभ्यासी हैं। योग-विद्या को नवीन रूप से देश में प्रचारित करने के विचार से आज बाईस वर्षों से उन्होंने उज्जैन में अध्यात्म-मंडल की स्थापना कर रक्खी है। इस संस्था द्वारा अनेकों उत्तमोत्तम ग्रंथ और कल्पवृक्ष मासिक पत्र प्रकाशित कर उन्होंने अध्यात्म विद्या में लोगों की अभिरुचि उत्पन्न की है। वे स्वयं उज्जैन में रहकर सब प्रकार के रोगों की, निष्काम भाव से, मानसोपचार द्वारा चिकित्सा करते हैं। सहस्रों नर-नारी उनके इस अध्यात्म-मंडल के कृतज्ञ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक भी सरल से सरल और प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचार के विचार से ही प्रकाशित की गई है।

सूर्य-किरण-चिकित्सा-प्रणाली सुप्राचीन वैदिक भारत में प्रचलित थी। किंतु बाद को इस विद्या का लोप हो गया। आधुनिक युग में इसका आविष्कार सुप्रसिद्ध पाश्चात्य चिकित्सक जनरल पलिंभन साहब ने किया है। उनके पश्चात् अनेक चिकित्सा-विशारदों ने इसे उन्नत और उपयोगी बनाया है। आजकल योरप, अमेरिका आदि स्थानों में अनेक सूर्य-किरण-चिकित्सालय स्थापित हैं जिनमें कठिन से कठिन रोगों की चिकित्सा इस प्रणाली द्वारा होती है। लेकिन अभी तक यह चिकित्सा-प्रणाली अपनी प्रयोगावस्था में ही है।

सूर्य का प्रकाश ऊपर की त्वचा से छनकर अंदर प्रविष्ट होता है और शरीर के अवयवों को प्रभावित कर देता है। इससे शक्कर, प्रोटीन आदि भोज्य पदार्थों का पाचन उत्तेजित हो जाता है। जितने भी रोग हैं वे सब भोजन के ठीक न पचने के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि रोगों पर प्रकाश का कैसा प्रभाव पड़ता है।

आरोग्यता का सूर्य-रश्मियों से क्या संबंध है, नीरोग कैसे रहा जा सकता है और उन रश्मियों का मानव शरीर पर कैसा परिणाम होता है, रश्मियों के सप्त रंग और उनके गुण, रश्मियों द्वारा विविध रोगों की औषधियों के प्रस्तुत करने की विधि, रोग, रोग के लक्षण और उपचार, केवल सात रंग की बोतलों द्वारा चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने चिकित्साजगत् के अपने पैंतीस वर्ष का अनुभव इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया है।

इस चिकित्साप्रणाली की उल्लेख-योग्य विशेषताएँ दो हैं। सरलता और सुलभता। कुछ रंगीन काँच, रंगीन काँच की बोतलें, लेंस और शुद्ध जल की सहायता से कोई भी समझदार व्यक्ति चिकित्सा-कार्य आरंभ कर सकता है। बोतलों में शुद्ध जल भर कर निश्चित समय तक धूप में रखने से ही औषधि तैयार हो जाती है। ऐसी औषधि पर धन का व्यय नहीं के बराबर है। हमारे देश में दीन-दुखियों की

संख्या अत्यधिक है। अन्य चिकित्सा-पद्धतियों पर उन्हें जो धन लाचारी की अवस्था में व्यय करना पड़ता है, उसकी इस प्रणाली में कोई आवश्यकता ही नहीं। अतएव यह प्रणाली हमारे देश की अवस्था के कितना अनुकूल है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

इस पुस्तक में सैद्धांतिक विवेचन कम है। भिन्न भिन्न प्रकृति के लोगों के लिये किस किस प्रकार का भोजन लाभदायक है—इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखा गया है। इसके अतिरिक्त पीतज्वर, गर्दन-तोड़ बुखार, बेरीबेरी, प्लीहा, सूखा आदि कुछ रोगों को छोड़ दिया गया है। रंगीन बोतलों के चित्रों में बैंगनी और आसमानी रंग साफ साफ नहीं हैं।

पर इससे ग्रंथ किसी भी प्रकार अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे बड़ा प्रमाण इस ग्रंथ का यह तीसरा संस्करण है। इस संस्करण में प्रकाश देने के यंत्र, मालिश के ढंग और सूर्यपुटी ओषधियों की निर्माण-विधि अधिक दी गई है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के अंत में विभिन्न रोगों में क्या क्या उपचार होना चाहिए—इसकी एक बहुत ही उपयोगो तालिका दे दी गई है।

हम इस उत्तम ग्रंथ का, इस सरल और सुलभ चिकित्सा-प्रणाली का जो पाश्चात्य देशों में ९० प्रतिशत सफलता प्राप्त कर रही है, भारत के कोने कोने में प्रचार चाहते हैं।

—अखौरी गंगाप्रसाद सिंह

युगप्रधान श्रीजिनचंद्रसूरि—लेखक सर्वश्री अगरचंद० नाहटा और भँवरलाल नाहटा; प्रकाशक शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५।६, आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३७०+८२; सजिल्द का मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक श्री अभय जैन ग्रंथमाला का ७वाँ पुष्प है। इसमें लेखक-द्वय ने सत्रहवीं शताब्दी के जैनाचार्य श्री जिनचंद्र सूरि की जीवन-घटनाओं का वर्णन बड़ी खोज के साथ किया है। उक्त आचार्य ने कई

बार मुगल-सम्राट् अकबर को उपदेश दिये थे। बादशाह के यहाँ आप का खासा सम्मान था। इस जीवनचरित के पढ़ने से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन युग के भारतीय इतिहास की रक्षा का कितना श्रेय जैन धर्म के साधु-महात्माओं को है। ये साधु और आचार्य यात्रा करते हुए उपदेश भी देते थे और ग्रंथों का निर्माण भी करते थे। इनके ग्रंथ जैन-मंदिरों में और उपाश्रयों में रक्षित हैं। इनका उपयोग होना चाहिए।

इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक में जैन धर्म की बातों का वर्णन विशेष रूप से है, फिर भी उसके साथ साथ भारत की तत्कालीन स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। और इसकी भी झलक मिलती है कि उस समय हिंदी भाषा का कौन सा रूप उस ओर प्रचलित था। इस ढंग की पुस्तकों से साहित्य का निर्माण करने में निस्संदेह सहायता मिलेगी।

लेखकों ने पुस्तक लिखने के लिये बहुतसी हस्त-लिखित पुस्तकों को परिश्रम से ५ वर्ष तक ढूँढ़ा और पढ़ा है और उक्त आचार्य की यात्राओं का विवरण तिथिवार देकर पुस्तक को किंवदंतियों के आधार पर स्थापित होने से बचाया है।

आरंभ में श्री मोहनलाल दलीचंद देशाइ बी० ए०, एल्-एल० बी०, एडवोकेट की लिखी हुई कोई ४० पृष्ठ की गुजराती में प्रस्तावना है। पुस्तक-लेखकों की इच्छा इसका हिंदी रूप छापने की थी किंतु देसाईजी का आग्रह नागरी अक्षरों में गुजराती भाषा छापने का था। अतएव वही रूप है। कोई ५८ पृष्ठों के परिशिष्ट हैं जिनमें महत्त्व के शाही फरमान, पत्र, प्रशस्ति आदि संकलित हैं। इसके लिये लेखकों को इतिहास-संबंधी ग्रंथों की छानबीन करनी पड़ी है।

पुस्तक में भाषा की अशुद्धियाँ इतनी अधिक हैं कि ६ पृष्ठों का 'शुद्धाशुद्धिपत्रम्' लगाया गया है जिसमें अंत में लिखा है "प्रेस-दोष से अनेक जगह मात्राएँ टूट गईं और अक्षर अस्पष्ट उठे हैं एवं 'व' के स्थान पर 'ब' छपा है, ऐसी साधारण अशुद्धिएँ हमने नहीं लिखी हैं।"

दो एक स्थान पर लेखकों ने बँगला लिपि और उसी भाषा में उद्धरण देकर उनका अनुवाद छापा है, जब कि यह काम केवल अनुवाद से

ही हो सकता था, जैसे 'परिस्थिति' शीर्षक में पृष्ठ ४ और 'सम्राट् पर प्रभाव' शीर्षक में पृष्ठ ११४ पर। जहाँगीर की आत्मजीवनी बँगला में नहीं, फारसी में है। फारसी से संभवत: अँगरेजी में और तब बँगला में अनुवाद हुआ होगा। बँगला टाइपों में बँगला अनुवाद छापकर उसका अनुवाद देने से असली चीज बहुत दूर हो सकती है।

अच्छे कागज पर इतने अधिक पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक १) में देने का अर्थ है पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार का प्रयत्न।

—ल० पांडेय

समीक्षार्थ प्राप्त

१—इस जगत् की पहेली—मूल-लेखक श्री अरविंद, अनुवादक श्री मदनगोपाल गाड़ोदिया; प्रकाशक श्री मदनगोपाल गाड़ोदिया, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य ॥=) ।

२—पद्माकर की काव्य-साधना—लेखक श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह; प्रकाशक साहित्य-सेवासदन, काशी; मूल्य १॥) ।

३—भारतपारिजातम्—लेखक और प्रकाशक स्वामी श्रीभगवदाचार्य, लहरीपुरा, बड़ौदा; मूल्य ३॥) ।

४—विद्यापति ठाकुर—लेखक डाक्टर उमेश मिश्र एम० ए०, डी० लिट्; प्रकाशक हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; मूल्य १।) ।

५—वैद्यक मान—लेखक शांतस्वामी अनुभवानंद; प्रकाशक द्वारिकाप्रसाद सेवक, सेवासदन, चाँदनी चौक, दिल्ली; मूल्य ।) ।

६—संत तुकाराम—लेखक डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर एम० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य; प्रकाशक हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद; मूल्य १॥) ।

विविध

हिंदी गद्य का विकास

पं० कृष्णशंकर शुक्ल लिखते हैं :—

"अब तक हिंदी-गद्य का प्रारंभ संवत् १८६० (सदल मिश्र के अनुवाद-ग्रंथ 'नासिकेतोपाख्यान' के रचनाकाल) से माना जाता है। मुझे जो सामग्री मिली है उसके आधार पर इस प्रारंभ-काल को ५० वर्ष पीछे ले जा सकते हैं। इस काल की अर्थात् १९ वीं शताब्दी (विक्रमी) के प्रारंभ की अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं। इस समय अनेक जैन विद्वान् हुए जिन्होंने अनेक जैन पुराणों के अनुवाद खड़ी बोली गद्य में प्रस्तुत किए। ऐसा एक अनुवाद संवत् १८१८ वि० में प्रस्तुत किया गया। संवत् १८२३ में बसवा निवासी पं० दौलतरामजी जैन ने श्रीरविषेणाचार्य-लिखित संपूर्ण पद्म-पुराण का अनुवाद सुंदर गद्य में प्रस्तुत किया। इसकी भाषा पर कुछ प्रांतीय प्रभाव अवश्य है। फिर भी पं० दौलत-रामजी हमारे प्रथम गद्य-लेखक माने जा सकते हैं। इस पुस्तक से दो उद्धरण दिए जाते हैं,—

(१) मगध देश का वर्णन—

"जहाँ दाड़िम के बहुत वृक्ष हैं जहाँ सूवा आदि अनेक पक्षी बहुत प्रकार के फलन का भक्षण कर रहे हैं जहाँ बाँदर अनेक प्रकार किलोल करे हैं बिजौरा के वृक्ष फल रहे हैं बहुत स्वादरूप अनेक जाति के फल तिनका रस पीकर पक्षी सुख सों सोय रहे हैं और दाखन के मंडप छाय रहे हैं।"

(२) जानकी का वर्णन—

"बदन पर जीता है चंद्रमा जिसने पल्लव समान हैं कोमल आरक्त हस्त जिसके महाश्याम महासुंदर इंद्रनीलमणि समान हैं केशों के समूह जिसके और जीती है मद की भरी हंसिनी की चाल जिसने।"

मुझे विश्वास हो रहा है कि इसी प्रकार अन्य जैन विद्वानों ने भी अनेक पुस्तकें लिखी होंगी। जैन विद्वानों को ऐसी पुस्तकों को साहित्यिकों के सामने रखना चाहिए। और भी जिन लोगों के पास इस विषय की कोई पुस्तक हो वे उसकी सूचना दें जिससे हमारे गद्य के विकास का क्रम ठीक किया जा सके।"

हिंदी पद्य तथा गद्य के प्रारंभिक विकास में जैन विद्वानों का बहुत हाथ रहा है। इस संबंध में जो सामग्री प्राप्त है वह अभी पर्याप्त नहीं है। अतः हिंदी भाषा तथा साहित्य का पूरा क्रमबद्ध इतिहास अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल इस विषय में अनुसंधान कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि इस कार्य की ओर विद्वान्, विशेषतः जैन विद्वान्, काफी ध्यान दें।

यह कैसी हिंदुस्तानी ?

"ध्वनिक्षेपक यानी ब्राडकास्टिंग यंत्रों के कारण भाषा का प्रश्न बहुत महत्त्व का हो गया है। इन यंत्रों से सुनाए जानेवाले गीत, समाचार, भाषण आदि देश भर के लाखों आदमी सुनते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि लोगों पर ब्राडकास्टिंग का प्रभाव पड़ता है और दिन दिन अधिकाधिक पड़ेगा, ज्यों ज्यों सुननेवालों की संख्या बढ़ेगी। अतः यह आवश्यक है कि इसके विषयों के समान इसकी भाषा के संबंध में बड़ी सावधानता के साथ काम लिया जाय। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अन्य भाषाओं के संबंध में तो हम कुछ नहीं कह सकते पर हिंदी भाषा की तो इन यंत्रों द्वारा नित्य हत्या की जाती है। खासकर दिल्लीवाले ध्वनिक्षेपक यंत्र से जो गीत-समाचार-भाषण आदि सुनाए जाते हैं वे हिंदी-भाषी लोगों के लिये सर्वथा न समझने योग्य ही होते हैं। उन भाषणों में से हिंदी-उर्दू के प्रचलित शब्द जानबूझकर निकाल दिए जाते और उनकी जगह अरबी और फारसी के कठिन तथा दुर्बोध शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है और कहा जाता

है कि यह हिंदुस्तानी भाषा है। यदि हिंदुस्तानी का अर्थ अरबी-फारसी हो तो वह इस देश की भाषा कभी नहीं हो सकती।

हम यह नहीं कहते कि हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी में अरबी-फारसी के शब्द न हों। उर्दू भी वस्तुतः इस देश की ही भाषा है जो बाहर से आए हुए मुसलमानों की अपनी भाषा और यहाँ की प्रचलित बोल-चाल की भाषा के मेल से बनी है। मुसलमानों के शासनकाल में अरबी फारसी का पठन-पाठन अधिक था, जैसे आज अँगरेजी का है, इसलिये इस भाषा में उन विदेशी भाषाओं के शब्द आ गए हैं। उनमें से जो चल गए हैं और हमारी भाषा में मिल गए हैं, वे हमारे हो गए हैं—वह हमारी संपत्ति हैं। उन्हें निकाल बाहर करने का यत्न अपनी भाषा के लिये ही हानिकारक होगा। पर हमें आपत्ति नित्य नए आनेवाले अरबी-फारसी के शब्दों से है जिन्हें हिंदू तो क्या साधारण शिक्षित मुसलमान भी नहीं समझता। प्रसंगवश यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि उर्दू भारत भर के मुसलमानों की मातृभाषा नहीं है। जो मुसलमान जिस प्रांत के हैं उसी प्रांत की भाषा उनकी मातृभाषा है। उदाहरणार्थ बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, द्राविड़, मलयालम् आदि प्रांतों के मुसलमानों की मातृभाषा बँगला, गुजराती, मराठी, तेलुगु, तामिल, मलयालम्, है, न कि उर्दू। मद्रास का मुसलमान उर्दू उतना ही समझता है जितना पंजाब का मुसलमान तामिल समझता है। उर्दू केवल पश्चिमी संयुक्त प्रांत और पंजाब के मुसलमानों की मातृभाषा कही जा सकती है। पर यह भाषा भी दिल्ली से सुनाई जानेवाली 'हिंदुस्तानी' नहीं है।

हम यह भी नहीं कहते कि हिंदी या हिंदुस्तानी संस्कृत शब्दों से भरी होनी चाहिए। इससे भाषा की सुंदरता नष्ट होती है और वह साधारण लोगों की समझ में भी नहीं आती। हिंदी और उर्दू के जो सामान्य शब्द हैं, वही हमारी भाषा की निज संपत्ति हैं। इन्हें छोड़कर या इनकी उपेक्षा करके इनकी जगह संस्कृत के अथवा अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करना अनुचित है। पर बढ़ते हुए साहित्य में नित्य नए शब्दों की आवश्यकता होती है और इसकी पूर्ति हिंदू

संस्कृत से तथा मुसलमान अरबी-फारसी से करते हैं और करेंगे। इस संबंध में भी एक बात विचारणीय है। जो भारतवासी मुसलमान हो गए हैं, उन्होंने अपना धर्म ही बदला है, न कि भाषा भी। जिस तरह यह देश उनका है उसी तरह इस देश की प्राचीन भाषा संस्कृत भी उनकी है। यदि वे देश का त्याग नहीं करते तो संस्कृत भाषा से क्यों घबराते हैं? भारत के सिवा और किसी भी देश के मुसलमानों में अपनी परंपरागत भाषा के संबंध में यह घृणा नहीं दिखाई देती। क्यों मुसलमान नए शब्द अरबी-फारसी से ही लें और संस्कृत से न लें? इसका एक मात्र कारण यह है कि भारतीय मुसलमानों ने धर्म के साथ साथ अपनी संस्कृति का भी त्याग कर दिया है। वे अपने आपको सर्वथा विदेशी बनाना चाहते हैं पर राजनीतिक क्षेत्र में विशेषाधिकार के इच्छुक हैं! यही उनकी अस्वाभाविक प्रवृत्ति राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में अनबन का कारण हो गई है। यही कारण है कि दिल्ली का ध्वनिक्षेपक यंत्र हम हिंदुस्तानियों के सिर पर नित्य अरबी-फारसी गोलों की वर्षा किया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि इसका विरोध सार्वजनिक सभाओं में किया जाय और साहित्यिक संस्थाएँ भी सरकार का ध्यान इस अनौचित्य की ओर दिलावें।"

साप्ताहिक 'आज' वर्ष १, अंक २ का यह अग्रलेख हम साधुवाद के साथ उद्धृत करते हैं और देश के उत्तरदायी विचारकों तथा सुधारकों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं।

कंदरा

श्रीयुत बाबू भगवानदास गुप्त, बी० ए०, ने हमारे पास उल्लिखित शीर्षक का एक लेख भेजा है। उसका मुख्य अंश यहाँ प्रकाशित

किया जा रहा है। यदि गोस्वामीजी ने सचमुच इस कंदरा में बैठकर 'विनयपत्रिका' का प्रणयन किया हो तो इस स्थान का उद्धार अवश्य और शीघ्र होना चाहिए।

"काशी का गोपाल-मंदिर सुप्रसिद्ध है। इसका मुख्य फाटक चौखंभा महल्ले में पूर्व मुख को पड़ता है, पर यह मंदिर असल में ग्वालदास साहू के महल्ले में स्थित है। मंदिर के पीछे ठाकुरजी का एक बगीचा है जिसे देखने से मुगल बादशाहों के जमाने की इमारतें याद आती हैं। चारों तरफ की दीवारें लगभग तीन पोरसे ऊँची हैं। बगीचे के बीच में एक बँगला है जिसमें फौवारा बना हुआ है; और इस बँगले से चारों फाटकों तक पत्थर की पटरियाँ हैं, जिनके बीच में फौवारों की कतारें हैं। यह उस बगीचे का आदि चित्र जान पड़ता है। अब कुछ परिवर्त्तन जरूर हो गया है।

इस बगीचे के दक्षिण-पश्चिम कोने पर एक दरवाजा है, जिसमें ताला बंद रहता है। मंदिर से ताली मँगवा कर इसे खोलिए और भीतर जाइए। अँधेरा बहुत है, दीपक या लालटेन साथ रखिए। झुककर सीढ़ी उतरिए, नहीं तो ऊपर की छत से सिर टकर खा जायगा। करीब दस-बारह डंडा घूमते घूमते उतरने पर आपका मुख दक्षिण ओर हो जायगा और आपके दाहिने-बाएँ दोनों तरफ दो कंदराएँ मिलेंगी। नाप में हर एक लगभग एक गज लंबी, एक गज चौड़ी और दो गज ऊँची है। देखने से मालूम होता है कि कंदरा और दीवार दोनों साथ ही बने हैं। कहा जाता है कि इसी कंदरा में बैठकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'विनयपत्रिका' का अधिकांश लिखा था।

इसके सामने की ओर बगीचे की पूर्वी दीवार में एक और कंदरा है, जो नंददास की कही जाती है। कहा जाता है कि ये नंददास वल्लभ-कुल के एक वैष्णव और गो० तुलसीदासजी के मित्र थे।

कंदरा के पश्चिम और दक्षिण ओर गली है जिसमें इसके दो मोखे हैं। उनमें से लोग फूल-जल चढ़ाया करते हैं। पर यह कोई विरला ही जानता है कि यह तुलसीदासजी की कंदरा है। करीब

बीस बरस हुए होंगे कि सरकार ने वहाँ एक शिलालेख लगवा दिया है। उसकी अँगरेजी शब्दावली का अनुवाद यों है—'कहा जाता है कि इस कोठरी में तुलसीदासजी ने अपनी विनयपत्रिका बनाई।' यदि लिखावट हिंदी में होती तो आते-जाते स्त्री-पुरुष इसको पढ़ भी लेते।

मुझे तो इस कंदरा की दशा देखकर बड़ी लज्जा आती है। कोई दस वर्ष हुए, मुझे ऐसी प्रेरणा हुई कि इस कंदरा का जीर्णोद्धार हो। इस विषय पर मैंने एक विज्ञप्ति 'आज' पत्र में निकाली। स्वर्गवासी राजा सर मोतीचंदजी तथा और सज्जनों ने इसे पसंद भी किया। मैंने महाराज श्री मुरलीधरजी से निवेदन किया कि बगीचे की मरम्मत कराई जावे, बंद फाटक खोल दिया जावे, वल्लभकुल की बहुमूल्य पुस्तकों का एक भांडार बगीचे में बना दिया जावे, कंदरा के पश्चिम एक दरवाजा काँच और छड़ों का गली में खोल दिया जावे, और सबसे नीचेवाली सीढ़ी पर एक दर्पण रख दिया जावे, जिससे उसमें जो कंदरा की परछाईं पड़े उससे कंदरा का दर्शन गली से हो।

महाराज हिंदी भाषा के बड़े प्रेमी हैं। उनकी इच्छा हुई कि दरवाजा खुल जाय तथा दर्पण रखा जाय, पर उनके मंत्र-दाताओं ने कुछ ऐसा समझाया कि काम अभी तक नहीं हुआ।"

सभा की प्रगति

विभागों के कार्य

सभा के पुस्तकालय, कलाभवन तथा संकेतलिपि-विद्यालय का कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा है। पुस्तकालय की पुस्तकों की सूची का काम बीच में, पुस्तकों की जाँच के कारण, कुछ दिन तक रुक गया था; पर अब फिर आरंभ हो गया है। कलाभवन की वस्तुओं की सूची भी तैयार हो रही है। पुस्तकालय और कलाभवन के विस्तार के साथ स्थान की कमी दिनोंदिन अधिक खल रही है, जिसके कारण इनकी समुचित व्यवस्था में बाधा पड़ रही है।

हिंदी संकेत-लिपि का शिक्षण-कार्य विद्यार्थियों की संख्या अधिक होने के कारण दो वर्गों में होता है। खेद है कि अभी टाइपराइटर न मिलने के कारण हिंदी टाइपराइटिंग नहीं सिखाई जाती। किंतु कलकत्ते के श्रीयुक्त सेठ ब्रजमोहन बिड़ला ने कृपापूर्वक एक टाइपराइटर खरीदने के लिये सभा को रुपया दे दिया है और टाइपराइटर मिलते ही उसके भी सिखाने का कार्य आरंभ हो जायगा। कलकत्ते की 'श्री हीरालाल अग्रवाल एंड संस' की कोठी से भी सभा को एक टाइपराइटर के लिये वचन मिला है।

हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का काम युक्तप्रांतीय सरकार की सहायता से पूर्ववत् हो रहा है।

प्रकाशन

इधर निम्नलिखित पुस्तकें और छपकर तैयार हुई हैं,

सूरसुधा

रानी केतकी की कहानी

मआसिर उल् उमरा, भाग २

इनमें से प्रथम दो का पुनर्मुद्रण हुआ है। रानी केतकी की कहानी इस बार संशोधित होकर छपी है और इसका संशोधन कृपा-

पूर्वक बाबू ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल्० बी० ने किया है। इसकी छपाई आदि भी पहिले से बहुत अच्छी हुई है।

'सोवियत भूमि' की छपाई अभी समाप्त नहीं हुई है। इस समय सभा की कई पुस्तकों के पुराने संस्करण समाप्त हो गए हैं और उनके पुनर्मुद्रण की बड़ी आवश्यकता है। यद्यपि यह कार्य हो रहा है, किंतु धन की कमी के कारण बहुत धीरे धीरे। पुस्तकें रखने के लिये स्थान की भी कठिनाई है। ५५० रुपए लगाकर इस बार रैक बनवाए गए हैं, किन्तु वे सब भर गए और अब फिर स्थान की कमी प्रतीत हो रही है।

आर्थिक स्थिति

संतोष की बात है कि सभा के प्रति हिंदी-प्रेमी विद्वानों तथा श्रीमानों की सहानुभूति बढ़ रही है और सभासदों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इससे आशा की जाती है कि सभा की आर्थिक अवस्था बहुत शीघ्र सुधर जायगी।

सभा का एक प्रतिनिधि-मंडल, धन-संग्रह के लिये, कलकत्ते गया था जिसमें निम्नलिखित सज्जन थे,—

श्रीयुक्त पं० रामनारायण मिश्र, श्रीयुक्त राय साहेब ठाकुर शिवकुमारसिंह, श्रीयुक्त बाबू रामचंद्र वर्मा और श्रीयुक्त बाबू बैजनाथ केडिया।

पीछे इस मंडल में श्रीयुक्त प्रो० वंशगोपाल झिंगरन सम्मिलित हुए और एक दिन श्री कविराज प्रतापसिंह ने, जो उस समय कलकत्ते गए हुए थे, मंडल का साथ दिया। कलकत्ते में स्थित सभा के कई सभासदों और श्रीमानों तथा पत्र-संपादकों ने सहायता की। श्रीयुक्त बैजनाथ केडिया के प्रशंसनीय सहयोग और उद्योग से इस यात्रा में मंडल को काफी सफलता मिली और एक सप्ताह के भीतर कुल ५३१४ रुपए सभा को प्राप्त हुए। इस दान का ब्योरा पत्रिका के अगले अंक में प्रकाशित होगा।

सभा अपनी समस्त निधियों के स्टाक-सर्टिफिकेट खरीदकर ट्रेजरर, चैरिटेबल एंडाउमेंट फंड के पास जमा कर देना चाहती है और

इसके लिये जिन निधियों में पूरे रुपए नहीं हैं उन्हें पूरा करने के उद्योग में लगी हुई है। इस वर्ष के आरंभ से सभा ने निम्नलिखित निधियों के स्टाक-सर्टिफिकेट खरीदे हैं,—

स्थायी कोश के लिये	२६००)	रुपयों के
जोधसिंह पुरस्कार के लिये	१३००)	,,
अन्य पुरस्कारों के लिये	५००)	,,
योग	४४००)	

सभा का एक प्रतिनिधि-दल राजपूताने तथा बंबई की ओर भी शीघ्र ही जायगा।

आवश्यक निवेदन

सभासदों तथा ग्राहकों से नम्र निवेदन है कि—

(१) जब वे अपना पता बदलें तो उसकी सूचना सभा-कार्यालय में अवश्य भेज दें।

(२) सभा से पत्र-व्यवहार करते समय सभा के पत्र की संख्या और तिथि तथा अपनी सभासद वा ग्राहक-संख्या का उल्लेख करना न भूलें।

(३) जिन सभासदों वा ग्राहकों का चंदा मनीआर्डर द्वारा प्राप्त होता है उन्हें उसकी रसीद सभा से नहीं भेजी जाती। वे कृपा कर पोस्ट आफिस से मिली हुई रसीद को ही पर्याप्त समझें।

———

हमारी परिवर्तन-सूची

अरुण	मुरादाबाद
अर्जुन	दिल्ली
आंध्र साहित्य परिषत्	कोकोनाडा
आज (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	काशी
आदर्श (मराठी)	पूना
आर्य	लाहौर
आर्यमहिला	काशी
आर्यमित्र	आगरा
इंडियन इन्फार्मेशनसीरीज (अँगरेजी)	दिल्ली
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली (अँगरेजी)	कलकत्ता
इंडियाना (अँगरेजी)	काशी
इंस्टीटस डेस ओरिएंटल डेस एकेडेमी साइंस (रूसी)	लेनिनग्रेड
उत्थान	रायपुर
ऊषा	दिल्ली
एजुकेशन (अँगरेजी)	लखनऊ
एनल्स आव दी भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट (अँगरेजी)	पूना
एनुअल बिब्लियोग्राफी आव इंडियन आर्क्यालाजी (अँगरेजी)	लीडेन
एपिग्राफिया इंडिका (अँगरेजी)	ऊटकमंड
ओरिएंटल लिटरेरी डाइजेस्ट (अँगरेजी)	पूना
ओरिएंटल स्टडीज बुलेटिन (अँगरेजी)	लंदन
कर्नाटक हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	धारवार
कर्मवीर	खंडवा
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर

किशोर	पटना
किसानोपकारक	प्रतापगढ़
कूर्मक्षत्रिय-दिवाकर	काशी
केसरी (मराठी)	पूना
क्षत्रिय-मित्र	काशी
क्षात्रधर्म	अजमेर
खिलौना	प्रयाग
गीताधर्म	काशी
गुजराती पंच (गुजराती)	अहमदाबाद
गृहस्थ	गया
जनता	पटना
जयाजीप्रताप	ग्वालियर
जर्नल आव आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी (अं०)	राजमहेंद्री
जर्नल आव इंडियन हिस्ट्री (अँगरेजी)	मद्रास
जर्नल आव बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी (अँगरेजी)	बंबई
जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	पटना
जर्नल आव दी मद्रास ज्याग्रफिकल असोसिएशन (अँगरेजी)	मद्रास
जर्नल आव राजस्थान रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	कलकत्ता
जागृति	कलकत्ता
जीवनसंदेश	मुजफ्फरपुर
जीवनसखा	प्रयाग
श्रीजैन सिद्धांत-भास्कर (अँगरेजी)	आरा
तत्त्वदर्शी	बड़ोदा
थियासोफिस्ट (अँगरेजी)	काशी
दीपक	अबोहर
देशदूत	प्रयाग
देशी राज्य	नदियाद
धन्वंतरि	विजयगढ़

धर्मदूत	सारनाथ
धर्मसंदेश	इटावा
नवज्योति	अजमेर
नवशक्ति	पटना
पुस्तकालय (गुजराती)	बंबई
प्रजापति-प्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
प्रताप (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	कानपुर
प्रवासी (बँगला)	कलकत्ता
बसंत (गुजराती)	अहमदाबाद
बालक	दरभंगा
बालसखा	प्रयाग
बीसवीं सदी	भागलपुर
बिजली	पटना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
बुद्धप्रभा (अँगरेजी)	बंबई
ब्रह्मविद्या (अँगरेजी)	अदयार
भाग्योदय (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारत-इतिहास-संशोधक मंडल (अँगरेजी)	पूना
भूगोल	प्रयाग
महाराष्ट्र साहित्य परिषत् पत्रिका (मराठी)	पूना
मातृभूमि अब्दकोश	झाँसी
माधुरी	लखनऊ
मिथिक सोसायटी (अँगरेजी)	बंगलोर
योगी	पटना
राजस्थान	अजमेर
रूपाभ	कालाकाँकर
लीडर (अर्द्ध साप्ताहिक अँगरेजी)	प्रयाग

लेखक	प्रयाग
लोकमान्य (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	कलकत्ता
वाणी	खरगोन
विद्यापीठ	काशी
विद्यार्थी	प्रयाग
विश्वभारती (अँगरेजी)	शांतिनिकेतन
विश्वमित्र (१) दैनिक, (२) साप्ताहिक और (३) मासिक	कलकत्ता
वीणा	इंदौर
श्रीवेंकटेश्वर	बंबई
वैद्य	मुरादाबाद
शारदा (गुजराती)	राजकोट
शिक्षा	बाँकीपुर
श्रेय	मथुरा
संकीर्तन	मेरठ
संगीत	हाथरस
संदेश	आजमगढ़
सचित्र दरबार	दिल्ली
सम्मेलनपत्रिका	प्रयाग
सरस्वती	प्रयाग
समय	जौनपुर
सर्वोदय	वर्धा
साहित्य	पटना
साहित्य-संदेश	आगरा
सुकवि	कानपुर
सुधा	लखनऊ
सूर्य (१) द्विदैनिक और (२) साप्ताहिक	काशी
सेवा	प्रयाग
सैनिक	आगरा

हरिजन-सेवक	दिल्ली
हिंदी केसरी	काशी
हिंदी-प्रचारक	मद्रास
हिंदी बंगवासी	कलकत्ता
हिंदी-शिक्षण-पत्रिका	इंदौर
हिंदी स्वराज्य	खंडवा
हिंदुस्तान रिव्यू (अँगरेजी)	पटना
हिंदुस्तानी	प्रयाग

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४३-संवत् १९९५ [नवीन संस्करण] भाग १९ अंक ३

(१२) हिंदी और हिंदुस्तानी

(लेखक—पं० रामचंद्र शुक्ल)

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार है तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह संचय असभ्य जातियों में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियों में पुस्तकों के भीतर हिफाजत के साथ बंद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हजारों वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परंपरा सभ्यता का लक्षण है। यह परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द-परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थपरंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती

है। ये दोनों परंपराएँ अभिन्न होती हैं। इन्हें एक ही परंपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परंपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परंपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है और अर्थ-परंपरा या साहित्य को भी। इस प्रकार दोनों के स्वरूपों का सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य में यदि बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जाएगा और जनता के हृदय का स्पर्श न कर सकेगा। यदि अर्थ-परंपरा का स्वरूप बनाए रखकर शब्द-परंपरा का स्वरूप बदल जायगा तो परिणाम होगा "कोयल का नगमा" और "महात्माजी के अलफाज"। यदि शब्द-परंपरा स्थिर रखकर अर्थ-परंपरा या वस्तु-परंपरा बदली जाएगी तो आपके सामने "स्वर्ण अवसर" आएगा, "हृदय के छाले" फूटेंगे और "दुपट्टे फाड़े जाएँगे"।

भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द और नई नई वस्तुएँ न मिलें। उसमें नए नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए नए अर्थों या वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता बनाए रहता है। हम यह बराबर कह सकते हैं कि वह इस देश का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है। गंगा एक क्षीण धारा के रूप में गंगोत्तरी से चलती है; मार्ग में न जाने कितने नाले, न जाने कितनी नदियाँ उसमें मिलती जाती हैं, पर सागर-संगम तक वह 'गंगा' ही कहलाती है, उसका 'गंगापन' बना रहता है।

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का संबंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो अब हिंदी कही जाती है। इसका एक एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिंब है, हमारी बुद्धि का वैभव है।

देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय में रूपरंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूपरंग खड़ा किया है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु-पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं। इनकी सारी रूप-छटा, सारी भाव-भंगी हमारी भाषा में और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप में बहती थी, फिर प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में और इधर हजार वर्ष से इस वर्त्तमान रूप में—जिसे हिंदी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चंद और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई; कबीर, सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई; बिहारी, देव और पदमाकर ने शृंगाररस की वर्षा की; भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर संपूर्ण मानव जगत् के मेल में लानेवाली भावनाएँ भर रहे हैं। हजारों वर्ष से यह दीर्घ परंपरा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं।

हमारा गर्व यह सोचकर और भी बढ़ जाता है कि यह परंपरा इतनी प्रबल और शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि इधर सौ वर्ष से—अर्थात् अँगरेजी राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पीछे—इसे बंद करने के तरह तरह के प्रयत्न कुछ लोगों के द्वारा समय समय पर होते आ रहे हैं, पर यह अपना मार्ग निकालती चली आ रही है। इस विरोध का मूल हमारे उन मुसलमान भाइयों की निर्मूल आशंका है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य को विदेशी साँचे में ढालकर अपने लिये अलग रखना चाहते हैं। यदि वे अपनी भाषा और अपने साहित्य को एक अलग परंपरा रखना चाहते हैं तो हमारे लिये यह प्रसन्नता की बात है। इधर अपनी भाषा की छटा, अपने साहित्य की विभूति हमारे सामने रहेगी, उधर उनके साहित्य के चमत्कार से भी हम अपना मनोरंजन करेंगे। यही मौका उन्हें भी रहेगा। मनोरंजन के क्षेत्र एक से दो

रहें तो और अच्छी बात है। यही स्थिति मुसलमानी अमलदारी में रही है। दिल्ली और दक्खिन के बादशाह फारसी कविता का भी आनंद लेते थे और परंपरागत हिंदी कविता का भी। फारसी के स्थान पर जब उर्दू की शायरी होने लगी तब भी यही बात रही। अनेकरूपता का नाम ही संसार है। सौंदर्य्य की विभूति अनेक रूपों में प्रकट होती है। सहृदय उन सब में आनंद का अनुभव करते हैं। अकबर की बात छोड़ दीजिए जो आप कभी कभी हिंदी में कविता करता था। औरंगजेब तक के दरबार में जाकर हिंदी कवियों का कविता सुनाना प्रसिद्ध है। रहीम, रसखान, गुलाम नबी इत्यादि का नाम हिंदी के अच्छे कवियों में है।

यहीं तक नहीं, अपनी धार्मिक भावनाओं की व्यंजना के लिये भी मुसलमान यहाँ की परंपरागत भाषा को बराबर काम में लाते थे। हमारे हिंदी-काव्य के इतिहास में सूफी कवियों का एक वर्ग ही अलग है, जिसके अंतर्गत कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद इत्यादि दर्जनों कवि हुए हैं। उन्होंने हमारी ही प्यारी बोली में हमारे काव्यों की पदावली में, जिसमें संस्कृत का पुट बराबर रहता आया है, प्रेम-कहानियाँ लिखी हैं।

यह देखना चाहिए कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य में वह कौन सी वस्तु है, जो अब हमारे मुसलमान भाइयों को नापसंद है। इधर उनकी ओर से जो लेख आदि निकल रहे हैं उनसे पता चलता है कि भाषा में न पसंद आनेवाली वस्तुएँ हैं संस्कृत के शब्द और साहित्य में भारतीय रीति नीति और भारतीय इतिहास-पुराणों के प्रसंग। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिस देश का साहित्य होगा उस देश की परंपरागत भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप, रीति-नीति, कथा-प्रसंग आदि से वह कैसे दूर रह सकता है?

अब थोड़ा यह भी देखिए कि पुराने मुसलमान भाइयों ने अपने वर्ग के लिये एक अलग साहित्य निर्माण करने में उसका क्या स्वरूप रक्खा था, और कितने दिनों तक वह स्वरूप वे बनाए रहे। हिंदी में

थोड़े, से अरबी-फारसी शब्द मिलाकर अपने साहित्य के लिये जो भाषा उन्होंने ग्रहण की, वह 'रेख़ता' कहलाती थी। जो हिंदी उन्होंने ली थी वह केवल व्यवहार और बोलचाल की हिंदी न थी, परंपरागत काव्यों और गीतों की हिंदी भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिये चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इंद्रिय, विकार आदि शब्द तक कभी कभी लाते थे—

(१) सराहना नेवाजना खुदा को बहुत कि वह पालनहारा है आलम का (शरह मरग़ुबुल कलूब-शाह मीरांजी बीजापुरी सन् १४९५ के पहले)।

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद:) बलिक सतंतर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखाता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़! ज़ाहिर तन के फ़ेल से गुजरया व बातिन करतब विषै? दूसरा तन सो भी कि इस इंद्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा......सुख-दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन......। यह तन फ़हम सूँ गुजरया तो गुन उसका क्यों रहे?

(कलामतुल हक़ायक़, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)

उर्दू के इतिहास-लेखक उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुंडा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। इससे इमामहुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू कवियों ने कई मसनवियों या प्रबंध-काव्यों की रचना की। इनमें से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह कथा शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है? शृंगार की प्रेम-कहानियों की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई

है। जैसे 'वजही' की 'मसनवी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

न भुईं पर बसे वह न असमान में।
रहा शद उसी नार के ध्यान में।
भुलाई चंचल धन वो यों शाह कों।
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कों।
लगा शाह उसासाँ भरन आह मार।
कि नज़दीक ना है व गुनवंत नार।

'वजही' की गजल का नमूना यह है—

पिउ अपने कों आज मैं निस सपने देखी सोयकर।
जब पिउ चलिया सेंति सेज तब सोते उट्ठी रोयकर॥
ना पूछूँ बहमन जोयसी, कब मिलना पिउ सों होयसी।

'वजही' का रचना-काल सन् १६०० से १६२५ तक माना जाता है। इसके उपरांत सन् १६५० के लगभग 'नसरती' का समय आता है, जो कुछ दिनों तक तो दक्खिनी शायरी की उपर्युक्त परंपरा पर चला पर आगे चलकर वह 'हिंदवीपन' को बहुत कुछ दूर हटाकर फारसी रूप देने में लगा। अपना यह प्रयत्न उसने स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है 'दखिन के शायरों की मैं रविश पर शेर बोल्या नहीं।" एक स्थान पर और कहता है—"मआनी की सूरत की है आरसी। दखिन का किया शेर जूँ फ़ारसी॥ फ़साहत में गर फ़ारसी ख़ुश कलाम॥ धरे फ़ख़्र हिंदी वचन पर मुदाम॥ मैं इस दो हुनर के खुलासों को पा। किया शेर ताज़ः दोनों फ़न मिला॥" 'नसरती' ने जो रास्ता दिखलाया उस पर कुछ लोग धीरे धीरे चलने लगे, पर दक्खिनी शायरी की देशी परंपरा कुछ दिनों तक चलती रही। सन् १६६१ ई० में अफ़ज़ल ने हिंदी गीत-काव्य-परंपरा के अनुसार 'बारह-मासा' लिखा जिसकी भाषा इस ढंग की है—

सखी रे! चैत रितु आई सुहाई। अजहुँ उम्मीद मेरी बर न आई।
रहे हैं भँवर फूलों के गले लाग। मेरे सीनः जुदाई की लगी आग।

सखो दिन रैन मुझ नागिन डसत है। फिरूँ दोरी तमामै जग हँसत है।

सन् १७०० के पीछे वली ने, और दक्खिनी शायरों के समान, कुछ दिनों तक हिंदीपन को रहने दिया। उसकी उन रचनाओं में हिंदी-काव्य-परंपरा के कुछ शब्द, भारतीय कथा-प्रसंगों के कुछ संकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं। जैसे—

इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिससूँ।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज सुनाती जा॥
मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत की पूजनहारो इस बुत को पुजाती जा॥
मुख बात बोलता हूँ शिकव: तेरे कपट का।
तुझ नैन देखने को दिल ठाँठ कर चुका था॥

पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि "ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला।" फिर तो वली ने अपना रुख ही पलट दिया और वे इस तरह के कलाम सामने लाने लगे—

जब सनम को ख़याले बाग़ हुआ। तालिबे नशशए फ़राग़ हुआ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब। नाज़नी साहबे दिमाग़ हुआ॥
अश्क सूँ तुझ लबाँ की सुर्ख़ी के। जिगर लाल: दाग़ दाग़ हुआ।

पहले के दक्खिनी शायर तो देश के श्रुति-रुचि के अनुसार जगह को 'जाघा' और 'अलहद:' को 'अलाधा' तक लिखते थे। फारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिंदी व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के कायदे पर 'उश्शाक़' रखा है और फ़ारसी समास के ढंग पर 'नशए-फ़राग और 'साहबे दिमाग़' लाए हैं। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। कायम ने सन् १७२० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

यहाँ से अब दिल्ली के शायरों की परंपरा उर्दू-साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिंदी के शब्दों की छँटाई की, जिसका वर्णन उन्होंने आप ही इस प्रकार किया है—

"लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी कि क़रीबुलफ़हम व कसीरुल इस्तअमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ायाने हिंद फ़सीहाने रिंद दर महावर: दारंद मंज़ूर दाश्त:। सिवाए आँ ज़बान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयंद मौक़ूफ़ करद:।"

तात्पर्य यह कि हातिम ने अरबी-फ़ारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिंदी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी-फ़ारसी के बीच हिंदी के वे ही शब्द और मुहाविरे रहने पाए जिन्हें शाहज़ादे और सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई। इतना होने पर भी इनकी कविताओं में भारतीय कथा-प्रसंगों के संकेत पाए जाते हैं—

ख़ुदा के नूर का मथकर समुंदर। यही चौदह रतन काढ़े हैं बाहर॥
अगर फ़हमीद: हिकमत आशना है। इसी नुसख़े में चौदह विद्या है॥

हातिम ही के समय में उर्दू के महाकवि 'सौदा' हुए हैं जो पहले हिंदीपन से सनी हुई शायरी ही नहीं, सर्व-साधारण में प्रचलित हिंदी भाषा की कविता भी करते थे और अच्छी करते थे। कुछ उद्धृत किए बिना आगे नहीं बढ़ते बनता। सौदा की हिंदी गजल—

निकलके चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है।
सिमटके घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे विरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा।
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है।
पड़ा वो सा ंत मन में जिसके विरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ।
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छटक रहा है।

हिलोर यों लेती ओस की बूँद लग के फूलों की पंखड़ी से।
तुम्हारे कानों में जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी।
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझसे मुल्ला झटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ।
सजन! जो काँटा है तुझ गली का सो पग में मेरे भटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे।
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे।
ध्यान परबत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे सिरीजन।
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुध-बुध।
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक में लट की लटक रहा है।

सौदा के हिंदी दोहे—

कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास।
जंगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आइ के तेरी देहली पास।
बेग खबर लो या नबी! अब पत की नहिं आस॥
खीझ खीझ चहुँ ओर से पड़े वह जालिम टूट।
बेवों को डरपाय के ले गए घर को लूट॥
कहै हरम सर पीटकर खोकर अपनी लाज।
माटी में तू रल गयो दीन दुनी के लाज॥
खोयौ तैंने नीर बिन नबी के मन को चैन।
जालिम तेरे हाथ से प्यासो गयो हुसैन॥

उक्त दोहे मरसियों में आ गए हैं। उन्हीं में से अलग किए गए हैं। सौदा की पहेलियों की भाषा हिंदी है पर उनकी और सब रचनाएँ हातिम की ही सरणी पर चलती हैं। उर्दू की शायरी में जो

थोड़ा बहुत हिंदीपन लुका छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख़ के हाथ से दूर किया गया। फिर तो वह हिंदी से ऐसी हटी कि उसने अपना एक दायरा ही अलग कर लिया। उस दायरे से जगत, चंचल, नार, गुन, अकास, धरम, धन, करम, दया, बीर, बली ऐसे शब्द एक-दम निकाल बाहर हुए। इसी प्रकार वस्तुओं में न कमल और न भँवरे रह गए, न वसंत और कोकिल; न वर्षा ऋतु रह गई न सावन की हर-याली; न भीम और अर्जुन रह गए न कर्ण और भोज। इस प्रकार यहाँ की परंपरागत भाषा के आधे हिस्से से और परंपरागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा दी गई। जबरदस्ती जान बूझकर हटाई गई, आप से आप नहीं हटी।

उर्दू के इस रूप में आने का परिणाम यह हुआ कि अपना प्रसार करने की स्वाभाविक शक्ति उसमें न रह गई। वह अपने को बनाए रखने के लिये मकतबों और सरकारी दफ्तरों की मुहताज हो गई। यह बात अँगरेजी अमलदारी के प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे नव शिक्षित मुसलमान भाइयों को स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी और वे उसकी रक्षा और प्रसार के कृत्रिम साधनों का अवलंबन करने में लगे। मुसलमानी अमलदारी में सरकारी दफ्तर फारसी में थे। अतः ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी कुछ दिनों तक सरकारी दफ्तरों की जबान फारसी ही रहने दी। पर पीछे अधिकारियों को यह बात खटकने लगी, कि दफ्तरों की भाषा सर्व साधारण की भाषा से बिलकुल अलग है। उनका ध्यान देश की प्रचलित भाषा की ओर गया। सन् १८३६ ई० में हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड से एक इश्तहारनामा निकला जो इस प्रकार था—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर—

पच्छाह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी

अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिंदी बोली में उसपर हुक्म लिखा जायगा। मिती २६ जूलाई सन् १८३६ ई०।

खेद की बात है कि यह व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमान भाइयों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी घुसने न पाए, उर्दू चलाई जाय। अंत में सन् १८३७ ई० से उर्दू दफ्तरों की भाषा कर दी गई। इसके उपरांत जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जगह-जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्कृत की कक्षाएँ तोड़ दी जायँ और हिंदी-भाषा का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक कर दिया जाय, तब भी मुसलमान भाइयों की ओर से विरोध खड़ा किया गया और सन् १८४८ में उनकी प्रेरणा से कंपनी की सरकार ने यह आज्ञा निकाली "ऐसी जबान का इल्म तमाम तुलबा के लिये लाजिम करार देना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावः इसके मुसलमान तुलबा जिनकी तादाद इस देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।" हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाकुलर स्कूलों में उसकी शिक्षा जारी ही न होने पाए। हिंदी की रक्षा के लिये राजा शिवप्रसाद को कितना यत्न करना पड़ा था, यह हिंदी-प्रेमीमात्र जानते हैं। सरकार की ओर से ज्ञान की वृद्धि के लिये एक संस्था Society for promotion of knowledge in India through the medium of vernacular language स्थापित हुई थी, जिसका उद्देश्य था अँगरेजी-फारसी, संस्कृत आदि की

पुस्तकों का देशी भाषा में अर्थात् हिंदी, उर्दू और बँगला में अनुवाद करना। पर उर्दू को छोड़कर न हिंदी में कोई अनुवाद होने पाया न बँगला में।

सर सैयद अहमद साहब वास्तव में उर्दू को क्या समझते थे, यह उन्हीं की जबान से सुनिए। वे फरमाते हैं—"चूँकि यह ज़बान ख़ास बादशाही बाज़ारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको ज़बान उर्दू कहा करते थे। और बादशाही अमीर-उमरा इसको बोलते थे। गोया हिंदुस्तान के मुसलमानों की यह ज़बान थी"। इस प्रकार उर्दू को उन्होंने केवल दरबारी अमीर-उमरा और मुसलमानों की जबान माना है।

मुसलमान किस तरह पहले अपने मजहब की तालीम के लिये थोड़ी अरबी-फारसी मिली एक खास ढंग की हिंदी काम में लाए, फिर धीरे धीरे हिंदीपन निकालते निकालते बिल्कुल एक विदेशी ढाँचे की भाषा गढ़कर उन्होंने अपने लिखने की भाषा एकदम अलग कर ली, यह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढ़ी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिये प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिंदी के सूफी कवि नूरमुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'इंद्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'*। नूर मुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा हिंदी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिये फारसी में रचना करना ही जायज समझने लगे थे। 'इंद्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने यह कहकर फटकारना शुरू किया कि "तुम मुसलमान होकर हिंदी में क्यों लिखने गए।" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' में अपनी सफाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ॥

---

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ झलकता है—

† कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा॥
छाँड़ि पारसी कंद नबातैं। अरुझाना हिंदी-रस बातैं॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिये मुसलमानों ने ही अपने लिये विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिये दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है, उसमें कोई हिंदू भी है? शायद एक या दो। और जाने दीजिए 'आबे हयात' ही उठा लीजिए। उसमें सब के सब शायर मुसलमान ही तो हैं? अब और सबूत क्या चाहिए? इतने पर भी न जाने किस मुँह से यह कहा जाता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के मेल से उर्दू पैदा हुई। मेल से पैदा हुई चीज की यही सूरत होती है?

आज सब से बढ़कर खेद तो तब होता है जब कोई कानून-पेशा हिंदू, पेट के पीछे जिसके घराने का लगाव देश की परंपरागत संस्कृति और साहित्य से बिल्कुल टूट गया हो, जिसकी प्रारंभिक शिक्षा केवल फारसी तथा अदालती भाषा उर्दू की हुई हो, किसी जलसे या मुशायरे में उर्दू को 'हिंदू-मुसलिम कलचर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरक: जबान' बताने लगता है। हम पूछते हैं कि जब आप 'हिंदू कलचर' से कोसों दूर पड़ गए हैं तब उसका मेल कहाँ और कितना है, यह क्या पहचान सकते हैं? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि के साहित्य की कुछ खबर है? जब आप ऐसे कूप-मंडूक हैं कि अपने तंग घेरे के बाहर नजर ही नहीं फैला सकते, तब इस रोशनी के जमाने में चुप क्यों नहीं रहते? साहित्य की जो देश-व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिंदी की भी है—

† नूरमुहम्मद फारसी की रचनाओं में अपना तखल्लुस 'कामयाब' रखते थे

अर्थ-परंपरा भी और शब्द-परंपरा भी। इसी अर्थ-परंपरा और शब्द-परंपरा से इस देश की दस-बारह करोड़ जनता परिचित है। इसी को वह अपना समझती आई है। जिसने उर्दू नहीं पढ़ी है उसे जरा अपनी 'मुश्तरक: आम-फ़हम' में कोई 'सयासी तक़रीर' सुनाइए तो पता लगे। हमें सबसे बढ़कर क्षोभ उस समय हुआ था जब हिंदुस्तानी के किसी जलसे में एक साहब यह फरमा गए थे कि "मैं तुलसी और कबीर को समझ लेता हूँ पर आजकल की हिंदी बहुत कम समझ पाता हूँ"। इस प्रलाप का भी कहीं ठिकाना है? जो आजकल के साहित्य की भाषा नहीं समझता वह भला तुलसी की भाषा क्या समझेगा? संस्कृत शब्दों की जो परंपरा सूर तुलसी आदि की रचनाओं में चली आई थी वही आजकल भी चली आ रही है।

जिस प्रकार 'हिंदवीपन' निकाल निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सब के गले मढ़ने के लिये हिंदी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी खासा इतिहास है जो उस समय से शुरू होता है जब देश का पूरा शासन अँगरेजों के हाथ में आया। इन दोनों इतिहासों का संक्षेप में उल्लेख करके अब मैं वर्त्तमान परिस्थिति पर आता हूँ। अब तक शिक्षा का लक्ष्य अधिकतर सरकारी नौकरी रहा है। अत: इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा है कि दफ्तरों में हिंदी न घुसने पाए। दफ्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी तब तक झख मारकर लोगों को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौका रहेगा कि उर्दू पढ़े लिखे लोगों की भाषा है। अगर दफ्तरों की भाषा होना ही प्रचलित भाषा होने का प्रमाण है तब तो फारसी भी, जो कई सौ वर्ष तक दफ्तरों की भाषा रही है, देश की प्रचलित भाषा मानी जानी चाहिए।

जिस समय उर्दू के साथ साथ—उसे हटाकर नहीं—हिंदी को भी स्थान दिलाने के लिये सर ऐंटनी मैकडानल के समय में आंदोलन उठा उस समय भी पूरा विरोध मुसलमानों की ओर से खड़ा किया

गया। अदालतों से ही नहीं, शिक्षा-पद्धति से भी हिंदी को हटाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं, यह दिखाया जा चुका है। अब आजकल की परिस्थिति देखिए। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिंदू-मुसलिम एकता अत्यंत आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकड़कर 'हिंदुस्तानी' लेकर उठे हैं। इस हिंदुस्तानी का समर्थन कुछ उदार समझे जानेवाले मुसलमान और उर्दू की गोद में पले हिंदू भी कर रहे हैं। हम भोली भाली जनता को इस 'हिंदुस्तानी' से सावधान करना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। जो हिंदुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू के सब लक्षण—जैसे वाक्य-रचना की फारसी शैली, अरबी-फारसी के अप्रचलित मुंशी-फहम शब्द, अरबी-फारसी कायदे के बहुवचन—उसमें वर्त्तमान रहेंगे तब तो वह 'हिंदुस्तानी' कहलाएगी, अन्यथा नहीं।

साहित्य, विज्ञान, दर्शन इत्यादि के काम की हिंदुस्तानी नहीं हो सकती, यह तो इसके समर्थक भी स्वीकार करते हैं। हमारा कहना है कि साधारण बोलचाल और व्यवहार के लिये भी जिस प्रकार की 'हिंदुस्तानी' हमारे उर्दू-परस्त दोस्तों के ध्यान में है वह चलनेवाली नहीं है। साधारण लिखा-पढ़ी और व्यवहार में भी वही भाषा चल सकती है जिसमें ठेठ हिंदी शब्दों के अतिरिक्त जैसे सब प्रकार के लोगों द्वारा बोले जानेवाले अरबी फारसी के शब्द आएँ, वैसे ही संस्कृत के भी। पर क्या भूलकर भी प्रचलित से प्रचलित संस्कृत शब्द—जिसे गाँवों में बसनेवाली अपढ़ जनता तक बराबर बोलती आ रही है—हिंदुस्तानी में कभी स्थान पा सकता है? जहाँ एक भी ऐसा शब्द आया कि हमारे मेहरबान दोस्तों को 'भाखापन' की गंध आने लगेगी।

साधारण लिखा-पढ़ी, अदालती व्यवहार तथा बोलचाल के लिये यदि एक सच्ची सामान्य भाषा 'हिंदुस्तानी' के नाम से ग्रहण कर ली जाय तो कोई हर्ज नहीं। पर उस हिंदुस्तानी में जिस प्रकार अरबी-फारसी के ऐसे चलते शब्द आएँ जैसे—

जरूर, काबू, इख्तियार, दावा, वक्त, सलाह, कायदा, कानून, हिम्मत, हैरान, सिफारिश, अरजी, नरम, गरम, मुलायम, गरीब, अमीर, इज्जत, कसूर, माफ, मरजी, गरज, किफायत, नफा, नुकसान, तकाजा, उम्र, दरवाजा, रंज, गुस्सा, किस्सा, तनख्वाह, तदबीर, पेशा, साल, शकल, सूरत, ऐब, हुनर, हाजिर, सवाल, जवाब, सजा, मुनासिब, सही, गलत, मंजूर।

उसी प्रकार नित्य बोले जानेवाले ऐसे संस्कृत के शब्द भी आएँ जैसे—

विद्या, परीक्षा, ज्ञान, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, अपराध, न्याय, अन्याय, उपाय, युक्ति, कला, आकाश, पृथ्वी, क्षमा, दया, माया, प्रेम, प्रीति, क्रोध, ईर्षा, शोक, चिंता, सुख, दुख, संपत्ति, विपत्ति, शरण, चरण, धन, मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा, कृपा, बंधन, नाश, रक्षा, वस्तु, संतोष, औषध, वश, भोग, विलास, आनंद, पर्वत, जल, धारा, स्नान, ध्यान, शीत, ताप, शोभा, सुंदरता, तेज, प्रताप, बल, पराक्रम, पौरुष, वीरता, शरीर, देह, कोमल, सुकुमार, शुद्ध, अशुद्ध, पवित्र, इच्छा, अक्षर, वाणी, कंठ, अर्थ, मनोरथ, कामना इत्यादि।

है ऐसी आशा ?*

---

* फैजाबाद में हुए गत प्रांतीय हिंदीसाहित्य-सम्मेलन की साहित्यपरिषद् के सभापति के पद से शुक्लजी ने इस आशय का भाषण दिया था।

—संपादक।

(१३) फलौधी की कुटिल लिपि

[लेखक—श्री भँवरलाल नाहटा]

फलौधी अर्थात् मेड़तारोड मारवाड़ का सुप्रसिद्ध प्राचीन जैन तीर्थ है। वहाँ आश्विन और पौष कृष्णा १० के दिन, वर्ष में दो बार, मेला लगता है, जिसमें सहस्रों की संख्या में जैन और जैनेतर जनता एकत्र होती है। विगत आश्विन के मेले में सौभाग्यवश मैं भी वहाँ गया। तेईसवें जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की सप्रभाव श्यामवर्ण प्रतिमा लगभग ८०० वर्ष पूर्व भूमि में से निकली हुई है। मंदिर भी १२वीं शताब्दी का बना हुआ है। इस तीर्थ की उत्पत्ति चमत्कारमय होने के कारण यह मारवाड़ का मुख्य जैन तीर्थ कहलाता है। प्राचीन और अर्वाचीन सभी तीर्थमालाओं में इस तीर्थ का नाम स्मरण किया गया है।

दशमी के मध्याह्न में मंदिर से पार्श्वनाथजी की रथयात्रा निकालकर निकटवर्ती तालाब पर ले जाते हैं। इस उत्सव में गायन-वाद्यादि द्वारा प्रभु-भक्ति करने के हेतु सभी यात्री सम्मिलित हुआ करते हैं। मैं इससे कुछ आगे बढ़कर एक विशाल मंदिर की शोभा देखने के लिये चल पड़ा। वह मंदिर ब्रह्माणी माता का था। उसके आस-पास कुछ मूर्तियाँ और प्राचीन देवलिये भी पड़ी हुई थीं, परंतु उन पर कोई लेख नहीं था। मंदिर के समक्ष एक पीले पाषाण का विशाल और सुंदर उत्तुंग तोरण दृष्टिगोचर हुआ। उसका मध्यवर्त्ती छबना टूटकर गिरा हुआ था। शिल्पकला को देखते मंदिर १०००, १२०० वर्ष का प्राचीन प्रतीत हुआ, अतः कोई शिलालेख प्राप्त होने की आशा से मैं मंदिर में गया। इस मंदिर के गर्भगृह के दाहिनी ओर एक स्तंभ पर खुदे हुए कई लेख मिले जो शुद्ध और सुवाच्य नहीं थे। उनमें से एक की लिपि बहुत पुरानी थी। उस लिपि का पर्याप्त ज्ञान न होने से अपनी नोट-बुक में उसकी नकल न कर, एक ऐसे मुद्रित विज्ञापन पर, जो दूसरी

तरफ खाली था, कुछ समय के परिश्रम द्वारा पेंसिल से मैंने धीरे धीरे अविकल नकल कर डाली। उसी स्तंभ पर जो दूसरे लेख उत्कीर्ण थे वे संवत् १४६०, १५३५, १५५१ और १५७९ के थे जिनमें संवत् १५३५ चैत्र शुक्ला १५ वाले लेख में प्रासादोद्धार का वर्णन था।

बीकानेर आकर उस लेख को कुछ तो मैंने स्वयं पढ़ा और कुछ माननीय पं० दशरथ शर्मा एम० ए० महोदय ने। अंत में जो अक्षर अस्पष्ट रह गए उनका, बीकानेर-नरेश की गोल्डन जुबिली पर महामहोपाध्याय राय बहादुर पंडित गौरीशंकरजी हीराचंदजी ओझा के पधारने पर उनसे पूछकर, जो नागरी अक्षरांतर हुआ वह इस प्रकार है:—

७ ओं नम श्री फलवर्द्धिका दे
वि। श्री पुष्करणांक वारी वासी
सूत्रधार बाहुक। तस्य समुत्पनो
भद्रादित्य। तत्र च जातो भचारवि।
तस्य पुत्रोत्पन सिसुरवि सूत्रधार।
अण्डज स्वेदजौ वापि। उद्भिजं च ज
(र) ा युजं।

यह लेख कुटिल लिपि का है। ईसवी सन् की छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी पर्य्यंत अर्थात् गुप्त लिपि के पश्चात् और नागरी लिपि से पूर्व इस लिपि का प्रचार था। इसके अक्षर बहुधा प्रतिहार राजा बाउक के जोधपुर के शिलालेख से विशेष मिलते हैं जो कि 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के २३वें लिपि-पत्र में प्रकाशित है। वह लेख वि० सं० ८९४ का होने से इस लेख का समय भी विक्रम की नवीं शताब्दी समझा जा सकता है।

इस शिलालेख का पहला अक्षर ७ गुप्तकालीन ओंकार का तत्समय प्रचलित प्राचीन रूप है। उसके पश्चात् "ॐ" से कुटिल लिपि प्रारंभ होती है। इस लिपि में ह नागरी के ड के सदृश और "ड" वर्त्तमान "र" के सदृश है जैसे छठी पंक्ति के दूसरे अक्षर में "अंडज" लिखा गया है। "ज" बँगला लिपि के "ज" से और "स"
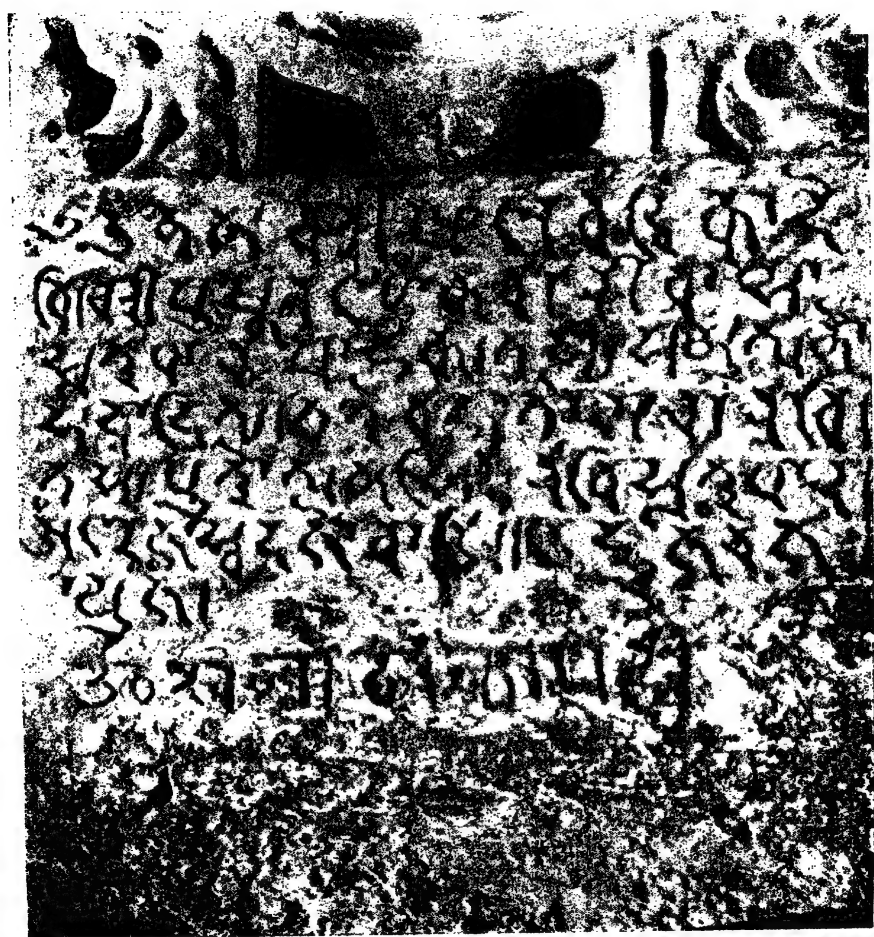
फलौधी का शिलालेख

मारवाड़ी के "स" से खूब मिलता है। इसके विरुद्ध प्रतिहार बाउक के लेख का "स" नागरी के वर्त्तमान "भ" से विशेष मिलता-जुलता है।

इस लेख की प्रथम पंक्ति का "फ" और "ल" अक्षर प्रतिहार राजा बाउक के लेख के अक्षरों से अधिक विकसित रूप में है। दीर्घ ईकारांत की मात्रा जिन जिन अक्षरों में है, पूरी दी गई है; परंतु दूसरी पंक्ति के अंतिम अक्षर "सी" लिखने में मात्रा को सामान्य सा टानकर छोड़ दिया है। तीसरी और पाँचवीं पंक्ति में सूत्रधार लिखने में दीर्घ ऊकार की मात्रा को लंबी न खींचकर "स" के नीचे "त" की भाँति लगा दिया है, जैसा कि कुछ प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में भी देखा जाता है। इसके विरुद्ध प्रतिहार बाउकवाले शिलालेख में मात्रा के स्थान में "ऊ" को ही संयोजित कर दिया है। तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्ति में जो "त्र" लिखा है उसे "त" के नीचे "र" लिखकर संयुक्त कर दिया गया है।

यह लेख बड़े बड़े अक्षरों की सात पंक्तियों में उत्कीर्ण है जिनमें क्रमशः ११, ११, १३, १३, १४, १३ और अंतिम पंक्ति में केवल दो अक्षर ही हैं। अंतिम पंक्ति में "युजं।" में संबंध देखते "र" अक्षर छूट गया प्रतीत होता है, क्योंकि इसका पूरा शब्द "जरायुजं" होना चाहिए।

इस शिलालेख के नीचे आठवीं पंक्ति के रूप में नागरी लिपि में "उ० सनाढा कापड़ी" खुदा हुआ है। इन शब्दों की लिपि देखने से ज्ञात होता है कि कई शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर किसी ने पीछे से लिखा होगा, क्योंकि यह लिपि उससे बहुत अर्वाचीन है।

इस शिलालेख का फोटो, जो मुझे हाल ही में आचार्य महाराज श्री जिन हरिसागर सूरिजी की कृपा से प्राप्त हुआ है, इस लेख के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसके द्वारा पाठकों को प्राचीन शिलालेख का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

ब्रह्माणी माता का मंदिर सेवगों (भोजक, सेवक या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों) का है। सुना है कि ग्राम भी इसी मंदिर के लिये राज्य की ओर से भेंट है।

श्रीयुक्त जगदीशसिंह गहलोत अपने "मारवाड़ राज्य के इतिहास" के पृष्ठ ३१२ में इस मंदिर के बारे में इस प्रकार लिखते हैं—

'फलोदी गाँव में (जो मेड़तारोड कहलाता है) ब्रह्माणी माता और पार्श्वनाथ का जैन-मंदिर है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ब्रह्माणी माता का मंदिर सं० १०८८ में या उसके पहिले बना था। फिर मुसलमानों द्वारा तोड़े जाने पर जब जब अवसर मिला, उसकी मरम्मत की गई। पहली मरम्मत सं० १४६५ में गहलोत दूढा ने की। उस समय गहलोतों का राज्य मेड़ते में था, जिनका नाम इस परगने के और भी शिलालेखों में मिलता है। बाद में सं० १४५५, १५३५ और १५५१ में इसकी मरम्मत हुई। यह मंदिर पुराने शिल्प और पत्थर के काम का अच्छा नमूना है। इसका बहुत सा भाग मुसलमानी राज्यों में मुसलमानों के मूर्त्ति तोड़नेवाले प्रबल हाथों से नष्ट हो चुका है। तो भी जितना कुछ बाकी है वह अब इस गिरी हुई दशा में भी अपनी झीनी और अनोखी कारीगरी की बारीकी और सुंदरता का चमत्कार दिखाने के लिये बहुत है।"

श्री गहलोतजी ने जो बातें लिखी हैं उससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता। संभव है, उन्हें वहाँ कोई सं० १०८८ का लेख प्राप्त हुआ हो। मेरे पास जो ३-४ अन्य लेख हैं वे अशुद्ध हैं, अतः पढ़े नहीं जा सकते।

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरिजी अपने 'विविध तीर्थ कल्प' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ में भी इस मंदिर का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

"अत्थि सवालक्ख देशे मेड़त्तय नगर समीवठिओ वीर भवणाइ-नाणाविह देवालयाभिरामो फलवद्धी नाम गामो। तत्थ फलवद्धि नाम-धिज्जाए देवीए भवणमुत्तुंग सिहरं चिट्ठइ। सोअ रिद्धिसमिद्धोवि कालक्कमेण उव्वसपाओ संजाओ। तहावि तत्थ किंत्ति आ विवाणि-अगा आगंतूण अवसिंसु।

अर्थात्—सपादलक्ष (सवा लख) देश में मेड़ता नगर के निकट वीर-मंदिर[1] आदि देवालयों से सुंदर फलवर्द्धि (फलोदी) नाम का

१—इससे वहाँ महावीरजिनालय की भी सत्ता मालूम होती है जो अभी नहीं है।

गाँव है। वहाँ फलवर्द्धि नाम की देवी का ऊँचे शिखरोंवाला मंदिर प्रतिष्ठित है। वह गाँव ऋद्धि से समृद्ध होने पर भी कालक्रम से ऊजड़ हो गया। फिर भी वहाँ कितने ही व्यापारी आकर बसे।"

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि यह मंदिर चौदहवीं शताब्दी तक तो फलवर्द्धिका देवी के नाम से ही पहिचाना जाता था, क्योंकि श्री जिनप्रभ सूरिजी का समय चौदहवीं शताब्दी है। फलवर्द्धिका देवी का नाम ब्रह्माणी माता कब से प्रसिद्ध हुआ? या ब्रह्माणी का अपर नाम फलवर्द्धिका देवी है, यह बात विचारणीय है। दूसरा प्रश्न यह है कि ब्रह्माणी माता का नाम फलवर्द्धिका देवी, फलौदी गाँव के नाम से हुआ या देवीजी के नाम से गाँव का नाम फलवर्द्धि (फलौधो) प्रसिद्ध हुआ? पार्श्वनाथ भगवान् का जैनतीर्थ होने से पीछे से "पारसनाथ फलौधी" प्रसिद्ध हो जाने के कारण नाम में भ्रम न हो, इससे माताजी का नाम "ब्रह्माणी देवी" कहने लग गये हों, यह भी संभव है।

इस शिलालेख में मंदिर के निर्माण करनेवाले सूत्रधारों के वंश-पुरुषों के नामों के अतिरिक्त "पुष्करणांक वारी" जो नगर का नाम आया है वह वर्त्तमान "पुहकरण" का ही नाम है या दूसरा? और अंत में अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज जीवोत्पत्ति-संस्थान का जो नाम आया है उसका क्या कारण है? विद्वान् लोग खुलासा करें।

इस लेख में संवत् या ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है, फिर भी लिपि की दृष्टि से यह महत्त्व का है।

मैं लिख चुका हूँ कि मंदिर के समक्ष एक सुंदर उत्तुंग तोरण गजराज की भाँति अवस्थित है। उस तोरण का टूटा हुआ विशाल पत्थर सामनेवाले तालाब के नाले में पड़ा हुआ है। व्यवस्थापकों को चाहिए कि वहाँ से उठाकर उसे यथास्थान लगवा दें अथवा सँभालकर रख दें जिससे भग्नावशिष्ट प्राचीन शिल्प का नाश न हो।

---

(१४) 'मंझनकृत मधुमालती'

[लेखक—श्री चंद्रबली पाँडे एम० ए०]

जहाँ तक हमें पता है, 'मंझन' की 'मधुमालती' का परिचय पहले पहल हिंदी संसार को स्वर्गीय श्री जगन्मोहन वर्म्मा ने सन् १९१२ ई० में दिया और स्वसंपादित 'चित्रावली' की भूमिका में लिखा—

"जायसी ने पद्मावति में एक जगह अपने पूर्व के रचे हुए कितने ही ग्रंथों का उल्लेख किया है। आप लिखते हैं—

'विक्रम धँसा पेम के बारा। सपनावति लग गयो पतारा॥
सिरीभोज खँडरावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँअर कंचनपुर गेऊ। मिरगावति लगि जोगी भेऊ॥
साधा कुँअर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू॥'

इससे अनुमान होता है कि जायसी के पहिले भी कवि लोग सपनावति, खँडरावति, मिरगावति, मधुमालति आदि[१] ग्रंथ लिख चुके थे। इनमें मिरगावति का पता तो सभा को सन् १९०० में लग चुका है। इसका विवरण भी सभा की खोज की रिपोर्ट पृष्ठ १७,१८ में लिखा है। उसके देखने से मालूम होता है कि मिरगावति को कुतुबन ने सन् ९०९ हिजरी में अर्थात् सन् १५०२ ईस्वी में लिखा था। शेष अन्य ग्रंथों का पता आज तक सभा को नहीं लगा।

१—'पदमावत' में उल्लिखित ग्रंथों के नामों का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ तो लिपि-दोष के कारण कुछ के कुछ पढ़े जाते हैं और कुछ पाठ-भेद के कारण कुछ के कुछ और ही हो गए हैं। यहाँ तक कि 'मधुमालती' के नायक का नाम भी अनेक हो गया है। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि 'मधु-मालती' का स्पष्ट उल्लेख 'जायसी' ने किया है और किसी किसी प्रति में उसके नायक 'मनोहर' का नाम भी मिलता है। अतएव इसके विषय में मनमानी उद्भावना व्यर्थ है।

मधुमालति की एक अपूर्ण प्रति मुझे इस वर्ष काशी के गुदड़ी बाजार में मिली। यह ग्रंथ १७ पन्ने से १३३ पन्ने तक है। पुस्तक उर्दू लिपि में अत्यंत शुद्ध और सुंदर अक्षरों में लिखी हुई है। भाषा मधुर और पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहा है। आदि और अंत के पृष्ठ न होने से ग्रंथकर्ता के ठीक नाम (सिवाय मंझन के जो उसका उपनाम है) और उसके निर्माण-काल आदि का पता नहीं चलता। ग्रंथ के आदि के ३९ पन्नों तक बायें पृष्ठ पर के किनारे पर दो दो पंक्तियों में फ़ारसी भाषा में कुछ याददाश्त लिखे हैं जिसके अंत में ११ रबिउस्सानी सन् १०६९ हिजरी (सन् १६५८ ई०) की मिती है। याददाश्त में उसी समय की घटना का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह प्रति उस समय के पहिले की लिखी हुई है।" (वही, पृष्ठ ४-५, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सन् १९१२ ई०)

स्वर्गीय वर्माजी के उपरांत उनके आत्मज श्री सत्यजीवन वर्मा एम० ए० ने मंझन तथा मधुमालती की खोज की और अपने 'आख्यानक काव्य' नामक निबंध में लिखा—

"मधुमालती की प्राप्त प्रति के अपूर्ण होने के कारण उसके ग्रंथ (ग्रंथकर्त्ता) के विषय में हमारा ज्ञान परिमित हो जाता है। केवल मधुमालती में दो[1] स्थानों पर कवि ने मंझन शब्द का प्रयोग किया है, जिससे अनुमान होता है कि कवि का उपनाम मंझन था। यथा—

(१) 'मंझन' अमर मूरि जग बिरहा जनम जु पावै पास।
निहचै अमर होइ जुग जुग सो, काल न आवै पास॥
(२) 'मंझन' जे जग जनम लै बिरह न कीया चाव।
सूने घर का पाहुना ज्यों आया त्यों जाव॥

कवि मंझन ने मधुमालती में एक स्थल पर लिखा है—

'देखहिं सेन 'मलिक' जी आई।'

१—वर्माजी का उक्त कथन ठीक नहीं है। 'मधुमालती' में 'मंझन' का नाम प्रायः मिलता है। उसकी गणना एक, दो, तीन पर समाप्त नहीं की जा सकती।

इससे अनुमान होता है कि संभव है, कवि मंझन अपने को 'मलिक' भी लिखता रहा हो, जैसे मुहम्मद जायसी अपने को 'मलिक' लिखते थे। कवि मंझन मुसलमान था और सूफ़ीमत का अनुयायी था, यह मधुमालती से भली भाँति प्रकट होता है।"

यह तो हुई ग्रंथकर्त्ता की बात। अब निर्माणकाल का हाल सुनिए। वर्माजी उसी निबंध में आगे लिखते हैं—

"मृगावती का रचना-काल संवत् १५६६ है। मधुमालती क्रमानुसार मृगावती के बाद आती है। अतः मधुमालती संवत् १५६६ के पश्चात् रची गई होगी। अब यही मानना पड़ेगा कि मधुमालती का निर्माण-काल संवत् १५६६ से १५९५ (पदमावत का रचनाकाल) के बीच में है।" (नागरीप्रचारिणी पत्रिका संवत् १९८२ वि०, पृ० ३१६)

पिता-पुत्र ने मिलकर मधुमालती तथा 'मंझन' के विषय में जो राय कायम कर ली थी वही हिंदी साहित्य के इतिहासकारों को भी मान्य थी। पर इधर श्री ब्रजरत्नदास जी बी० ए०, एल्-एल० बी० ने उसे भ्रांत सिद्ध करने की कुछ गंभीर चेष्टा की है। उनका कथन है—

"'मंझन' हिंदू थे अतः उन्होंने मुसलमानी प्रथानुसार अपने काव्य के आरंभ में अपने समय के सम्राट् का उल्लेख नहीं किया है और न ग्रंथ-निर्माण का समय दिया है। 'मधुमालती' के मंगलाचरण से यह निर्गुण निराकार के माननेवाले ज्ञात होते हैं। इस प्रकार 'मधुमालती' का रचना-काल संवत् १६५० वि० के लगभग आता है और इन्हें जायसी का पूर्ववर्ती मानना भ्रामक है और उसके लिये कोई दृढ़ आधार भी नहीं है।" [हिंदुस्तानी (हिंदी) अप्रैल १९३८ ई०, पृ० २१२]

क्यों नहीं है, जरा यह भी उन्हीं से सुन लें। वह कहते हैं—

"जायसी ने उक्त सब ग्रंथों को देखा था या उन सब के विषय में निश्चयपूर्वक सुना था, ऐसा कहना कहाँ तक ठीक माना जाय यह नहीं कहा जा सकता, पर यह अवश्य निश्चय है कि वह इन आख्यानों को जानते थे। वे काव्य-रूप में जायसी के पहले थे या उनके समय में

मौजूद थे, इसका निश्चय केवल उक्त उद्धरण से नहीं हो सकता। जायसी के पूर्ववर्ती कवि कुतुबन की 'मृगावती'[१] का उल्लेख हो चुका है। 'मधुमालती' की एक अपूर्ण प्रति फ़ारसी लिपि में मिली है, अब उसी पर विचार किया जायगा।" (वही, पृ० २०९)

दासजी की तर्क-प्रणाली की मीमांसा व्यर्थ है। संदेह को आपने प्रमाण मान लिया है। दासजी के सामने भी 'मधुमालती' की वही 'अपूर्ण फारसी लिपि की प्रति' है जो उक्त पिता-पुत्र के सामने थी। अत: उनके निष्कर्षों में जो गहरा विरोध है वह उनकी खोज या सदोष दृष्टि का ही परिणाम है, किसी अन्य दैवी कारण का नहीं।

दासजी के समाधान के लिये इतना ही काफी होना चाहिए कि—

"ईती स्री मधुमालती कथा सेष मंझन क्रीती समापति संवतु १६४४ समये अगहन सुदी पूरनमासी ब्रोहसपती बसरे लीषतं माधोदासु कोहली कासी मधे पोथी माधोदास कोहली की।" ('भारत कला-भवन' काशी की एक सुरक्षित हस्तलिखित[२] अधूरी प्रति की पुष्पिका) तो भी प्रसंगवश जानकारी के लिये इतना और निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि—

"तहक़ीक़ से इतना मालूम होता है कि यह क़िस्स: इससे क़ब्ल भी तहरीर में आ चुका था। एक साहब शेख़ मंझन नामी ने इसे हिंदी में लिखा था। यह किताब अब तक कहीं दस्तयाब नहीं हुई। इसका हवाल: एक दूसरी किताब मुसम्मा 'क़िस्स: कुँअर मनोहर व मदमालती' में मिलता है। यह फ़ारसी मसनवी है। मुसन्निफ़ का नाम मालूम नहीं हुआ। अलबत्त: सन् तसनीफ़ सन् १०५९ हि० (सन् १६४९ ई०)

१—'मृगावती' में जिस 'हुसेनशाह' का उल्लेख किया गया है वह वास्तव में जैनपुर का शासक 'हुसेनशाह' है न कि, जैसा दासजी समझते हैं, शेरशाह का पिता, जो 'हुसेनखाँ' था, 'शाह' नहीं।

२—उक्त प्रति के प्राप्त करने का श्रेय कला-भवन के प्राण राय कृष्ण-दासजी को है।

है। इसमें मुसन्निफ़ ने शेख़ मंझन की हिंदी किताब का ज़िक्र किया है और अपने क़िस्से की बुनियाद उसी पर रखी है। तीसरी किताब आक़िल ख़ाँ राज़ी आलमगीरी की मसनवी 'मेह्र व माह' है जो सन् १०६५ (सन् १६५५ ई०) की तसनीफ़ है। इसमें भी यही क़िस्स: है। नसरती की 'गुलशन इश्क़' के बाद भी बाज़ शुअरा ने इस फ़साने को नज़्म किया है। इनमें से एक हसामउद्दीन हिसार का रहनेवाला आलमगीर के अह्द में हुआ है। यह भी फ़ारसी मसनवी है। किताब का नाम हुस्न व इश्क़ और उसका सन् तसनीफ़ १०७१ हि० (सन् १६६० ई०) है।" [उर्दू रिसाल:, जनवरी सन १९३४ ई०, पृ० १२, अंजुमन तरक्क़ी उर्दू, औरंगाबाद (दकन)।]

अब तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं रह गया होगा कि 'मंझन' वास्तव में 'शेख़' यानी मुसलमान हैं और उनकी रचना 'मधुमालती' मुसलिम समाज की एक अत्यंत प्रिय वस्तु है। इसी लिये उसके 'दक्खिनी' और 'फारसी' तक में कई अनुवाद हुए हैं।

नसरती की 'गुलशन इश्क़' के संबंध में मौलाना हक़ का कहना है—

"नसरती ने अस्ल क़िस्से में चंपावती और चंद्रसेन की दास्तान ज़मनी तौर पर बड़ी ख़ूबी से मिलाई है। यह कहना दुशवार है कि किसने किससे इस क़िस्से को लिया है। ऐसा मालूम होता है कि एक ज़माने में यह क़िस्सा बहुत मक़बूल और मशहूर था और हर मुसन्निफ़ ने इसे उसी तरह बयान कर दिया है जैसा कि मुक़ामी तौर पर मशहूर चला आ रहा था। यह मुमकिन है कि नसरती की नज़र से आक़िल ख़ाँ की मसनवी 'मेह्र व माह' गुज़री हो और उसने तसर्रुफ़ करके उसे ज़्यादह पुरलुत्फ़ बना दिया हो या जिस तरह उसने अपने वतन में यह दास्तान सुनी हो उसी को किसी क़द्र दुरुस्त करके नज़्म कर दिया हो।" (वही, पृ० १३-१४)।

मौलाना हक़ जिस चंपावती और चंद्रसेन के प्रसंग को नसरती की सूझ समझते हैं वह और कुछ नहीं, हमारी 'मधुमालती' की देन है।

'मंझन' की 'मधुमालती' की 'प्रेमा' को 'नसरती' ने 'चंपावती' बना लिया है और उसके 'ताराचंद' को 'चंद्रसेन' कर दिया है।

अस्तु, हमें कहना पड़ता है कि मुसलिम समाज की इस ममता और इस प्रीति का मुख्य कारण है 'मधुमालती' की प्रेम-पीर अथवा तसव्वुफ़ से उसका भरपूर रँगा होना। विचार करने की बात है कि जिस 'मधुमालती' को दासजी संवत् १६५० के लगभग की एक हिंदू-रचना मानते हैं उसी का प्रचार मुसलिम समाज में सहसा इतना कैसे और क्यों हो गया कि उसके आधार पर कई पोथियाँ फारसी और दक्खिनी में तैयार हो गईं और सभी लोग चाव से उसको अपनाने लगे। उस समय प्रेस का दानव भी तो नहीं था कि कुछ अपना करतब दिखाता!

स्वयं दासजी ने 'मधुमालती' के उल्लेख का प्रमाण दिया है। उनका कहना है—

"जौनपुर-निवासी जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित, स्व-रचित 'अर्द्धकथा' में सं० १६९८ तक का अपना जीवन-वृत्त किया है। इसका जन्म सं० १६४३ में हुआ था। उक्त पुस्तक के पृ० ३० पर वह लिखता है कि—

तब घर में बैठे रहे, नाहिन हाट बजार।
मधुमालति मृगावती, पोथी दोय उचार॥

यह घटना सं० १६६० के लगभग की है, जब वह व्यापार में घाटा उठाकर घर बैठ रहे थे। इस उद्धरण से 'मधुमालती' तथा 'मृगावती' नामक दो पुस्तकों का उस समय तक कवि-समाज में प्रचार हो जाना निश्चित हो जाता है तथा वे उसके पहले की रचनाएँ थीं, यह भी निश्चयपूर्वक माना जा सकता है।" (वही, पृ० २११)

कहने की जरूरत नहीं कि इसी 'उद्धरण' के कारण दासजी 'मधुमालती' का रचना-काल सं० १६५० के लगभग मानते हैं और 'मंझन' को लड़ाई के मैदान में घसीटकर सं० १६७८ में उनके वृद्ध होने की उद्भावना करते हैं। ध्यान देने की बात है कि जो 'मंझन' सं० १६५० में 'मधुमालती' जैसी लोकप्रिय, परमार्थदर्शक रचना करने में सफल होते

हैं वही बुढ़ापे में उसके ठीक २८ वर्ष बाद किसी 'दाराब खाँ' की प्रशंसा में 'हिमांचल' पहुँचकर बेचारे 'शंभु' की भी खबर ले लेते हैं। जवानी में 'निर्गुण निराकार' की आराधना और बुढ़ापे में 'दाराब खाँ' की उपासना कितनी अजीब है, यह कहने की चीज नहीं है। फिर बनारसीदास के प्रसंग से भी उसका मुसलिम रचना होना ही सिद्ध होता है। 'जैन' बनारसीदास व्यापार में घाटा लगने के बाद जैन ग्रंथों का अध्ययन नहीं करते बल्कि 'मधुमालती' और 'मृगावती' में दिल लगाते हैं, उन पोथियों से प्रेम करते हैं जिनमें इश्क और इसलाम का बोलबाला है। देखिए, एक दूसरे सूफी कवि हजरत उसमान (१०२२ हि०, १६१३ ई०) क्या कहते हैं—

"मिरगावति मुख रूप बसेरा। राजकुवँर भयो प्रेम अहेरा ॥
सिंघल पदुमावति भो रूपा। प्रेम कियो है चतउर भूपा ॥
मधुमालति होइ रूप दिखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा ॥"

'प्रेम' और 'रूप' के इस प्रसंग से प्रत्यक्ष है कि 'मधुमालती' का प्रतिपाद्य विषय क्या है। अवश्य ही 'मधुमालती', 'पदुमावती' और 'मृगावती' के ढंग की एक प्रेम-पीर से भरी सूफी-पोथी है जिसमें तसव्वुफ़ की चर्चा है। प्रमाण के लिये इन अवतरणों पर भी ध्यान दीजिए—

(१) यहै रूप **बुत** अहो छिपाना। यहै रूप सब सृष्टि समाना ॥
(२) नैन बिरह अंजन जिन्ह सारा। बिरह रूप **दरपन** संसारा ॥
(३) भाव अनेक बिरह स्यों उपजहिं कुवँर सरीर।
त्रिभुवन केर जो **दूलह**। तेहि बिधि दइ यह पीर ॥
(४) कमल गुलाल भए रतनारे। फूल सबहि **तन कापर फारे** ॥

कहने का तात्पर्य यह कि 'मधुमालती' में सभी मुसलिम लक्षण मौजूद हैं जो दूर से पुकार पुकारकर कहते हैं कि उसका लेखक मुसलमान है। हिंदू वह हो नहीं सकता।

फिर यह कहा जाता है कि 'मधुमालती' 'पदुमावती' से पुरानी है। कारण, उसमें 'मधुमालती' का उल्लेख है। दास जी का कहना है कि उससे कथा का बोध तो होता है पर उससे यह कहाँ सिद्ध हो

जाता है कि वह काव्यरूप में विराजमान थी। निवेदन है कि हो जाता है। जरा ध्यान से पढ़िए और उनके भावों को समझिए। सुभीते के लिये वर्माजी का 'आख्यानक काव्य' नामक निबंध ले लीजिए। उसमें 'मधुमालती का शिखनख-वर्णन' कुछ दिया है। उसको सामने रखकर जायसी का अध्ययन कीजिए। 'पद्मावती' का 'नखशिख' देखिए। फिर गौर कर बताइए कि किसने किसके भाव को सँवारा है, कौन किसका और कितना ऋणी है।

मंझन 'लिलाट' का वर्णन करते हैं—

"निरकलंक ससि दुइज लिलारा। नव खँड तीन भुवन उजियारा॥
बदन पसेव बूँद चहुँ पासा। कचपचिंयन जनु चाँद गरासा॥
मृगमद तिलक ताहि पर धरा। जानहुँ चाँद राहु बस परा॥
गयो मयंक स्वर्ग जेहि लाजा। सो लिलाट कामिनि पहँ छाजा॥
सहस कला देखी उजियारा। जग ऊपर जगमगत लिलारा॥"

उधर 'जायसी' लिखते हैं कि—

"कहौं लिलार दुइज कै जोती। दुइजहि जोति कहाँ जग ओती॥
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई॥
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
तेहि लिलार पर तिलक बईठा। दुइज-पाट जानहुँ ध्रुव दीठा॥"

पाठक सोचते होंगे कि 'जायसी' ने सब कुछ तो लिया पर 'कचपचियों' की अनूठी उक्ति को क्यों छोड़ दिया। इसे तो अवश्य लेना था। ठीक है। 'जायसी' 'मंझन' की 'सूझ' तथा 'कमी' से परिचित हैं। वह काव्य के मर्म से अभिज्ञ हैं। देखिए न, इन्हीं 'कचपचियों' को किस ढंग से सजाते हैं। 'पद्मावती की रूपचर्चा' है। अब उसका 'लिलाट' एक विवाहिता देवी का 'लिलाट' है। उस पर 'तिलक' के साथ 'चुन्नी' भी रची गई है जो ऐसी सोहती है कि 'दुइज' में मानो 'कचपची'। कहिए, 'जायसी' ने 'मंझन' की सूझ को 'सोहागिन' कर दिया अथवा नहीं। फिर देखिए—

"तिलक सँवारि जो चुन्नी रची। दुइज माँझ जानहुँ कचपची ॥"

एक जगह 'प्रेमा' के 'मनोहर' से रोने के प्रसंग में 'मंझन' ने लिखा है—

"रकत रोय बन घुँघची, रही जो राती होय।
मुँह काला कै बन गई, जग जानै सब कोय ॥"

'जायसी' को उक्ति तो अच्छी मिली पर 'मुँह काला करने' की बात उन्हें न जँची। निदान उन्होंने इसे सँवारकर कुछ और ही बना दिया। देखिए, जायसी इसी उक्ति से कैसा मनोरम काम लेते हैं। उनकी 'नागमती' रो रही है। उसके रोने के दुःख से दुखी होकर घुँघची को काला मुँह कर वन जाने की जरूरत नहीं पड़ती बल्कि—

"कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघची बन बोई ॥
भइ करमुखी नैन तन राती। को सेराव? बिरहा-दुख ताती ॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी। तहँ तहँ होइ घुँघची कै रासी ॥
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ। गुंजा गूँजि करै पिउ पीऊ ॥"

'मंझन' ने 'कहने' का काम लिया था 'टेसू' से, 'जायसी' ने वही काम लिया 'गुंजा' से; 'मंझन' की दृष्टि थी 'दुखसंपत' पर किंतु 'जायसी' का ध्यान है 'पिउ पीऊ' पर। 'मंझन' ने लिखा था—

"टेसू आगि लागि सिर रहा। कलिएँ बदन दुख संपत कहा ॥"

जायसी ने कहने का काम 'गुंजा' को सौंप दिया और 'टेसू' के विषय में लिखा—

"तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥"

और—

"राते बिंब भीँजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥"

पाठक यह न समझ लें कि 'निपात' और 'फाट' पर 'मंझन' का ध्यान नहीं गया था। नहीं, उन्होंने भी कहा था—

"भँवर भुजग दोऊ दव जरे। दुःख करील पात परिहरे ॥"

तथा—

"नारँग रकत चोंटि भइ राती। खाइ खजूर फाट गइ छाती ॥"

रह गई 'माया', 'निर्गुण', 'निराकार' की उलझन। यह आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्लजी ने उसी 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में सूफी कवियों की गणना 'भक्तिकाल' की 'निर्गुण शाखा' के भीतर की है जिसका आपने अपने निबंध में अवतरण दिया है। और जायसी ने तो स्पष्ट ही घोषित कर दिया है कि—

'गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निर्गुन पावा ॥'

तथा—

"अलख अरूप अबरन सो कर्ता। वह सब सों सब ओहि सों बरता ॥"

अस्तु, हमारा नम्र निवेदन है कि श्री ब्रजरत्नदासजी की खोज निराधार और कल्पित है। वस्तुतः 'मंझन' एक मुसलिम सूफी कवि हैं और उनकी रचना 'मधुमालती' जायसी की 'पदमावत' या 'पदुमावती' से पुरानी है। समाधान के लिये इतना ही पर्याप्त है। क्या ही अच्छा हो, यदि दासजी कवित्तवाले 'मंझन' की स्वतंत्र चिंता करें और अपनी खोज से हिंदी का भांडार भरें। सामग्री तो उनके पास है ही।

---

(१५) भूषण की शृंगारी कविता

[ले०—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम्० ए०, एल-एल्० बी०, डी० लिट्०]

भूषण को हम वीर रस के कवि के रूप में जानते हैं। उस कवि-त्रयी (भूषण, सूदन और लाल) में वे प्रधान हैं जिसका काव्य हमें मध्ययुग के शृंगारी माधुर्य की अधिकता-जनित उकताहट से बचाने का काम करता है। उनकी ओजस्विनी कविता में वीर, रौद्र और भयानक रस की बड़ी भव्य व्यंजना हुई है। क्योंकि उन्होंने अपने काव्य के द्वारा एक ऐसे वीर के वीर-कर्मों का वर्णन किया है जिसके जीवन में इन रसों के उद्भावन के लिये वस्तुतः उपयुक्त आधार था। शिवाजी के चरित्र को देखकर उन्हें अपने अधिकांश प्रकाशित काव्य को रचने की प्रेरणा हुई थी। इसी प्रकार बुंदेला वीर छत्रसाल ने भी उनके थोड़े से काव्य के लिये आधार प्रस्तुत किया था। उनके "ताव दै दै मूछन कँगूरन पाँव दै दै अरिमुख घाव दै दै कूदि परे कोट मैं", "कत्ता की कराकनि चकत्ता को कटक काटि", "भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के" इत्यादि उत्कट काव्य के नमूनों के रूप में लोगों की जिह्वा पर अधिकार किए रहते हैं। शृंगार रस का सामान्यतया उनके साथ ध्यान भी नहीं आता।

परंतु एक पुराने हस्तलिखित कविता-संग्रह में, जिसके आदि-अंत के पृष्ठ नष्ट हो गए हैं और इस कारण जिसके नाम, संग्रहकार, निर्माण-काल तथा लिपि-काल का कुछ पता नहीं चलता, भूषण के नाम पर शृंगार रस के २५ पद्य दिए गए हैं जो इस लेख के अंत में दिए जा रहे हैं। उनके शृंगार-संबंधी ११ पद्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि संपादक-पंचक की "भूषण-ग्रंथावली" में भी दिए गए हैं। तीन पद्य दोनों में समान हैं। इस नवप्राप्त संग्रह में प्रायः सब रसों की कविता संगृहीत है किंतु अधिकता शृंगार रस की ही कविता की है। कविताएँ

रसानुक्रम या विषयानुक्रम से नहीं, कवियों के अनुक्रम से दी गई हैं। भूषण की इन शृंगारी कविताओं के साथ साथ, जिनमें से कई में उनके नाम की छाप भी विद्यमान है, भूषण के कुछ प्रसिद्ध कवित्त भी इस संग्रह में दिए गए हैं जिनके प्रतीक ये हैं—(१) इंद्र जिमि जिंमि (? जंभ) पर, (२) गरुड़ को दावा जैसे, (३) मालुवै उजेनि, (४) बलक बुखारें, (५) कत्ता की कराक दै, (६) भुज भुजगेस की। इससे पता चलता है कि 'भूषण' से संग्रहकार का अभिप्राय प्रसिद्ध भूषण से ही है। वह दो भूषण नहीं मानता। इन पद्यों को उसने भूषण का ही मानकर दिया है। इन शृंगारी पद्यों को भूषण-कृत मानने में कोई विशेष आपत्ति भी नहीं उपस्थित होती।

यद्यपि भूषण का वीर काव्य, विरल होने के कारण, अपने समय के शृंगारी काव्य से अलग और ऊपर उठा हुआ सा लगता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपने समय की कवि-प्रथाओं से सर्वथा अपना संबंध-विच्छेद करने में समर्थ हुए थे। उस समय कवि-शिक्षा-साहित्य का निर्माण करना एक प्रथा सी हो गई थी। केशव, चिंतामणि और मतिराम का अनुसरण करते हुए कवि-समुदाय अलंकार, रस, रीति आदि साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों के लक्षण लिखने और उनके उदाहरण प्रस्तुत करने में ही अपने कवि-कर्म का साफल्य समझता था। भूषण भी इसी वर्ग के कवि थे। उन्होंने तत्कालीन कवि-परंपरा की शिक्षा पाई थी और उसी मार्ग का अवलंबन भी किया था। "शिवराजभूषण" की रचना उन्होंने कवियों के पंथ का अध्ययन करके की थी—"समुझि कविन को पंथ"। शिवाजी के चरित्र से प्रभावित होकर भी उनके हृदय में यह इच्छा नहीं हुई कि शिवाजी का चरित्र-ग्रंथ प्रबंध-काव्य के रूप में लिखा जाय। यदि भूषण ने ऐसा चरित-प्रबंध लिखा होता तो आज हिंदी-साहित्य में उनका स्थान कहीं ऊँचा होता। क्योंकि शिवाजी के जीवनेतिहास से उनका पूरा परिचय था और कल्पना की उनमें कमी न थी जिससे उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं को वे जीती-जागती जीवनगाथा में गुंफित

करने में समर्थ हो सकते। शिवाजी चरित-काव्य के लिये प्रकृत नायक हैं। वे स्वभावतया सार्वभौम आकर्षण के केंद्र हैं, जो प्रबंध-काव्य के नायक के लिये एक आवश्यक गुण है। उनके प्रति भूषण की भावना भी केवल हलकी चाटुकारिता अथवा स्वार्थमय कृतज्ञता की नहीं, किंतु उनके लोकानुरंजनकारी गुणों से उद्भूत गंभीर मनोनिवेश की थी। इसी कारण उस समय के सामान्य कवियों की की हुई राजाओं की चाटुकारी उन्हें वाणी का कलंक प्रतीत हुई जिसे उन्होंने शिवाजी की चरित्र-संबंधी-घटनाओं पर काव्य रचकर धोने का प्रयास किया—

भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुण गाय हिरानी।
पुण्यचरित्र सिवा-सरजे-सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

उनके नीचे दिए हुए शिवराजचरित्र के एक पद्य से यदि इस बात का कुछ अनुमान लगाना उचित है कि शिवाजी का जीवनचरित्र उनसे कैसा बन पड़ता तो कहना पड़ता है कि संभवत: उनकी यह संभावित कृति साहित्य को एक अमूल्य भेंट होती—

जा दिन जन्म लीन्हो भू पर भुसिल भूप
ता ही दिन जीत्यो अरि उर के उछाह को।
छठी छत्रपतिन को जीत्यो भाग अनायास
जीत्यो नामकरन में करन प्रवाह को॥
भूषन भनत बाललीला गढ़ कोट जीत्यो
साहि के सिवाजी करि चहूँ चक्क चाह को।
बीजापुर गोलकुंडा जीत्यो लरिकाई ही मैं
ज्वानी आए जीत्यो दिल्लीपति पातसाह को॥

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि कवित्त के पूर्वार्ध में जो कल्पना की गई है वह प्रबंध के लिये उपयुक्त है, पर वह ऐतिहासिक तथ्य के साथ ऐसे क्रम और युक्ति से मिली है कि इस बात की आशा दिलाती है कि कवि सुगठित प्रबंध-कल्पना में भी समर्थ होता।

परंतु तत्कालीन प्रवृत्ति के प्रभाव में आकर उन्होंने ऐसा किया नहीं; प्रत्युत शिवा ऐसे नायक के चरित्र को देखकर भी उनकी इच्छा

हुई कि नाना प्रकार के अलंकारों (भूषणों) से अपने कवित्तों को भूषित करूँ और परिणाम-स्वरूप अलंकार-ग्रंथ "शिवराजभूषण" की रचना हुई:—

सिवचरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति के भूषननि सों भूषित करों कवित्त॥
सुकविन हूँ की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।
भूषन भूषनमय करत 'शिवभूषन' शुभ ग्रंथ॥

शिवराजभूषण शिवाजी की प्रशंसा में लिखा गया है सही, किंतु है वह मूलतः अलंकार-ग्रंथ। उसमें पहले अलंकारों के लक्षण लिखे गए हैं और फिर उनके उदाहरण-स्वरूप शिवाजी की प्रशंसा में पद्य दिए गए हैं।

इस ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि भूषण उतने अच्छे लक्षणकार नहीं थे जितने अच्छे कवि। फिर भी उन्हें लक्षण-ग्रंथ बनाने का ही ध्यान आया। इससे यह स्पष्ट है कि सामयिक प्रवृत्ति का उनके ऊपर कितना अधिक प्रभाव था। अतएव यह भी असंभव नहीं कि जैसे अलंकार-निरूपण के लिये उन्होंने "शिवराजभूषण" की रचना की वैसे ही रस-निरूपण के लिये भी कोई ग्रंथ लिखा हो जिसमें प्रचलित प्रथा के अनुकूल शृंगार-रसांतर्गत नायिका-भेद का विस्तार से वर्णन रहा हो। उपर्युक्त नवप्राप्त पद्य भी नायिका-भेद से संबंध रखते हैं। और 'मुदिता बधू कहावती' ४, 'लघु मान कहावै' ७, 'गुरु मान कह्यो है' ८, 'लच्छिन हूँ मुगधा पहचानी' १३, 'उत्तिम कहावही' २१ के इन अंशों से तो यह स्पष्ट है कि ये किसी ऐसे ग्रंथ के अंश हैं जिसमें नायिका-भेद का वर्णन रहा हो। भूषण के रचे हुए सब ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। शिवसिंहसरोज[1] में इनके भूषण-हजारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास नामक ग्रंथों का उल्लेख है जिनका अब तक कोई पता नहीं चला है। हो सकता है कि भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास किसी बड़े लक्षण-ग्रंथ अथवा लक्षण-संबंधी योजना के अंग थे। इन्होंने बड़ी विस्तृत कविता की रचना की थी, इसका संकेत 'हजारा' नाम से

१—रूपनारायण पांडेय—शिवसिंहसरोज पृष्ठ ४६४।

मिलता है। संभवत: 'हजारा' में इनकी सब प्रकार की सुंदर कविताओं का संग्रह रहा होगा। जान पड़ता है कि इन्होंने नवों रसों में सुंदर काव्य की रचना की थी जिसका कुछ मान भी हुआ था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार कालिदास त्रिवेदी ने अपने संग्रह-ग्रंथ 'हजारा' के आदि में नवरस के सत्तर कवित्त इन्हीं के बनाए हुए लिखे हैं। ये सभी बातें इन पद्यों को भूषण-कृत मानने में सहायक होती हैं।

अनुमान होता है कि भूषण ने कवि-कर्म का आरंभ शृंगारी कविता से ही किया होगा, जो परंपरावश लिखी होने तथा आरंभिक रचनाएँ होने के कारण उतनी अच्छी नहीं बनीं। शृंगार की ही कविता से अपना अभ्यास आरंभ कर वे संभवत: अच्छे कवि हुए। परंतु आगे चलकर शिवाजी के वीर कर्मों से अंत:प्रेरणा पाकर उनकी वाग्धारा दूसरी ओर मुड़ गई। उनके नए काव्य में यद्यपि शैली आलंकारिक ही रही किंतु विषय बदल गया। जहाँ अन्य लक्षणकार अलंकारों के उदाहरणों की रचना अधिकतर शृंगार की ही रचनाओं के रूप में किया करते थे वहाँ भूषण ने शिवाजी की उत्कट वीरता का आधार लेकर वीर, रौद्र और भयानक रस की ओजस्विनी कविता में उदाहरण प्रस्तुत किए। यही भूषण की विशेषता हुई, जिसके आगे उनका पुराना शृंगारी काव्य भुला दिया गया। यह भी संभव है कि यौवन-काल में घोर शृंगारी काव्य रचने का पीछे उनके हृदय में कुछ संकोच उत्पन्न हो गया हो और इसी कारण उन्होंने स्वयं ही वह परिस्थिति ला उपस्थित की हो जिससे पीछे उनके शृंगारी काव्य का पूरा प्रचार न होने पाया हो तथा केवल वे ही पद्य अन्य साधनों से सुरक्षित रह पाए हों जो पहले ही लोगों में प्रचार पा चुके होंगे।

औरंगजेब के दरबार में हाथ धुलाकर कविता सुनानेवाली किंवदंती में यदि कुछ सार है तो वह भी 'संकोच'वाले अनुमान को पुष्ट करती है। आजकल के कवियों को भी ऐसा संकोच हुआ करता है। अपने यौवन-काल की लिखी घोर शृंगारी कविताओं को फाड़ डालने की बात आजकल के एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कवि ने संतोष की साँस

लेते हुए कही थी। परंतु साहित्य-प्रेमियों की आशा और अभिलाषा यही होनी चाहिए कि भूषण की सभी रचनाएँ प्राप्त हो जायँ।

भूषण के नवप्राप्त शृंगारी पद्य यहाँ दिए जाते हैं—

धाय नहाँ घर माहिं सुनौ पुनि सासु रिसाइ है कैसे बुलैबौ।
संग न नेक चलै ननदी रिपु जोवत साँझ समै को अन्हैबौ॥
यद्यप जानति हौं कवि भूषन क्यौं इनमैं बसि कै जसु पैबौ।
तद्यप चंद के पूजन कौं जमुनातट मोहिं जरूर है जैबौ॥ १॥

संगम कौ आगम भयौ है सुष रंग गेहु,
घरी घरी दृगनि भरी सनेह काई है।
जैसे कहूँ मीन जल सूषत मलीन तपै,
प्रेम के वियोग गति बाल की जनाई है॥
जौ है नीकैं सुषद संकेत मनभावते के,
भूषन सुकवि सो तौ ह्वाँ कबहूँ न पाई है।
आयौ है बसंत दल बिरल बिलोकि बन,
मदन की आगि उर में उमगि आई है॥ २॥

दूरि चितै जहँ मित्र कौ आनन कानन पास धरयौ बिबि पानी।
अभी (?) तबै भुजमूल भवै कवि भूषन आँगन में अगरानी॥
अंग मरोरि निरंग भरी त्रिबली उघरी न अली पहचानी।
नेह दिषाय विचच्छण कौं गहि गाढ़ें सषो निज अंक मैं आनी॥ ३॥

मंदिर न नाह औ न निकट ननद आजु,
औसर अनंद नंदनंदन कौं ध्यावती।
ऐहै मनमोहन लगैहै उर आपने सौं,
ह्वैहै हित मैन चित्त चैन[1] यों बढ़ावती॥
है समीप सासु पै न नैन बलबेरन को,
मुदित भई है मुदिता बधू कहावती।
लोचन बिलोल कवि भूषन हियें अलोल,
कामिनि कपोलन में लोम उपजावती॥ ४॥

१—हस्तलेख में 'चैंन'

पठई जितही तितही रजनी सजनी अपने हित ही तू भई।
अनतैं रति कै रति आई इतै छतिया में नष:छत छाप नई॥
बिथुरी अलकैं सुथरी पलकैं कवि भूषन में मन ताप तई।
धुतई बतियाँ पतिआ मन की गति जानि परी पति पै न गई॥ ५॥

तेरौ सुहाग बड़ो कहियै अपने कर पी गहनौ पहरावै।
धन्य तू माई बड़ाई सही सब या विधि साँई सनेह जनावै॥
मेरे ते वल्लभ दै कुच चंदन वंदन बिंदु सोवैं नव नावै।
अंग प्रभा छिपि जैहै कहैं कवि भूषन मोहि न भूषन भावै॥ ६॥

मानिनि के मन में मनमोहन मोहन के मन मानिनि भावै।
मान कियौ अनुमान विलोकनि आन तिया कौं जहाँ पिय ध्यावै॥
कंत सुजान तहाँ कवि भूषन चूमन दै उह कोप छिमावै।
केलि-कला हुलसी ततकाल मिली हँसि सो लघु मान कहावै॥ ७॥

लाल चहै चित चैन बिनैं करि भाल में चंदन चिन्ह लह्यौ है।
चंदन रेष लषी उर माँह लषैं पिय कौं तिय कोपु गह्यौ है॥
सौति की साल बिसाल महा तहाँ देह दवानल दाह दह्यौ है।
मौन कियें अभिमान हियें कवि भूषन सो गुरु मान कह्यौ है॥ ८॥

बैठी गृहद्वार बार बारन बिसारति है,
बरस अनेक एक बासर गिनावती।
आसन सुहात है न बासन तमोल चोवा,
बोलति न बैन नहीं भूषन बनावती॥
प्रेम के जनायें बहुरयौं विसेष पैयै बलि,
बस कर बालम बिरंचि कौं मनावती।
कहै कवि भूषन बिहाल तन कीने बहु,
बाला बिरहानल की ज्वाला सी जनावती॥ ९॥

जान कह्यौ पिय आन पुरी कौ डरी तिय प्रान अचानक सोका।
बान घटा (?) कवि भूषन यौं जिमि भान लषि (?) लछि न कोका॥
नैंनन नेह सलज्ज चितौनि सरोजमुखी तव भूमि बिलोका।
पूछें कछू न कहे बतिया गति ता छिन स्याम पयानहिं रोका॥ १०॥

लालन कैं आगैं रस पागै ललना अचेत,
लोचन चुवन लागे कैसें कै सचाइहै।
प्राननाथ रावरे हौ निश्चय पिया न कियौ,
ह्वैहै जलपान और अन्न पै न पाइहै॥
कहै कवि भूषन सँदेसौ देह राषिबे कौ,
एक है उपाय नेह आपनौ जनाइहै।
दीजै कंठमाल सो बिलोकि रावरे की ठौर,
राज उठि भोर पूजि उर लपटाइहै॥११॥

और के धाम में स्याम बसे सिगरी रतिया तिय जागि बिताई।
आजु सषी लषि लालन सौं हठ सी बतियाँ करि हैं। कठिनाई॥
आयौ हरी कबि भूषन भोर तौ दूषन देन कौं है ढिग ठाई।
राषि उसास कही न कछू असुवा जल सौं अँषियाँ भरि आई॥१२॥

बैठो सकेत किसोरी सषी बन सूनो बिलोकत ही बिलषानी।
पी बिनती मृग-सावक नैनि न बोली कछू न न बोली थिरानी॥
गुंजि उठे अलिपुंज तहाँ कवि भूषन औण परी यह बानी।
सोच भिद्यौ मन मोद ततच्छन लच्छिन हूँ मुगधा पहचानी॥१३॥

कै धौं अली न सँदेस कह्यौ कै उनैं सो सकेत समै बिसरायौ।
मो पति यौं तजियै अनुराग न नागर काहू निसा विरमायौ॥
कारन कौन निबारन कौं कबि भूषन बेगि न बालम आयौ।
नीरज नैनि के नीरज नैननि नीर सुनीर धुनी कौ सौ धायौ॥१४॥

जानौं नही अबही चतुरापन हाव न भाव भयौ जुवती कौ।
नीबी गही रति मानौं नहीं कर सौं गहि टारति है। पर पीकौ[1]॥
यद्यपि मो गुण एक विभूषन तद्यप मो पर यों नित नीकौ।
नाह कौ नेहु सषी सुनि री इमि संग सु मेरो तजैं न घरी कौ॥१५॥

द्यौस निसाँ सषी मो मुष चाहै सराहै सदा सुषमा अँषिया की।
जोबन-जोति तिहारी पियारि हरै दुष ज्यौं तम जोति दिया की॥

१—संभवतः शुद्ध पाठ 'कर पी कौ' होना चाहिए।

जो उनि कौ कहिबौ कबि भूषन बातौ न चाहै बिरानी तिया की।
रीझ कहैं अपने पिय की सपनैं हूँ न सूझ जै और हिया की ॥१६॥

अंकुर भोग सजोग भयौ कबहूँ न वियोग दवानल ज्वाला।
तापर फैलि रहे सर पल्लव फूलि रही उर फूल की माला॥
सींचत नाह सदा कवि भूषन नीरस नेह स्वभाव कौ प्याला।
श्रीफल आँब सुहाग के बाग मैं मानौ महा सुष बेलि है लाला ॥१७॥

बोलन[1] व्यंगि न जानति हैं न बिलोल विलोकनि में चतुराई।
हास विलास प्रकास कि केलि में षेलि बिसेष न आहि ढिठाई॥
भूषन की रचना कवि भूषन जद्यप हैं सिषऊँ चतुराई।
तद्यप नाह कौ नेहु सषी तजि मोहि न और तिया मन भाई ॥१८॥

पायन परत हरि पाए न मन तिहारे
काहे दृग तारेहू ललाई दीजियतु है।
कारन बिनाहूँ तू करेरी अकरन लागी
मन मूढ़ता कहू बढ़ाय लीजियतु है॥
बातैं सरकसी रसहू मैं कवि भूषन तौ
बालम सौ बैरी बरकसी कीजियतु है।
कैसे हू न बोध तेरैं सील को न सोध है री
ऐसे प्यारे प्रीतम सौं क्रोध कीजियतु है ॥ १९ ॥

कंत जागि जामिनि सकाम ठौर ठौर बसि
आए भोर और कामिनि सौं रति मानि कैं।
तहाँ कोप कामिनी जनायौ है चलायौ बान
नैन छोर द्वार तिरछौंहैं ठानि ठानि कैं॥
एते बीच स्याम लै मनैबे के किए लै बैन
तिहि सुढर्यौ है बैन प्रीति पहिचानि कैं।
कहैं कबि भूषन ततछन लगाय अंक
मानद सौं आनद बढ़ायौ सुष सानि कैं ॥ २० ॥

१—हस्तलेख में पाठ—बोलि न।

जद्यपि बिहारी और मंदिर तें आए भोर
उरज की छाप उर और छवि पावही।
तद्यप सुचैन वाहि प्रीतम कौ बैन चाहि
सुधा सौं लपेटे बैन आवत सुभावही॥
लोचन विलोल ज्यौं विरोचन उए हैं कौल
उठी लात बोल अंकमालिका लगावही।
कहैं कवि भूषन भई है कुलभूषन ए
भले गुण भामिनि ते उत्तिम कहावही॥ २१॥

जाति उहै ब्रजचंद समीप जहाँ घन कुंज की कुंज गली है।
चंदमुखी पहरैं सित चोल हँसैं हिय हू मुकता अवली है॥
चंदकला सि पुरी कवि भूषन वाहि चहू रुष चून कली है।
चंद उदै तकि चंदन देति न चंद्रप्रभा सिवराज चली है॥२२॥

इस संग्रह में श्रृंगार रस के ये तीन पद्य और हैं जो पं० विश्वनाथ मिश्र आदि की ग्रंथावली में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं—

मेरु को सोनौं कुबेर की संपति ज्यों न घटे बिधि रात अमा की।
नीरधि नीर कहै कवि भूषन छीरध छीर छमाहैं छमा की॥
प्रीति महेस उमा की महारस रीति निरंतर राम रमा की।
एन चलाए चले भ्रम छोड़ि कठोर क्रिया जो तिया अधमा की[1] ॥१॥

मेचक कवच साजि बाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के।
भूषन भनत समसेर सोई दामिनि है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के॥
पैदरि बलाका धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के।
ना करु निरादर पिया सों मिलु सादर,
ये आए बीर बादर बहादर मदन के[2] ॥

१—विश्वनाथप्रसाद मिश्र—भूषण-ग्रंथावली, पृ० ३०६।

२—वही, पृ० १२५-२६। अन्य प्रकाशित श्रृंगारी कविताओं के लिये देखिए वही, पृ० १२४-१२७।

मेंटि सुरजन तोहि मेटि गुरजन लाज,
पंथ परिजन को न त्रास जिय जानी है।
नेह ही को तात गुन जीवन सकल गात,
भादौं तमपुंजन निकुंजन सकानी है॥
सावन की रैनि कवि भूषन भयावनी मैं,
भावत सुरति तेरी संकहू न मानी है।
आज रावरे की यहाँ बातैं चलिबे की मीत,
मेरे जान कुलिस घटा घहरानी है[१]॥

शृंगार रस की कविता के अतिरिक्त एक शांत रस, एक बीभत्स रस और एक शिवा-प्रताप-वर्णन का, इस प्रकार भूषण के तीन कवित्त इस संग्रह में और दिए गए हैं जो नीचे दिए जाते हैं—

जिते मनि[२] मानिक हैं जोरे जन जानि कहैं,
धरा के धराय फेरि धराई धराइबी।
देह देह देह फेरि पाइहै न ऐसी देह,
जानिए न कौन भाँति कौन जोनि जाइबो॥
एक भूष राषि भूष राषै मति भूषन की,
सोई भूष राषि जानि भूषन बनाइबी।
गगन के गन नग गनन न देहैं नगन,
गन चलेंगे साथ नगन चलाइबी॥ १॥

नगर नगर पर तषत प्रताप धुनि,
गाढ़न गढ़न पर सुनि अवाज की।
षंड नौउ षंड पर डंड सातौं दीप पर,
उदित उदित पर छामनी जिहाज की॥
नृपति नृपति पर धामिनी षुमानी जू की,
थल थल ऊपर बनि हैं कविराज की।

१—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३०६।

२—हस्तलेख में 'मन'।

नग नग ऊपर निसान सोहैं जगमग,
पग पग ऊपर दुहाई सेवराज की ॥ २

संभाजी कौ जीत्यौ साल भैर कौ सबद सुनि
नर कहा सूरन के हिये धरकत हैं।
देवलोक हूँ मैं अजौ मुगलन दिल अजौ
सरिजा के सूरन के पग परकत है ॥
भूषन भनत देषै भूतन के भौनन में
ताके चंद्रावतन के लोथि लरकति हैं।
कोहन लपेटे अधकारे परनेटे एजु
रुधिर लपेटे पटनेटे फरकत हैं[1] ॥

१—यह शिवाबावनी के २४वें और २५वें कवित्तों से कुछ कुछ मिलता है।

(१६) रामचरितमानस

[लेखक—श्री शंभुनारायण चौबे, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

रामचरितमानस में जिस समय गोस्वामी तुलसीदासजी ने "सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥" लिखा होगा उस समय कदाचित् उनको इस बात का अनुमान न रहा होगा कि एक समय आवेगा जब यही बात उनके ग्रंथ के विषय में अक्षरशः लागू होगी। विश्व-साहित्य के थोड़े ही ऐसे ग्रंथ होंगे जिनका साधारण जनता में रामचरितमानस के इतना आदर हुआ हो और जिनके इतने अधिक संस्करण हुए हों।

रामचरितमानस में क्षेपक का समावेश सम्मान का द्योतक है। किंतु क्षेपकों की वृद्धि क्रमशः इतनी हो गई कि किसी किसी हस्तलिखित प्रति[१] का केवल बालकांड इतना बड़ा है जितना महाभारत। क्षेपकों की इस बहुलता से अधिक दुरूह हस्तलिखित प्रतियों का अनुसंधान है। एक तो ये प्रतियाँ इतनी बिखरी हुई हैं कि साधारणतः उन सब का दर्शन तक दुर्लभ है और फिर जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्रामाणिक मानी जाती हैं उनके द्वारा इस प्रकार का व्यापार चल रहा है जो उनकी प्रामाणिकता में शंका उत्पन्न करता है। कुछ पोथी-पूजक तो ऐसे स्वार्थी तथा अनुदार हैं कि वे किसी भी प्रार्थना से पिघलनेवाले नहीं होते। उनसे किसी का लाभ नहीं हो सकता। अतः प्रस्तुत लेख में रामचरितमानस के महत्त्वपूर्ण और उपादेय छपे संस्करणों का उल्लेख किया गया है। सभी छपे संस्करणों का उल्लेख अभीष्ट नहीं है।

रामचरितमानस तथा तत्संबंधी साहित्य का अग्रलिखित वर्गीकरण हो सकता है—

१—एक ऐसी प्रति रामनगर के चौधरी छुन्नीसिंह के मित्र के पास है

(१) प्रामाणिक मूल पाठ।

(२) टीका—संपूर्ण रामचरितमानस की।

(३) टीका—स्फुट कांडों की।

(४) रामचरितमानस के कुछ दोहों और चौपाइयों की विशद व्याख्या।

(५) शंका-समाधान तथा विविध ग्रंथ।

(६) रामचरित-संबंधी अन्य कवियों के स्वतंत्र ग्रंथ।

(१) प्रामाणिक मूलपाठ

मूल छपी हुई प्रतियों में सबसे प्राचीन, जो अब तक देखने में आई है, सं० १८१९ की प्रति है। यह पुराने किस्म के देशी कागज पर लीथो द्वारा काशी के केदार प्रभाकर छापेखाने में छपी थी[१]। इसमें आज-कल की तरह चौपाइयाँ अलग अलग पंक्तियों में नहीं छपी हैं बल्कि लगातार छपती चली गई हैं। इसमें तसवीरें भी बहुत हैं। पाठ अधिकतर शुद्ध है। बालकांड में 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई' की कथा दी गई है। इसी प्रकार लंकाकांड में कई जगह चेपक हैं।

इसके बाद की प्रति टाइपों के प्रारंभिक काल में, हिंदी गद्य के जन्मदाता श्री लल्लूलालजी के संस्कृत यंत्रालय में संवत् १८६७ में,

---

१—सुविधा के लिये प्रतियों का मुखपृष्ठ अविकल दे दिया जाता है—

"श्रीकाशी विश्वनाथपुरी में केदार प्रभाकर छापाखाना में रामायण तुलसीकृत सातों कांड मय तसवीर छापी गई सो मुहल्ला सोनारपुरा में गोपाल चौबे के छापाखाना में छपी। लिखा दुर्गा मिश्र वो छापनेवाले का नाम बेचू काडीगर। पोथी जिसको लेना होय सो चाननी चौक में बिहारी चौबे के दुकान पर मिलैगी। संवत् १८१६, मिती पूस सुदी ११ चंद्रवार।"

साइज १०" × ८½" पृष्ठ-संख्या—बालकांड १८३; अयोध्याकांड १४२; आरण्यकांड ३३; किष्किंधाकांड १६; सुंदरकांड २६; लंकाकांड ७५।

छपी थी[1]। यह प्रति देशी कागज पर छपी और इसमें चौपाइयों को यथाशक्ति अलग अलग पंक्तियों में छापने का प्रयत्न किया गया है। पाठ अधिकतर भ्रष्ट है। शब्दों का शुद्ध संस्कृत रूप दिया गया है।

आगे चलकर कलकत्ते में श्री मुकुंदीलाल जानी के छापेखाने[2] से सं० १८९६ में एक रामायण का संस्करण टाइपों में देशी कागज पर छपा था। इसमें दोहा और छंद को छोड़कर चौपाइयाँ एक साथ ही छपती चली गई हैं। इसी टाइप में महाराज उदितनारायण सिंह का महाभारत छपा था। इसका मूल पाठ लल्लूलाल की प्रति से अधिक शुद्ध है, क्योंकि इसके एक पृष्ठ की भूमिका में लिखा है—

"......सो यह पोथी बहुत तल्लास करने से भरतपुर के राज्य में कायस्थ-कमल-कुल-प्रकाशक लाला सूरजमल माथुर कायस्थ ने अपने पाठ करने के निमित्त राजापुर परगने में जाय कों श्री गोस्वामीजी के वंशज......कों अनेक रुपैये के साध्या और शरीर की सेवा कर कों श्री गोस्वामीजी के हाथ की लिखो पोथी सों प्रति अक्षर शोध कों पुस्तक अपना तैयार किया ...."।

१—शाके नेत्राग्निशैलद्विजपतिमिलिते मासि मार्गे दशम्यां
पारावारस्तुनागक्षितिभिरुपयुते वैक्रमेऽब्दे सितायाम्।
बस्तीरामं प्रवीणं प्रबलमतियुतं दर्शयित्वाङ्कयत् श्री-
बाबूरामो विपश्चिन्निखिलगुणमिदं पुस्तकं साधुप्रीत्यै ॥
श्रीमत्सदलमिश्रेण ज्ञात्वा वाचस्सुवर्णाम्।
शुद्धीकृतमिदं सर्वं यथोचितमतन्द्रिणा ॥

२—मुखपृष्ठ—"श्री सीतारामाभ्यान्नमः श्री तुलसीदास गोस्वामीकृत सप्तकांड रामायण ग्रंथः पंचानन तला में श्री मुकुंदीलाल जानि के छापेखाने में छापा गया। कलकत्ते बड़े बजार में रामदयाल भगत के कटड़े में श्री तिलकराम नाथराम भगत ने छपवाया संवत् १८९६ मिती श्रावण कृष्ण ५ बुधवार सन् १२४६ साल श्रावण"

पृष्ठ संख्या—बालकांड १४७; अयोध्याकांड ११२; आरण्यकांड ३१; किष्किधाकांड १३; सुंदरकांड २३; लंकाकांड ७७; उत्तरकांड ६०।

इसमें भी क्षेपक हैं जो जान बूझकर रखे गए हैं। भूमिका में लिखा है—"......अधिक पाठ प्रसंग को रहने दिया इस निमित्त कि... कथा निकाल देने से हमको लोग दोषी करते।"

इस पुस्तक में संख्या पर अधिक जोर है। प्रत्येक चौपाई (चार चरणों) के बाद कांड के आरंभ से संख्या मिलाई गई है जो इस प्रकार है:—

कांड	श्लोक	चौपाई	दोहा	छंद
बाल	७	१६१२	४२२	१२६
अयोध्या	३	१२९३	३२७	२६
आरण्य	२	३१०	८७	४७
किष्किंधा	२	१५० $\frac{1}{2}$	३४	६
सुंदर	३	२६३ $\frac{1}{2}$	६३	१२
लंका	३	८००	२१४	१०३
उत्तर	३	५९७	२२३	

दूसरी प्रति बनारस के दिवाकर छापेखाने से सं० १९१२ में[1] देशी कागज पर मोटे लीथो अक्षरों में छपी थी। इसका पाठ अधिकतर भ्रष्ट है, पर चित्र अच्छे हैं।

१—मुखपृष्ठ—"शहर बनारस दिवाकर छापाखाना में तुलसीकृत रामायण मै तसवीर समेत सातो कांड शिवचरन के इहाँ छपा साकिन महल्ला भदैनी काली महाल के पास छपी बकल पाडोजी महाराष्ट्र ब्राह्मण छापनेवाले रामफल मुसौवर गुदरदास जिसको लेना हो सो चाननी चौक में गोपाल चौबे के दुकान में मिलैगी।"

संवत् १६१२ मिती कार्तिक बदी ५ वार मंगल।

साइज ११″ × ६″। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १७३; अयोध्याकांड १३६; आरण्यकांड ४३; किष्किंधाकांड १८; सुंदरकांड ३१; लंकाकांड ७७; उत्तरकांड ७२।

इसके बाद तीन लीथो की प्रतियाँ मटमैले कागज पर तीन स्थानों से प्रकाशित हुई। तीनों का पाठ करीब करीब मिलता जुलता है और तीनों के अंत में यह श्लोक मिलता है—

"यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मयः
संजातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिम्पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥"

जान पड़ता है कि तीनों का आधार एक ही छपी या लिखित प्रति थी। इन तीनों में चित्र भी बहुत से दिए गए हैं, पर सभी में, क्षेपक तथा भ्रष्ट पाठ की कमी नहीं है।

इनमें पहली संवत् १९२३ तदनुसार २८ अप्रैल सन् १८६६ की छपी है। इसका मुख पृष्ठ तो न मिल सका पर आकार-प्रकार से मालूम होता है कि नवलकिशोर प्रेस लखनऊ की छपी है। पुस्तक के अंत में आरती और उपरिलिखित श्लोक के बाद "लि० नागर ब्राह्मण मुरलीधर" मिलता है।

दूसरी सं० १९३० तदनुसार तारीख ४ मई सन् १८७४ में बंबई के सखाराम भिकशेठ खातू के छापेखाने में छपी थी। इसके अंत में श्लोक आदि के बाद कुछ कवित्त[1] भी मिलते हैं।

१—"राम को गुलाम नाम देस सिंह वयस बंस,
छत्रि जाति वसोवास अंत्रबेदि जानिए।
ग्राम नाम नगवा है पंचकोस कानपुर,
तीन कोस जाजमऊ सिद्धिनाथ मानिए॥
नव कोस ब्रह्मावर्त बसे बालमीक जहाँ,
राम सुत सिया जुत लोक सब खानिए।
सव कोस वृंदावन साठि कोस प्रागराज,
असी कोस औधपुर राम सुख दानिए॥
बंबा माई मारकीट के मधि में महजित जान।
सखाराम अरु भीख शेठि की तेहि के पास दुकान॥"

पृष्ठ-संख्या—बालकांड १८१; अयोध्याकांड १४१; आरण्यकांड ३९; किष्किंधाकांड २९; सुंदरकांड २९; लंकाकांड १०१; उत्तरकांड ७२।

तीसरी प्रति 'मतबै मुंशी रामसरूप वाके कंप फतेहगढ़ महल्ला तलैयालेन' में सं० १९३१ भाद्र शुक्ल ५ तदनुसार सन् १८७३ में छपी थी[१]।

लीथो की छपी पुस्तकों के पढ़ने में असुविधा होती थी और साधारण पढ़े लिखे लोग यदि रामायण बाँचना चाहते थे तो शब्दों के अलग न होने के कारण उन्हें रामायण का पढ़ना दुरूह मालूम पड़ता था। उधर आई० सी० एस० कोर्स में गवर्नमेंट ने हिंदी वर्नाक्यूलर की परीक्षा में मानस का कुछ अंश रख दिया। इन सबकी सुविधा के लिये बनारस संस्कृत कालेज के पंडित रामजसन मिश्र ने "बाँचने की सुगमता के लिये पदों को अलग अलग करके भाषा की चाल पर कई पुस्तकों से शोधकर तुलसीदासकृत रामायण" की प्रति तैयार की जो पहली बार संवत् १९२५ तदनुसार सन् १८६८ में लाजरस साहेब के मेडिकल हाल प्रेस काशी में छपी और दूसरी बार चंद्रप्रभा छापाखाना बनारस में संवत् १९४० तदनुसार सन् १८८३ में छपी थी। इसके अंत में कठिन शब्दों के अर्थ तथा इतिहास आदि भी दिए गए हैं। इसका पाठ यथेष्ट शुद्ध है पर शब्दों का शुद्ध संस्कृत रूप मिलता है[२]। दो स्थलों (रावण-जन्म बालकांड में और कुछ आरण्यकांड में) के अतिरिक्त क्षेपक भी नहीं है। यह टाइप में समयानुसार सुंदर छपी थी और तब के जमाने में इसका मूल्य ४) रखा गया था।

१—इदं पुस्तकं लिखितं भोलानाथ संवत् १९३१ भाद्र शुक्ल ५।

पृष्ठ संख्या—बालकांड १८८; अयोध्याकांड १६४; आरण्यकांड ४२; किष्किंधाकांड १७; सुंदरकांड ३०; लंकाकांड १४७; उत्तरकांड ७६।

२—"सबसे भारी साहस मिश्रजी का यह है कि इन्होंने ग्रंथकार की भाषा ही बदल दिया अर्थात् उस समय की प्रचलित भाषा के शब्दों के स्थान पर संस्कृत व्याकरण की रीति से शोधकर संस्कृत शब्द रख दिया है।...इसी प्रकार इन्होंने पदमावत को भी शोधा है।"

(ग्रियर्सन साहब की प्रति के उपक्रम से उद्धृत पृ० २)

रामचरितमानस का यथेष्ट भाग काशी में रचा गया था और इसका प्रचार तथा पठन-पाठन यों तो सभी जगह है, पर अयोध्या और काशी में विशेष रूप से है। रामायण के यही दोनों मुख्य केंद्र हैं। इनमें "को बड़ छोट कहत अपराधू" है, पर इतना तो अवश्य है कि संवत् १९२५ से लेकर सं० १९५० तक रामचरितमानस के प्रचार का एक स्वर्ण-युग था जिसमें सिद्धपीठ काशी उसकी जगमगाती हुई राजधानी थी। तत्कालीन काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंहजी प्रधान संरक्षक थे और उनके नवरत्नों में एक से एक बढ़कर रामचरितमानस के प्रेमी तथा जानकार लोग थे। जनता भी अपने श्रेष्ठ पुरुषों के अनुरूप आचरण करती थी। छोटे से लेकर बड़े तक सभी मानस के प्रेमी थे। लोग कथा सुनने में प्रेम रखते थे। कोसों चलकर लोग कथा सुनने जाते थे। जीवन भर के परिश्रम को सफल करने के लिये लोग कथा कहते तथा जीवन सफल करने के लिये लोग सुनते थे। पाँच पाँच सौ रुपये देकर[1] रामायण की कथा की टिप्पणी ली जाती थी। एक एक गिनी चढ़ाकर 'श्रीरामायणजी' भक्तों के घरों में पधराए (खरीदे नहीं) जाते थे। सैकड़ों रुपये देकर रामायण लिखवाया जाता था। और जिस प्रकार बौद्धकालीन सुंदर सुंदर मूर्तियों के मूर्तिकार केवल मजदूरी के लिये नहीं वरन् स्वयं बौद्ध होकर और बुद्ध बनकर टाँकी चलाते थे, उसी प्रकार रामायण के लेखक भी तुलसीदासजी की आत्मा में रमकर अपनी कलम उठाते थे। अक्षरों का आदि से अंत तक समान तथा एक रूप से निर्वाह होता था। देखने से मालूम होता है कि लेखक को कलम के खत के न बिगड़ने का कोई वरदान था। और बीच बीच की लिखी हुई तस्वीरें! उनका तो कहना ही क्या। किसी प्रति में तो ऐसी रंगसाजी की गई है कि देखकर आश्चर्य

१—चोरघाट, काशी के परमहंसजी ने ५००) देकर पं० रामगुलाम द्विवेदी की कथा की टिप्पणी, जो एक कायस्थ ने कइथी अक्षरों में लिखी थी, मोल ली थी।

होता है। यह आश्चर्य्य अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जब संयोग-वश रामनगर में काशिराज की प्रति देखने का अवसर प्राप्त होता है जो उस जमाने में १,६०,०००) व्यय करके तैयार कराई गई थी। ऐसा था वह स्वर्ण-युग।

इस युग में मूल रामचरितमानस के शुद्ध पाठ के अनुसंधान तथा निर्णय पर बहुत जोर दिया गया था। पाठ शुद्ध करनेवालों में काशी—महल्ला छोटी पियरी—के बाबू भागवतदास जी छत्री का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने बहुत बड़ा काम किया है और आज भी लोग इनकी प्रति का प्रमाण मानते हैं। जिस समय बाबू भागवतदास जी प्राचीन पोथियों का मिलान कर पाठ-शुद्धि का काम कर रहे थे उसी समय काशी में एक बाबा रघुनाथदास जी रहते थे। उनके पास एक हस्तलिखित प्रति थी। पता नहीं वह किसकी और किस काल की लिखी हुई थी पर यह बाबा रघुनाथदास जी की प्रति कहलाती थी। संभव है, उसका लेखक कोई दूसरा रहा हो और बाबाजी ने उसे शोधकर अपने पाठ की पोथी बनाई हो।

इस पोथी का पाठ लेकर सर्वप्रथम संवत् १९२६ में बाबू दुर्गाप्रसाद कटारे के गणेश यंत्रालय में एक साँचो पत्रों में[१] और एक पुस्तक के आकार[२] में मानस की प्रति निकली थी। दोनों देसी कागज पर लीथो में

१—मुखपृष्ठ—"श्री काशीजी में महल्ला घुघुराना सामा की गली श्रीयुत बाबू हरषचंदजी के बाड़े में दुर्गाप्रसाद कटारे के गणेश यंत्रालय में श्री तुलसीकृत रामायन श्री बाबा रघुनाथदास की संवत् (सम्मति) से साँची में अति परिश्रम ते सोधि के छापा गया। लिखा देवीप्रसाद तिवारी और सीताराम मिश्र छापनेवाला गोपाल जिसको लेना होय उसे कुंजगली के पश्चिम फाटक पर दुर्गाप्रसाद के दुकान में मिलैगा।"

संवत् १९२६ मि० पौष शुक्ल ५ शुक्रवार।

२—दे० ऊपर की टिप्पणी नं० १। यह प्रति सचित्र है।

संवत् १९२६ मि० चैत्र कृष्ण १२ चंद्रवार।

साइज ११½"×६"। साइज ९"×६"। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १४५; अयोध्याकांड ११२; आरण्यकांड २६, किष्किंधाकांड १५; सुन्दरकांड २५; लंकाकांड ६०; उत्तरकांड ५२।

सुंदर बड़े बड़े अक्षरों में छपी थीं। भेद इतना था कि साँची वाली प्रति में चित्र नहीं थे और पुस्तकाकार प्रति में बहुत से सुंदर चित्र थे। इस पुस्तकाकार प्रति का द्वितीय संस्करण संवत् १९३३ मिती पौष शुक्ल १२ में हुआ था[1]।

इसके बाद संवत् १९३६ में यह बाबा रघुनाथदासवाली प्रति फिर साँची पत्रा में शिवचरन के दिवाकर छापेखाने महल्ला भदैनी, काशी में छपी[2]। शिवचरन ने एक पुस्तकाकार प्रति[3] अपने दिवाकर छापेखाने से संवत् १९४० में छपवाई थी। और, उसी संवत् में, गणेश यंत्रालय वाली साँची प्रति की द्वितीय आवृत्ति[4] भी हुई थी।

१—कालिका गली काशी के पं० रत्नचंद्रजी मिश्र से पता लगा है कि यह द्वितीय संस्करण मान मंदिर के पंडित तुलारामजी आचार्य ने धर्मार्थ वितरण के लिये छपवाया था।

२—मुखपृष्ठ—"श्री काशी विश्वनाथ पुरी में दिवाकर छापेखाने में तुलसीकृत रामायण श्री रघुनाथदास बाबाजी की संवत् से साँची में अति परिश्रम तें सोध के छापा गया शिवचरन के यहाँ साकिन महल्ला भदैनी कालीमहल के पास। बा० महीप नरायन पांडे, छापनेवाले बदलजी जिसको लेना होय सो चाननी चौक में कुंजगली के पास शिवचरन के दुकान पर मिलैगा। सोधनेवाले बटुक जी पंडित।"

संवत् १९३६ मि० भाद्रपद शुक्ल १५

पृष्ठ-संख्या—बालकांड ११४; अयोध्याकांड ९२; आरण्यकांड २०; किष्किंधा कांड ११; सुंदरकांड १८; लंकाकांड ४५; उत्तरकांड ४६।

३—प्राय: टिप्पणी नं० २ के सदृश। सं० १९४० मि० जेष्ठ शुक्ल ६ गुरुवार।

साइज १०″ × ६½″। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १८६, अयोध्याकांड १४४, आरण्यकांड ३५, किष्किंधाकांड १९, सुंदरकांड ३२, लंकाकांड ७६, उत्तरकांड ७७।

४—देखो पृष्ठ २८४ की पहली टिप्पणी। इसमें लिखनेवाला तो सीताराम मिश्र है और छापनेवाला घुरविन।

संवत् १९४० मि० चैत्र कृष्ण ३ चंद्रवार।

ये छः प्रतियाँ—तीन पुस्तकाकार और तीन साँची पत्रा में—बाबा रघुनाथदास की प्रति से मिलाकर छपी थीं। इनका पाठ बहुत अच्छा है और अक्षर भी मोती से चुन चुनकर पं० देवीप्रसाद तिवारी और पं० महीपनारायण पांडे के लिखे हैं। ये सब मजबूत देसी कागज पर लीथो में छपी थीं। इनमें क्षेपक नहीं है।

अब तक बाबू भागवतदास जी ने अपना पाठ मिला लिया था और उनकी प्रति[1] सर्वप्रथम संवत् १९४२ में बाबू विश्वेश्वरप्रसाद के सरस्वती यंत्रालय में देसी कागज पर लीथो में छपी थी। यहीं सं० १९४३ में भागवतदास जी ने अन्य ग्यारह ग्रंथ भी छपवाए थे। यह प्रति गोला वाली प्रति के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी शुद्धता के विषय में कुछ कहना ही नहीं। बस, यह मालूम हो जाने पर कि यह बाबू भागवतदास की प्रति है, रामचरितमानस के जानकार लोग लहालोट हो जाते हैं। बाबू भागवतदास जी को भी पाठ की शुद्धता पर इतना जबरदस्त दावा था कि उन्होंने मुख-पृष्ठ पर लिखा है—"जिसको कहीं पाठ में भ्रम होय सो बिना जाने बिगारै नहीं... ।"

१—मुख-पृष्ठ—"श्री काशीजी में महल्ला दीनानाथ के गोला के दक्षिण फाटक के पास जालपा देवी के सामने गनेस महेस साहु के बाड़े में सरस्वती यंत्रालय में बाबू बिसेसरप्रसाद के यहाँ श्री रामकृपा तें गोस्वामी तुलसीदास कृत मानस रामायण को श्री पंडित रामगुलाम मिरजापुर निवासी ने १७१४ के संवत् की लिखी पुस्तक से लिखा उस पर से लाला छकनलाल मिरजापुरवासी ने लिखा और श्री काशीजी में छोटी पियरी पर भागवतदास छत्री के पास १७२१ के संवत् की लिखी पुस्तक औ दो पोथी १७६२ के संवत् की लिखी मिली। इन सबों से सोधकर यह पुस्तक छापी गई। जिसको कहीं पाठ में भ्रम होय सो बिना जाने बिगारै नहीं। जिसको लेना होय चाननी चौक में कुंज गली के पश्चिम फाटक के पास बाबू बिसेसरप्रसाद के दुकान पर मिलैगी। संवत् १९४२ मि० कार्तिक वदी ३० ।"

साइज १०″ × ६½″। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १७०; अयोध्याकांड १३४; आरण्यकांड ५३; किष्किंधाकांड १९; सुंदरकांड ३२; लंकाकांड ७६; उत्तरकांड ७६।

इसका पाठ बहुत ही प्रामाणिक और सुंदर है। सभी लोग इस बात को मानते हैं। इसमें कई जगह चित्र भी दिए गए हैं और पुस्तक के अंत में शुद्धि-पत्र तथा 'रामायन जी की आरती' दी हुई है।

इस प्रति का पाठ लेकर कितने ही लेखकों ने हाथ से पूरा मानस लिखा था,[1] और इसी का पाठ लेकर विक्टोरिया प्रेस बनारस से एक सं० १९४४ में पुस्तकाकार, और दूसरा संवत् १९४५ में गुटका[2] आकार में, मानस के दो बहुत ही शुद्ध संस्करण निकले थे।

आगे चलकर सं० १९५१ में सोनारपुरा के पं० रामप्रसाद तिवारी ने केदार प्रभाकर छापेखाने में कुछ मटमैले बादामी कागज पर सं० १९४२ की प्रति का द्वितीय संस्करण छपवाया। कागज खराब होने से यह प्रति बहुत जल्दी जीर्ण-शीर्ण हो गई। बहुत कम लोगों के पास यह सं० १९५१ की प्रति[3] ठीक दशा में है।

१—अकेले बाबू देवीप्रसाद खत्री, पथरगलिया, काशी, ने ४ प्रति रामायण जी की लिखी हैं, जिनमें तीन को लेखक ने भी देखा है।

२—मुखपृष्ठ—रामायण श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कृत जिसको अत्यंत परिश्रम के साथ प्राचीन पुस्तकों से मिलाकर ठाकुर विष्णुदत्त गुजराती सहस्रौदीच्य ब्राह्मण ने भली भाँति शुद्ध करके मुंबई अक्षरों में विक्टोरिया प्रेस में छापा। संवत् १९४५ सावन कृ० १०।

साइज ११½″ × ६½″। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १६२; अयोध्याकांड १५६; आरण्यकांड ३५; किष्किंधाकांड १६; सुंदरकांड ३३; लंकाकांड ८०; उत्तरकांड ८५।

३—मुखपृष्ठ—"रामचरितमानस श्री रामकृपा तें गोस्वामी तुलसीदासकृत मानसरामायण को श्री पंडित रामगुलाम मिरजापुर-निवासी ने १७१४ संवत् की लिखी पुस्तक से लिखा उस पर से लाला छक्कनलाल मिरजापुर वासी ने लिखा और श्री काशीजी में छोटी पियरी पर भागवतदास छत्री के पास १७२१ के संवत् को लिखी पुस्तक औ दो पोथी १७६२ के संवत् को लिखी मिली। इन सबों को सोधकर महल्ला दीनानाथ के गोला में बाबू विश्वेश्वर-प्रसाद के यहाँ छपा रहा सो कहीं कहीं पाठ में भ्रम हो गया था सो उसको

भागवतदास जी की प्रति अब तो अप्राप्य है। इस प्रति की मोटी पहचान नीचे दी जाती है—

(१) और कांडों की तरह अयोध्या कांड में "इति" नहीं है।

(२) आरण्य कांड में ६ठे दोहे के बादवाले दोहे का अंक ७ न होकर फिर एक से शुरू होता है।

(३) लंका कांड में "लव निमेष परिमान युग..." वाला दोहा श्लोक के पहले दिया गया है। ऐसा क्रम भागवतदास के पहले अन्य किसी प्रति में नहीं मिलता[1]।

भागवतदास जी का रामचरितमानस छपने के बाद जितने लोगों ने शुद्ध पाठवाली प्रति निकालने का प्रयत्न किया उन्होंने पाठ में तथा आकारप्रकार में इसी संस्करण की नकल की है। काशी से ऐसी ५ प्रतियाँ 'लीथो' में छपी थीं जो सर्वथा शुद्ध और देखने में बिलकुल भागवतदास जी की प्रति ऐसी मालूम पड़ती हैं।

१—एक सं० १९४६ में[2] बाबू कालूराम के संस्कृत मुद्रायंत्र में छपी।

फिर से भागवतदास छत्री ने सोधकर दुरुस्त किया सो श्री काशी जी महल्ला सोनारपुरा में रामप्रसाद तिवारी के केदार प्रभाकर छापेखाने में शुद्धतापूर्वक छापा गया। जिसको लेना होय सो चाननी चैाक में रामप्रसाद तेवारी के दुकान पर मिलैगा अथवा मुन्नीलाल बुकसेलर के पास मिलैगा।"

मि० पूस सुदी ८ संवत् १९५१

पृष्ठ-संख्या—उतनी ही जितनी कि सं० १९४२ वाली प्रति में है।

१—लेखक ने सिर्फ दो प्रतियों में एक सं० १७६२ और एक १८१७ संवत् की हस्तलिखित प्रति में यह क्रम देखा है।

२—मुखपृष्ठ—"अथ रामायण—श्रीमत्स्वामी तुलसीदास कृत हरिजन वो हरिभक्त सर्वश लोगों पर विदित हो कि यह मानस रामायण तुलसीदासकृत कई जगह कई मरतबे छपि चुकी परंतु जथार्थ शुद्धता न हुई सो यह रामायण सप्त कांड श्री बाबा रघुनाथदास वो बाबा रामचरणदास, वो परम भक्त भागवतदास

२—दूसरी प्रति सं० १९४८ में बाबू मुन्नीलालजी के प्रयत्न से गौरीशंकर यंत्रालय, महल्ला बाग हाड़ा काशी में छपी[1]।

३—तीसरी सं० १९४९ मि० ज्येष्ठ सुदी ९ को छपी। यह १९४६ वाली प्रति का द्वितीय संस्करण है।

वो श्रीमन्महाराजाधिराज काशिराज बहादुर की प्राचीन लिखी हुई प्रतियाँ से वो कई जगह को छपी हुई पुस्तकें अर्थात् बंबई वो आगरा काशी आदि की छपी हुई पुस्तकें से बहुत प्रेम के साथ हरिभक्तों के कल्याण हेतु शुद्ध कर छापि गई। काशी संस्कृत मुद्रायंत्र में बाबू कालूराम के छापाखाना में छापा। श्रावण शुक्ल ५ रविवार सं० १९४६।

साइज १०"×६½"। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १७०; अयोध्याकांड १३५; आरण्यकांड ३५; किष्किंधाकांड १९; सुंदरकांड ३२; लंकाकांड ७२; उत्तरकांड ७७।

१—मुखपृष्ठ—अथ रामायण तुलसीकृत प्रारंभ—श्रीगणेशाय नमः।

श्रीरामाभ्यां नमः। इस भारतखंड में मनुष्य शरीर लेने के फल केवल एक सीतारामजी की प्राप्ति है, तिसका साधन इस महाघोर कलिकाल में कोई नहीं है इस वास्ते बड़भागी लोगन को जनाई जाती है कि अपने आत्मा और अपने कुल के पवित्र करने की इच्छा होय तो श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण के अवलोकन करो। इसी में आप लोगों के लोक वो परलोक का सुख प्राप्त होगा सो इस समय में तुलसीकृत रामायण का पाठ बहुत तरह का संसार में फैल गया है परंतु श्री पंडित बंदन पाठकजी के पुस्तक का पाठ शुद्ध शुद्ध अभी तक कोई छापेखाने में नहीं छपा है। जैसा पाठकजी रामायण के पाठ महाराज रामवल्लभशरणजी के पढ़ाया था और अपना पाठ लिखा दिया था सो अबहीं श्री काशीजी में रामकुंड पर प्रगट है सोई पाठ श्री बाबा जानकीवल्लभसरनजी की आज्ञानुसार मुन्नीलाल ने बहुत शुद्धता से छपाया है जिसके अक्षर के संख्या भी गिनी गई है ३१९६८० अक्षर भया है तिसके श्लोक ९९९० गिनती में हैं तत्र प्रमाण 'नव हजार नव से नवे तुलसीकृत विस्तार। अष्टादश षट चारि को सब ग्रंथन को सार॥' अगर जो किसी को प्रतीति न हो कि पाठकजी की पुस्तक का पाठ यह छपा है तो पाठकजी के हस्त-कमल के लिखी पुस्तक श्री अजोध्याजी में कनकभवन में प्रगट है जिसको मिलान करना होय

४—चौथी प्रति सं० १६४६ में पं० कन्हैयालाल मिश्र के सुधा-निवास यंत्रालय, बुलानाला काशी में छपी[1]। इसका नाम "रामायण पदार्थ टीका सहित" है। टीका नाम मात्र की है। छोटेलालजी व्यास ने इसमें पं० वंदन पाठक जी का तथा कुछ अपना टिप्पन दिया था। इस प्रति में तथा सं० १६४८ की प्रति में, दोनों में वंदन पाठक जी का पाठ स्वीकार किया गया है।

५—पाँचवीं प्रति साँची पत्रा में सत्यनारायण यंत्रालय, मान-मंदिर बनारस में, लोथो में, छपी थी।

इन पाँचों प्रतियों का पाठ बहुत दिव्य और शुद्ध है। इन सब में भागवतदास की प्रति की छाया पाई जाती है।

ये सब काशी जी के उस स्वर्ण-युग के कीर्ति-स्तंभ हैं जो काल के प्रभाव से अब प्रायः लुप्त से हो रहे हैं। दूसरी जगहों में रामा-

---

सो कर लेवैं श्री काशी विश्वनाथपुरी महल्ला कचौरी गल्ली में मुन्नीलाल के दुकान पर मिलैगा। गौरीशंकर यंत्रालय में छापा गया महल्ला बाग हाडा त्रिसेसर कारीगर ने छापा विसेश्वर लेखक ने लिखा श्री संवत १६४८ मि० माघ शुक्ल २ रविवार।

साइज १०″ × ६½″। पृष्ठ-संख्या—बालकांड १७०; अयोध्याकांड १३४; आरण्यकांड ३४; किष्किंधाकांड १८; सुंदरकांड ३०; लंकाकांड ७२; उत्तरकांड ७२।

१—मुखपृष्ठ—अथ रामायण पदार्थ टीका सहित।

रिद्ध श्री गणेश जी सिद्ध

यह पुस्तक श्री रामायण पदार्थटीका श्री मानसी वंदन पाठकजी की हस्त-कमल की लिखी प्रतियों से सोधकर गद्दी पर वर्तमान श्रीयुत छोटेलाल जी की आज्ञानुसार औ श्री बाबा जानकीवल्लभशरन औ भागवतदास औ बाबा रघुनाथदास औ बाबा वल्लभशरण जी की सम्मति से अति शुद्धता से छापा गया। काशी विश्वनाथ सुधानिवास यंत्रालय छापाखाना रामकुमार मिश्र के पुत्र कन्हैयालाल मिश्र के यहाँ मुद्रित भया। बाबू विशेशरदयाल छापनेवाला कोडीगर गनेश। संवत १६४६ फाल्गुन सु० १५ गुरुवार।

पृष्ठ-संख्या—बालकांड १६४; अयोध्याकांड १५०; आरण्यकांड ४०; किष्किंधाकांड २२; सुंदरकांड ३०; लंकाकांड ७८; उत्तरकांड ८४।

यण के प्रकाशन का जो कार्य्य हुआ उनमें खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर का "मानस-रामायण" अद्वितीय है। उस पुस्तक को देखकर श्रीमान् ग्रियर्सन साहब के प्रेम और परिश्रम की जितनी प्रशंसा की जाय, तथा अपने को जितना लज्जित किया जाय, थोड़ा है। बड़े बड़े सुंदर अक्षरों में छपी ऐसी प्रशस्त प्रति देख कर तबियत प्रसन्न हो जाती है। यह[1] संवत् १९४६ तदनुसार सन् १८८९ में छपी थी। बरसों परिश्रम करके, रामचरितमानस की जितनी भी छपी[2] या लिखी प्रतियाँ मिल सकीं उन सबों को मँगाकर देखने और आपस में मिलान करने के बाद, इसे ग्रियर्सन साहब ने छपवाया था। अंगद के प्रण---

तेहि समाज कियो कठिन पन जेहि तौलयो कैलास।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं, सेवक को बिस्वास॥

की तरह समझ में नहीं आता कि गोस्वामी जी के मानस की प्रशंसा की जाय या ग्रियर्सन साहब के मन की। मैं तो ग्रियर्सन साहब को ही बधाई दूँगा जिन्होंने हम लोगों को जवाहिर में काँच न मिलाने का उपदेश दिया है। "इस रामचरितमानस में ग्रंथकार के लेखानुसार मक्षिका-स्थाने मक्षिका रखी गई है। कल्पना से काम नहीं लिया गया है।" वास्तव में भूमिका के ये शब्द इसकी अच्छाई के प्रमाणपत्र हैं।

१—मुखपृष्ठ—श्रीयुत गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस जिसको परम परिश्रम से श्री तुलसीदास जी की हस्तलिपि से मिला तथा शोध करके मान्यवर सर स्टुअर्ट काल्विन वेली साहेब बहादुर के० सी० आई० ई० लेफ्टिनेंट गवर्नर बंगाल की आज्ञा से रामदीन सिंह ने प्रकाशित किया।

पटना खड्गविलास प्रेस, सन् १८८९ (=सं० १९४६)।

साइज १३½"×१०½"। पृष्ठसंख्या—बालकांड १५५, अयोध्याकांड १२८; आरण्यकांड ३६; किष्किंधाकांड १६; सुंदरकांड २७; लंकाकांड ६४; उत्तरकांड ६६।

२—सन् १८८९ तक बाबू रामदीन सिंह का कहना है कि ......रामायण की १२६ प्रति अनेक सुजनों द्वारा मुद्रित हुई थीं।

संवत् १९५२ में कोदोंरामजी की रामायण वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई में छपी। इसका पाठ भी सर्वथा शुद्ध और प्रामाणिक माना जाता है। कोदोरामजी ने ग्रंथकार के समय से जो परंपरागत शिष्य हुए उनका इस प्रकार वर्णन मानसमयंक से उद्धृत किया है—

ब्रह्म किशोरीदत्त को ग्रंथकार ही दीन्ह।
अल्पदत्त पढ़ि ताहि सों चित्रकूट में लीन्ह॥
रामप्रसादहिं सो दई लहि तातें **शिवलाल**।
दत्त फणीशहि जानि निज सो दीन्ही सुखमाल॥

इसी परिपाटी के अनुकूल रामचरितमानस की ४ प्रतियाँ लिखी गईं। प्रथम श्रीमद्गोस्वामी जू के कर-कमल की लिखी प्रति से श्री किशोरीदत्तजी ने पढ़ा। अल्पदत्तजी ने दूसरी प्रति अपने शिष्य रामप्रसादजी को दी। शिवलाल पाठक ने तीसरी प्रति कराई। पं० शेषदत्तजी ने सं० १९०१ में चौथी प्रति जीवलाल नामक लेखक से लिखाई। इसी चौथी प्रति का पाठ लेकर केशरिया ग्राम जिला चम्पारन निवासी कोदोंरामजी ने अपनी पोथी छपवाई थी।

कोदोंरामजी की प्रति बड़े बड़े अक्षरों में नवाह्निक पाठ-विधि तथा अनेक प्रयोगों समेत छपी थी। इसके अयोध्याकांड का नाम "अवध कांड", आरण्य कांड का नाम "वन कांड", सुंदर कांड का नाम "सुमेर कांड" तथा लंका कांड का नाम "युद्ध कांड" रखा गया था। कोदोंरामजी को "मानसमयंक" के रचयिता के ये वाक्य प्रिय थे और उन्होंने अपनी पुस्तक में क्षेपक नहीं मिलाया है,—

लली पूर्व संकल्प को रस मुनि बोचे जान।
अधिक मिलाए हैं अधम करिहैं नरक पयान॥
अनल काम अहि क्रोध है लोभहि विच्छू जान।
पाठ फेर जे करतु हैं ते शठ नरक समान॥

इतना होने पर भी अयोध्या कांड में "चार चौपाई के बाद दोहा" वाले नियम-पालन में कोदोरामजी ने अयोध्या कांड के दोहा-नंबर ७,६३,१७२,१८४,२७८ के बाद दो दो अर्धाली बढ़ाकर

सात सात पंक्तियों को आठ आठ किया है। इसी तरह दोहा-नंबर २८ और २०१ के बाद दो दो अर्धालियाँ घटा कर नव नव पंक्तियों को आठ आठ किया है।

यह सब होते हुए भी पोथी अच्छी और प्रामाणिक है। इनका गुटका भी छपा था जिसकी नकल इलाहाबाद और काशी ने की।

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पाँच सभासदों ने सं० १९६० (सन् १९०३ ई०) में "रामचरितमानस" का बड़ा सुंदर संस्करण छपवाया था। यह इंडियन प्रेस, प्रयाग में छपा था। सुंदर बड़े बड़े अक्षर, बड़ा आकार, बीच बीच में प्राय: अस्सी चित्र[1] देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। वास्तव में रामायण छपै तो ऐसी। कोशिश तो शुद्ध पाठ देने की की गई थी पर जैसा कुछ चाहिए, हो न सका। फिर भी पुस्तक की सुंदरता को देखकर यह पाठ-दोष छिप सा जाता है।

आगे चलकर इसी पाठ को लेकर इंडियन प्रेस, प्रयाग ने, साधारण अक्षरों में एक छोटा "रामचरितमानस" छापा था।

संवत् १९८० में गोस्वामीजी की त्रिशत-जयंती के अवसर पर काशीनागरीप्रचारिणी सभा से "तुलसी ग्रंथावली" प्रकाशित हुई थी। इसके प्रथम भाग में "रामचरितमानस" है। पुस्तक के अंत में कथाभाग है जिसमें रामायण में आए हुए पौराणिक पुरुषों की कथा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रति अवसर के अनुरूप नहीं हुई।

अयोध्या के महंत लोगों की दो सुंदर प्रतियाँ छपीं। एक तो बाबा माधवदास की प्रति का पाठ लेकर देशोपकारक प्रेस लखनऊ से सन् १९१२ में छपी थी। दूसरी बाबा सरयूदासजी ने बनारस में बैजनाथप्रसाद बुकसेलर, राजा दरवाजा के यहाँ सं० १९८२ में छपवाई थी। बाबा सरयूदासजी की प्रति छोटे अक्षरों में, गुटका रूप में भी, छपी थी। इन दोनों का पाठ अच्छा है।

१—ये चित्र काशिराज की प्रति के कुछ चित्रों के फोटो थे

"रामचरितमानस" का स्वर्गीय श्री रामदासजी गौड़ वाला संस्करण हिंदी पुस्तक-एजेंसी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसका पाठ प्राय: अच्छा है और सस्ते संस्करणों में यह सबसे अच्छी पुस्तक है। गौड़जी रामायण के अनन्य प्रेमी थे, उन्होंने काफी समय देकर रामचरितमानस का अध्ययन किया था। उनके पास एक प्रति थी जिसे वे भागवतदास वाली प्रति कहते थे और उसी का पाठ उन्होंने अपनी पुस्तक में रखा है।

श्री बजरंगबली विशारद ने एक रामचरितमानस सं० १९९३ में अपने सीताराम प्रेस से निकाला है। यह सर्वथा शुद्ध तो नहीं है, फिर भी अच्छा है। इसमें बालकांड का पाठ श्रावण कुंज की प्रति, अयोध्याकांड का पाठ राजापूर की प्रति एवं शेष पाँच कांडों का पाठ सद्गुरु-सदन गोलाघाट की प्रति के अनुसार दिया गया है। इसका टाइप गौड़जी की प्रति से मोटा है।

पंडित विजयानंदजी त्रिपाठी का "रामचरितमानस", जो सं० १९९३ में लीडर प्रेस प्रयाग से निकला है, उत्तम है। त्रिपाठीजी ने अपने जीवन भर का परिश्रम, यह प्रति निकालकर, सफल कर दिया। इस प्रति की विशेषता यह है कि यह सुंदर आकार-प्रकार में अच्छे कागज पर, काफी मोटे अक्षरों में, प्राय: शुद्ध छपी है। इसमें पाठ-भेद खूब दिए गए हैं और उन पाठ-भेदों की संकेत-प्रति का नाम भी दे दिया गया है। अन्य संस्करणों[1] में भी पाठ-भेद का संकेत दिया गया है पर इतना विशद नहीं। चाहे कुछ त्रुटि भले ही हो पर ऐसे खोज के काम के लिये त्रिपाठीजी धन्यवाद के पात्र हैं। भागवतदासजी के संस्करण की नाईं आपने भी रामायण युग में एक साका कर दिया है।

१—इंडियन प्रेस, प्रयाग से सन् १९०३ में प्रकाशित रामचरितमानस तथा गौड़ जी का संस्करण।

(२) संपूर्ण रामचरितमानस की टीका

रामचरितमानस की प्रतिष्ठित टीकाओं का जिक्र बाबा औसानदास ने अपने गुरु श्रीमहाराज स्वर्गीय बाबा हरीदासजी-कृत 'शीलावृत्ति टीका' के द्वितीय संस्करण में इस प्रकार किया है—

"महाराज स्वामी श्रीरामचरण औध माहिँ,
कीन्हे रामायण को तिलक सो अनूप है।
दूसर श्रीरामबकस तीसर पंजाबी कही,
चौथे हरिहरप्रसाद कीन्हेउ सो खूब है ॥"

ये चारों टीकाएँ देखने में आती हैं पर कोदोरामजी के रामचरितमानस की भूमिका में जिन तीन सांप्रदायिक टीकाओं का उल्लेख है वे नहीं दिखलाई पड़तीं। वे क्रमशः नीचे लिखी हैं—

(१) श्रीकिशोरीदत्तजी कृत "मानस-सुबोधिनी"।
(२) अल्पदत्तजी योगींद्र कृत "मानस-कल्लोलिनी"।
(३) श्रीरामप्रसादजी कृत 'मानस-रस-बिहारिणी"।

रामचरणदास कृत टीका एक बृहत्, शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त, विद्वत्ता-पूर्ण टीका है। इसकी भाषा पुरानी हिंदी है। बालकांड तथा उत्तरकांड विशद रूप से लिखे गए हैं। अन्य कांडों में उतनी बातें नहीं कही गई हैं। कहीं-कहीं पर, जहाँ साधारण वार्ता है, टीकाकार ने कुछ भी नहीं लिखा है। यह टीका अयोध्या के सांप्रदायिक मत के अनुकूल है; साधारण जनता के काम की चीज नहीं है। सन् १९२४ ई० तक इसकी तीन आवृत्तियाँ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हो चुकी थीं। पहले सन् १८८२ ई० में यह साची पत्रे में निकली थी। इसका मूल पाठ ठीक नहीं है और क्षेपक भी यथास्थान खूब है। शब्दों का शुद्ध संस्कृत रूप मिलता है।

पंडित रामबकस पांडे की "भावप्रकाशिका टीका", मुंशी सदासुखलाल के अहतमाम से निर्मित होकर, प्रयाग के बुद्धिसागर छापेखाने (नूरलबसार प्रेस) से तीन बार निकली थी। पहली बार सन् १८६६

ई० में, दूसरी बार सन् १८७५ ई० में, तीसरी बार सन् १८८५ ई० में। इसका निर्माण-काल पुस्तक के अंत में इस प्रकार दिया गया है,—

"उनइस सौ पचीस संवत माघ एकादशी।
पूर किये प्रभु ईश रामायण टीका सहित॥"

पांडेजी के भाव बड़े अनूठे हैं। टीका तो कहीं कहीं पर है, पर जहाँ है वहाँ खूब है। इसमें समस्त चौपाइयों का अर्थ नहीं दिया गया है। साधारण पढ़े लिखे लोग भी इससे आनंद उठा सकते हैं। पर खेद है कि ऐसी अनूठी पुस्तकें लुप्त हुई चली जा रही हैं और उनका नवीन संस्करण तक नहीं होता। टीकाएँ निकलती हैं तो आज फलाने की, कल ढेमाके की; जिन्होंने ठीक ठीक जाना भी नहीं कि रामायण क्या वस्तु है।

संतसिंहजी पंजाबी का "मानस भाव प्रकाश" एक अच्छा ग्रंथ है। यह खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से सन् १९०१ में छपा था। इसमें संपूर्ण चौपाइयों की टीका दी गई है। लोगों का कहना है, और ठीक है, कि तुलसीदासजी के शब्दों को जितना पंजाबीजी ने पकड़ा उतना और किसी टीकाकार ने नहीं।

"रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश" रामचरितमानस-संबंधी साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर में सन् १८९८ ई० में छपा था। इसमें तीन टीकाकारों के तीन भिन्न भिन्न अर्थ दिए गए हैं,—

"मानसपरिचर्य्या" (मा० प०) श्री १०८ देवतीर्थ स्वामी (काष्ठजिह्व स्वामी)* का।

* काष्ठजिह्व स्वामी—काशिराज श्रीमन्महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के समकालीन एक पहुँचे हुए महात्मा थे। ये संस्कृत के बड़े विद्वान् थे और रामचरितमानस के अच्छे ज्ञाता थे। ये काशिराज के नवरत्नों में एक थे। एक बार एक पंडित देश-देशांतर में शास्त्रार्थ करता हुआ काशीजी आया। उसका प्रण था कि यदि मैं शास्त्रार्थ में हार जाऊँगा तो प्राण विसर्जन कर दूँगा। संयोगवश देवतीर्थ

"मानसपरिचर्य्यापरिशिष्ट" (मा० प० प०) श्रीमन्महाराज द्विजराज काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर कृत।

"मानस-परिचर्य्या-परिशिष्ट-प्रकाश" (मा० प० प० प्र०) परमहंस मान-हंसावतंस श्रीजानकीरमण-चरण-सरोरुह-राजहंस श्री-सीतारामीय हरिहरप्रसादजी कृत।

यह ग्रंथ विशेषकर श्री सीतारामीय हरिहरप्रसादजी (जो कि काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के फुफेरे भाई थे) की प्रेरणा से तैयार हुआ था। उनके जीवन-काल में केवल दो कांड* (बालकांड और अयोध्याकांड) प्रकाशित हो सके थे। अंत समय में जब श्री हरिहरप्रसादजी पछताने लगे कि रामायण जी की टीका भी पूरी न हो सकी तो काशिराज ने आश्वासन दिया कि 'मैं आपकी पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण ग्रंथ की टीका करवाऊँगा' और उन्होंने वैसा ही किया।

बा० बैजनाथप्रसाद जी कुर्मी, मौजा डेहवा मानपुर, नवाबगंज जिला बाराबंकी के रहनेवाले थे। ये परम भक्त और गोस्वामीजी के

स्वामी से उसकी भेट हो गई और शास्त्रार्थ में हारकर उसने प्राण दे दिया। इस बात से स्वामीजी के हृदय में बड़ी चोट लगी। उन्होंने विचार किया कि यह जिह्वा ही का दोष है। इसी की वजह से ब्रह्महत्या हुई। तभी से वे अपने मुँह में काठ की जिह्वा की खोली रखे रहते थे। इसी कारण उनका नाम काष्ठ-जिह्व स्वामी पड़ा। इन्होंने कई एक ग्रंथ लिखे थे जिनमें भक्ति रस लबालब छलकता हुआ मिलता है। कबीरदास की वाणी की तरह इनके पद भी हृदय में चुभकर घर कर जाते हैं। पर काल की करालता से इनके ग्रंथ लुप्त हो रहे हैं।

* ये दो कांड सटीक पहले सन् १८३५ ई० में बाबू अविनाशीलाल वो पं० गोपीनाथ पाठक के प्रबंध से "आर्य्य यंत्रालय", काशी में छपे फिर उक्त सज्जनों के प्रबंध से, "लाइट छापेखाने" में, जो दशाश्वमेध घाट पर था।

सं० १९२३ में बालकांड, सं० १९२५ में अयोध्याकांड, सं० १९३७ में आरण्यकांड, सं० १९४० में किष्किंधाकांड छपा था।

ग्रंथों के विचित्र मधुकर थे; आपने प्रायः सभी ग्रंथों की टीका लिखी है। रामायण की टीका एक बृहत् ग्रंथ है। इसमें रामायण का अर्थ खूब स्पष्ट करके समझाया गया है। भाव भी अच्छे अच्छे दिए गए हैं। पहले पहल यह टीका (वैजनाथीय टीका) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८६० में प्रकाशित हुई थी।

बाबा हरीदास जी कृत शीलावृत्ति टीका लखनऊ में छपी थी। इसमें सब जगह अर्थ नहीं दिया है। कहीं कहीं पर भाव अच्छे हैं।

विनायकी टीका के लेखक श्री विनायकराव (उपनाम कवि नायक) जी थे। इनकी टीका पहले पहल जबलपूर, यूनियन प्रेस से सन् १६१५ में छपी थी। इसमें दोहे-चौपाइयों का साधारण अर्थ दिया गया है; और जगह जगह, तुलसीदास जी के भाव से मिलते हुए अन्य कवियों के पद्य दिए गए हैं। प्रत्येक कांड के अंत में पुरौनी, काव्यलक्षण, गणविचार, पिंगल-विचार, भावभेद, रसभेद, कथाभाग, तथा सुंदर सुंदर चौपाइयाँ दी गई हैं।

मैनपुर-निवासी मुंशी सुखदेवलाल कृत "मानसहंसभूषण" संवत् १६२४ में लिखा गया था और सिवाय प्राचीनता के इसमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। न तो पाठ ठीक और पूरा है* और न अर्थ ही साफ और संपूर्ण है। यह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में छपा था और सन् १८८६ तक इसका चतुर्थ संस्करण हो गया था। इसकी नवीनता यह है कि सम्पूर्ण रामायण में दोहों के बीच में ८ पंक्तियों का क्रम निबाहा गया है।

श्रीयुत शीतलासहायजी सावंत बी० ए०, एल्-एल० बी० का "मानसपीयूष" रामायण पर एक बृहत् भाष्य है जिसमें प्रत्येक चौपाई और दोहे का जो कुछ भी अर्थ जिस किसी टीकाकार ने किया

* "(मुंशी जी) चतुर्थांश के लगभग मूल चौपाइयों को निकाल दिया है जहाँ जी में आया, नवीन चौपाइयाँ जोड़ दिया है।"—रामदीनसिंह का उपक्रम, जो ग्रियर्सन साहबवाले संस्करण में दिया गया है।

है वह संकलित किया गया है। मानस के भावों की यह एक सुंदर और विस्तृत सूची है। शीतलासहायजी का प्रयत्न यह रहा है कि रामायण के बारे में यह कहा जा सके कि "यन्नेहास्ति न तत्कचित्"। एक कायस्थ कुल में जन्म लेकर, उर्दू लिपि को छोड़ हिंदी का विशेष अभ्यास न होने पर भी, संत-महात्माओं के पास जाकर उर्दू में राम-चरितमानस के भाव को लिखना और सब प्रकार की रुकावट होते हुए संपूर्ण रामायण पर एक स्मारक ग्रंथ तैयार कर देना जनकसुताशरण ही का काम था। इन्होंने पाठ गौड़जी के संस्करण का रखा है और दोहे के अंक भी उसी के अनुकूल हैं।

अन्य भाषाओं में रामचरितमानस की जो टीकाएँ हुई हैं उनमें ग्राउस साहेब का अनुवाद एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। सन् १८९१ तक इसका पंचम संस्करण छप चुका था। इसकी प्रामाणिकता का अंदाज इसी से किया जा सकता है कि लोग मूल पाठ का निर्णय तथा क्षेपक-विचार यह देखकर करते हैं कि अमुक अंश ग्राउस साहेब के अनुवाद में आया है या नहीं।

उर्दू-भाषांतर तथा अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपा है। गुजराती भाषांतर तथा अनुवाद शास्त्री छोटेलाल चंद्रशंकरजी ने सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद से छपवाया था। सं० १९९० तक इसका पंचम संस्करण प्रकाशित हो चुका था।

मराठी टीका जबलपुर के मुंसिफ श्रीयुत यादवशंकर जामदार ने सन् १९१३ में की थी जो चित्रशाला प्रेस, पूना में छपी थी।

(३) टीका—स्फुट कांडों की

रामचरितमानस की प्राप्त सामग्री देखने से पता लगता है कि कुछ लोगों ने अपने अपने ढंग पर संपूर्ण रामचरितमानस की टीका निकालने का संकल्प किया था। पर जान पड़ता है कि संकल्प की दृढ़ता न होने के कारण या किसी अन्य कारण से वे भग्नप्रयास हुए। ऐसे लोगों में बाबू बुलाकीदास कृत "रामचरितमानस की भावप्रवाह टीका" तथा पं० सुधाकर द्विवेदी कृत "मानसपत्रिका" उल्लेखनीय है।

बाबू बुलाकीदास ने संवत् १९६२ में बालकांड से प्रारम्भ कर प्राय: ६३ दोहे तक का अर्थ तथा तत्कालीन व्यास लोगों के (मुख्यत: पं० रामकुमारजी मिश्र के) भाव का समावेश करके पुस्तक छपवाना शुरू किया था। यह तारा यंत्रालय काशी से प्रकाशित होती थी।

पंडित सुधाकरजी द्विवेदी की "मानस-पत्रिका" चंद्रप्रभा प्रेस से, चौड़े चिकने कागज पर मोटे अक्षरों में, संवत् १९६४ से छपती थी। इसके सहकारी कार्यकर्ता पं० सूर्यप्रसाद मिश्र थे। यह भी बालकांड से प्रारंभ हुई थी और प्रत्येक दोहे-चौपाई का वाक्यार्थ, अन्वय तथा टीका देने के बाद द्विवेदीजी का संस्कृत श्लोक में उलथा भी छपता था। कहा जाता है कि जितने ग्राहक इसके भारत में नहीं थे उससे अधिक विलायत में थे। कुछ ही अंश प्रकाशित होने के बाद ये दोनों बंद हो गईं।

हाल में (सं० १९९१ में) लखनऊ के बाबू दुलारेलाल भार्गव से गोस्वामीजी की छीछालेदर देखी न गई। इन्होंने बहुत कुछ पश्चात्ताप करके अपने गंगा फाइन आर्ट प्रेस से एक "धर्म-ग्रंथावली" जारी की जिसमें "तुलसीकृत रामायण सचित्र" २० खंडों में (प्रत्येक खंड में ८० पृष्ठ मूल्य १।) कुल रामायण सिर्फ २५) में देने का वादा किया था। "सुधा" के आकार में शायद पुस्तक के दो खंड छपे भी थे। पर जान पड़ता है, जिस उद्देश को लेकर भार्गवजी चले थे वह पूरा होना दुष्कर समझ काम रोक दिया गया।

स्फुट कांडों की टीका का भी यही हाल समझिए। टीकाकारों ने संकल्प तो संपूर्ण रामचरितमानस की टीका करने का किया होगा और सुविधानुसार किसी एक कांड को चुन लिया पर आगे चलकर अड़चन पड़ने के कारण पूरी टीका प्रकाशित न हो सकी।

बालकांड पर मुंशी गुरुसहाय लाल की "संत-मन-उन्मनी टीका" एक विलक्षण वस्तु है। "मानसतत्त्वविवरण" के नाम से यह प्रसिद्ध है पर जितना सुंदर नाम है वैसा तत्त्व नहीं। इसके देखने से मुंशीजी का प्रकांड पांडित्य प्रदर्शित होता है पर तत्त्व से भेंट नहीं

होती। एक एक शब्द के लिये न जाने कहाँ कहाँ के प्रमाण देकर पन्ने के पन्ने रँगे पड़े हैं जिनको देखते देखते जी ऊब जाता है। अच्छा हुआ मुंशीजो ने सब चौपाइयों का अर्थ नहीं लिखा, अन्यथा पुस्तक दूनी तो अवश्य हो जाती। यह पुस्तक खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर में सन् १८८९ में छपो थी।

बाल और अयोध्याकांड पर बाबा हरिहरप्रसादजी की टीका (मानसपरिचर्य्यापरिशिष्टप्रकाश) मुंशी अविनाशो लाल तथा पंडित गोपीनाथ पाठक के प्रयत्न से लाइट छापाखाना, बनारस (दशाश्वमेध घाट) में संवत् १९२३ और सं० १९२५ में छपी थी। यह भावी रामायण-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश का सूत्र रूप था।

पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र ने अयोध्याकांड पर एक टीका "भावार्था-दर्श" (विशेषकर इंट्रेंस कोर्सवालों के काम की चीज़) सन् १९०९ ई० में चंद्रप्रभा छापेखाने से निकाला था। इसमें साधारण अर्थ बड़े विस्तार से दिया गया है। प्रत्येक शब्द का अर्थ, फिर अन्वय, फिर अर्थ।

आरण्य कांड, किष्किंधाकांड तथा सुंदरकांड की बड़ी सुंदर टीका श्री १०८ बाबा रामप्रसादशरणजी "दीन" ने लिखी है जो क्रमशः "धर्म प्रेस, मेरठ", "हिंदी प्रेस, प्रयाग" (सं० १९७७) तथा "भारतभूषण प्रेस, लखनऊ" (सं० १९७५) से प्रकाशित हुई है। इन्होंने रामायण को ख़ूब समझा और समझाया है। अर्थ हृदय में बैठ जाता है पर खेद है कि बाबाजी ने अन्य कांडों पर कलम नहीं उठाई।

किष्किंधाकांड पर खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८८६ में बाबू शिवरामसिंह ने "मानस-तत्त्व-प्रबोधिनी" नामक एक बड़ी विस्तृत टीका छपवाई थी। इसमें रामायण का अर्थ गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों से समझाने का प्रयत्न किया गया है पर चीज अच्छी नहीं है। जी ऊब जाता है। तिस पर पुरानी हिंदी है। शायद ही किसी ने प्रेमपूर्वक पूरी टीका पढ़ी हो।

किष्किंधाकांड पर पं० रामकुमारजी मिश्र[१] का "मानस-तत्व-भास्कर" एक अनुपम प्रकाश है। यह श्रीरमेश्वर यंत्रालय, दरभंगा में सं० १९६४ में छपा था। केवल इसी टीका को पढ़कर संपूर्ण रामचरितमानस का ज्ञान हो सकता है, कारण कि पंडितजी ने इस छोटे से कांड को लेकर रामायण के पढ़ने का तरीका बतलाया है। एक क्रम सामने रखा है जिसके अनुसार चलने से रामायण का अर्थ रामायण से करने की आदत पड़ती है। पंडितजी अपने समय के बड़े भारी रामायण के वक्ता* थे। इन्होंने अपनी संपूर्ण कथन-कला इस कांड में भर दी है।

सुंदरकांड की दो बहुत अच्छी टीकाएँ निकल चुकी हैं। एक तो पंडित छोटेलालजी व्यास का "मानसभाष्य" जो संवत् १९७३ में गौरीशंकर के चंद्रप्रभा प्रेस, काशी में छपा था। व्यासजी पंडित बंदन पाठक के शिष्यों में थे और अधिकांश उन्हीं का भाव लेकर यह ग्रंथ लिखा गया है।

दूसरी टीका सं० १९७५ में एक्सप्रेस प्रेस, बाँकीपुर से चौधरी कृष्णप्रसाद सिंह के प्रबंध से छपी थी। यह ४३२ पृष्ठों की एक बृहत् टीका है जिसमें किष्किंधाकांड के टीकाकार पं० रामकुमारजी मिश्र का "मानसतत्त्वभास्कर" तथा पं० जनार्दन व्यास और रामसेवकदास की "मानसतत्त्वसुधार्णवीया व्याख्या" सम्मिलित है। यह पुस्तक बड़ी उत्तम है।

१—पंडितजी काशी के, रामायण के बड़े अनन्य भक्त तथा निःस्पृह वक्ता थे। नित्य, क्या दिन-रात "तच्चिंतनम्, तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनं" ही में समय व्यतीत होता था। इनकी कथा में बड़ी भीड़ होती थी और आरती में काफी रकम उतरती थी। मगर जो कुछ कथा पर चढ़ता उसको परोपकार में लगा देते थे या भंडारा कर देते थे। इनका कहना था कि कथा के चढ़ौआ का धन लड़की का धन है, कारण कि रामकथा "संत समाज पयोधि रमा सी" है। इसका भक्षण करना पाप है। धन्य है ऐसे महात्मा।

केवल लंकाकांड, या केवल उत्तरकांड पर शायद किसी ने टीका नहीं लिखी है।

(४) रामचरितमानस के कुछ दोहों, चौपाइयों की विशद व्याख्या

रामचरितमानस के फुटकर दोहों और चौपाइयों की व्याख्या में अच्छे-अच्छे ग्रंथ तैयार हुए हैं। इनमें सर्वोपरि बाबा रघुनाथदास कृत "मानस-दीपिका" है। रामचरितमानस पर यह एक miscellaneous omnibus literature है। यह भी महाराज श्री ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहजी के जीवन-काल का ग्रंथ है। इसमें प्रत्येक कांड के कुछ चुने हुए स्थलों को लेकर रामचरितमानस की खूबी दिखलाई गई है—पुराण और शास्त्र के ढंग से रामचरितमानस के शब्दों की व्याख्या की गई है। अंत में काव्य के लक्षण तथा अनेक प्रकार के काव्य-बंध सचित्र दिए गए हैं जिनमें रामायण का प्रमाण दिया गया है; रामायण के कठिन शब्दों का अर्थ भी दिया गया है। यह पुस्तक अपने समय में बड़ी प्रसिद्ध हो चली थी और कई छापेखानों में छपी थी। सबसे पुराना संस्करण संवत् १९०९ तदनुसार सन् १८५२ में काशी के नई टकसालघर के रेकार्ड समाचार-पत्र के छापेखाने में छपी प्रति का है। इसके बाद सं० १९२१ में दिवाकर छापेखाने, काशी में छपी थी। इनके अलावा एक प्रति देसी कागज पर लिथो में छपी थी। मानसदीपिका का एक संक्षिप्त संस्करण नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से निकला था।

पं० शिवलाल पाठक का "मानस-मयंक" अपने ढंग की अपूर्व पुस्तक है। पाठकजी ने सब कांडों के चुने हुए दोहा-चौपाइयों का भावार्थ दोहों में लिखा है और इसकी व्याख्या उनके शिष्य बा० इंद्रदेव नारायण ने की है। यह पुस्तक खड्गविलास प्रेस, बाँकीपूर से सन् १९२० में छपी थी।

पाठकजी का उसी ढंग का रचा हुआ एक ग्रंथ "मानस-अभिप्राय-दीपक" है। यह श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई में सं० १९५७ में छपा था।

इसमें केवल बालकांड और अयोध्याकांड के चुने हुए स्थलों की व्याख्या है।

पंडित शेषधरजी ने उत्तरकांड के "ज्ञानदीपक" का प्रकाश बड़े सुंदर ढंग से दिखलाया है। यह पुस्तिका खड्गविलास प्रेस से छपी थी।

पं० विजयानंदजी त्रिपाठी की "शतपंच-चौपाई" गीता प्रेस, गोरखपुर से सं० १९९३ में छपी है। इसको त्रिपाठीजी ने ५ प्रकरणों में विभक्त किया है। (१) रामरहस्य, (२) ज्ञानदीपक, (३) भक्ति-चिंतामणि, (४) सप्त प्रश्न, (५) परिशिष्ट। इन पाँचों प्रकरणों में उत्तरकांड के दो० नं० ११४—"भक्तिपच्छ हठ करि रहेउँ दीन्ह महारिषि साप"—से लेकर रामायण के अंत "दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुवर हरैं" तक की अपने ढंग की अनोखी व्याख्या की गई है।

(५) शंका-समाधान तथा विविध ग्रंथ

शंकास-माधान तो प्रायः सभी टीकाकारों ने अपने अपने ढंग से किया है पर बाबा सरूपदास तथा पं० बंदन पाठकजी की "मानस-शंकावली" में सातों कांडों की मुख्य शंकाओं का बड़ा सुंदर समाधान किया गया है। बाबा सरूपदास की शंकावली विक्टोरिया यंत्रालय काशी में छपी थी और पाठकजी की शंकावली केशव यंत्रालय काशी में सं० १९६७ में छपी थी।

पंडित गणपति उपाध्याय ने विहार प्रिंटिंग व पब्लिशिंग सिंडीकेट प्रेस से सं० १९७२ में "मानस-शंका-समाधान" छपवाया था। पर यह उतना अच्छा नहीं है।

"मानस कोष" नामक ग्रंथ बा० अमीरसिंह ने बाबू कार्तिक-प्रसादजी की सहायता से हरिप्रकाश यंत्रालय, काशी में सन् १८९० में छपवाया था। फिर सन् १९०९ में इंडियन प्रेस, प्रयाग से एक "मानस कोष" छपा था जिसमें रामचरितमानस के कठिन शब्दों का

अर्थ दिया गया है। यों तो रामचरितमानस के शब्दों का अर्थ पं० रामजसन मिश्र के छपवाए हुए रामायण में तथा बाबा रघुनाथदास कृत "मानस-दीपिका" में दिया गया है पर इस पुस्तक में विस्तार से शब्दार्थ दिए गए हैं।

"नानापुराणनिगमागम"-वाले श्लोक ने रामचरितमानस के पठन-पाठन में एक खासा झगड़ा पैदा कर दिया है। कितने व्यास लोग तो केवल वही अर्थ करते और मानते हैं जो "पुराण-निगमागम-सम्मत" है। इन्हीं नाना पुराणों को खोजने का परिणाम रायबरेली जिले के ठाकुर रणबहादुर सिंह की छपवाई हुई "रामायण" है जिसमें प्राय: सभी चौपाई-दोहों का मूल कोई संस्कृत श्लोक किसी न किसी ग्रंथ से निकाला गया है। नाना पुराणों के पीछे इस कदर हाथ धोकर पड़ना अच्छा नहीं। कारण कि ऐसा करने से न केवल गोस्वामीजी का अपमान होता है बल्कि अपने में एक कुरुचि पैदा हो जाती है जिससे रामचरितमानस का सुखद अवगाहन नहीं होता। जब गोस्वामीजी की सुभग कविता-सरिता प्रवाहित हुई तब इसकी अपेक्षा न थी कि वह अमुक पुराण-सम्मत मार्ग का अनुगमन करे। वह तो अपनी ही प्रेरणा से निकली और अपने ही रास्ते चली।

मुंशी गुरुसहाय लाल (संतमन-उन्मनी-टीकाकार) के चिट-पुरजों को देखकर "मानस-अभिराम" नामक एक छोटा सा ग्रंथ तैयार किया गया है जिसमें नवाह-विधि, संपुट-विधि तथा मंत्र-रूप से माने जानेवाले ६१ अनुभव-सिद्ध दोहा-चौपाई आदि का भिन्न भिन्न फलभेद दिखलाया गया है। यह पुस्तिका आदर्श प्रेस काशी से सं० १९६१ में छपी थी।

रामचरितमानस पर कितने ग्रंथ तो प्रयाग के माघ मेले के बाजार के लिये प्रयागवालों ने छपवाए हैं, उनमें कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) "रामायण-रहस्य" रामजीलाल शर्मा ने हिंदी प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित किया है।

(२) "रामचरितमानस-मीमांसा", लेखक रघुवंशभूषण। यह पुस्तक "श्रीरामायण सभा" दारागंज, प्रयाग की ओर से भारतवासी प्रेस प्रयाग में छपी थी।

(३) श्रीरामचरितमानस सातों कांड के उपमा समता आदि अलंकारों की टीका। इसके लेखक, त्रिवेणी बाँध गुफा (दारागंज) के श्रीस्वामी अवधविहारीदास परमहंस हैं।

पं० विश्वेश्वरदत्त शर्मा का "मानस प्रबोध" प्रयाग ही में छपा था।

उक्त पुस्तकों के लेखकों के प्रति हार्दिक सहानुभूति रखते हुए बड़ी विनम्रता से कहना पड़ता है कि इन लेखक महाशयों ने ऐसे सुंदर सुंदर नाम केवल जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिये रखे थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे महात्मा से इस प्रकार का व्यापार करना बुरा है।

रामचरितमानस पर आलोचनात्मक ग्रंथों में "तुलसी-ग्रंथावली" का तृतीय खंड सिरमौर है और उसमें भी पं० रामचंद्र शुक्ल का लेख अद्वितीय है। यह लेख स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छप गया है।

हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास तथा श्री पीतांबरदत्तजी बड़थ्वाल का "गोस्वामी तुलसीदास" नामक ग्रंथ स० १९३१ में छपा है।

स्व० अध्यापक रामदास गौड़ की "रामचरितमानस की भूमिका" नामक पुस्तक सं० १९८२ में हिंदी पुस्तक-एजेंसी कलकत्ता से निकली थी। यह पांच खंडों में विभक्त है—(१) रामचरितमानस की शिक्षा और व्याकरण, (२) मानस-शंकावली, (३) मानस-कथा-कौमुदी, (४) मानस-शब्द-सरोवर, (५) तुलसी-चरित-चंद्रिका।

बाबू माताप्रसाद गुप्त का "तुलसी-संदर्भ" एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें उनके लेखों का संग्रह है।

सन् १९३० में Edinburgh से J. M. Macfie M. A. Ph. D. ने Ramayan of Tulsi Das or the Bible of Northern India नामक पुस्तक प्रकाशित कराई है।

G. A. Grierson C. I. E., Ph. D., D. Litt. का "Tulsi Das, Poet and Religious Reformer" नामक लेख Royal Asiatic Society के meeting में 10 March, 1903 को पढ़ा गया है। यह लेख R. A. S. की पत्रिका के पृष्ठ ४४७ से लेकर ४६६ में छपा है।

प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी ने "तुलसी के चार दल" नामक पुस्तक के पहले खंड में कुछ आलोचनात्मक बातें लिखी हैं। यह पुस्तक इंडियन प्रेस, प्रयाग में सन् १६३५ में छपी है।

श्रीयुत बलदेवप्रसाद मिश्र एम० ए०, एल्-एल० बी० ने "तुलसी-दर्शन" द्वारा गोसाइंजी का दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। यह पुस्तक सं० १६६५ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से छपी है।

कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने तुलसीदासजी की कविता का मर्म समझाने के लिये अपनी छपवाई हुई टीका में ३०६ पृष्ठों में भूमिका तो लिखी ही थी किंतु सन् १६३७ में "तुलसीदास और उनकी कविता" नामक पुस्तक भी लिख डाली है।

(६) रामचरित-संबंधी अन्य कवियों के स्वतंत्र ग्रंथ

जब हम रामचरित पर अन्य कवियों के ग्रंथों की ओर दृष्टि डालते हैं तो सबसे बड़ा ग्रंथ जो दिखलाई पड़ता है वह मांडव्य नराधिपति महाराज रुद्रप्रतापसिंह विरचित "रामायण" है। जान पड़ता है कि महाराजा साहब ने, रीवाँ-नरेश के जोड़ पर चलने के लिये[1] और गोस्वामीजी के रामचरितमानस से विलक्षणता दिखलाने के लिये,[2] यह

१—रीवाँ तथा मांडा ये दोनों सरहदी राज्य हैं। रीवाँ के राजा लोग पुश्तैनी कवि होते आए हैं। महाराज विश्वनाथसिंह, महाराज रघुराजसिंह, महाराज जैसिंह इत्यादि बड़े अच्छे भक्त कवि हो गए हैं।

२—महाराज रुद्रप्रतापसिंह ने कांड न लिखकर "पथ" लिखा है और कांडों का नाम भी विलक्षणता दिखलाने के लिये बदल दिया है। अतः बालकांड "वंश पथ" कहलाया। यह ४५६ पृष्ठों का है। अयोध्याकांड "कोशल पथ" पृष्ठ ३६३,

ग्रंथ लिखा था। किंतु खेद का विषय यह हुआ कि महाराजा साहब ने अपने काव्य को दोहा-चौपाई में लिखना शुरू किया। और चाहे जो कुछ हो, गोस्वामी तुलसीदासजी पर एक दोष तो लगाया ही जा सकता है कि उन्होंने "दोहा-चौपाई को इतना ऊँचे उठा दिया, ऐसा चमका दिया कि एक तो कोई इन छंदों में ग्रंथ लिखने का साहस ही नहीं करता और जो कोई करता है वह विफल-प्रयास हो जाता है।" वही हाल महाराजा रुद्रप्रतापसिंह के "रामायण" का हुआ।

यह ग्रंथ ग्रियर्सन साहेबवाले संस्करण के आकार का ३७५२ पृष्ठों में, मोटे अक्षरों में चंद्रप्रभा प्रेस, बनारस में छपा था। यह सन् १६०१ में छपने लगा और सन् १६११ में तैयार हुआ था। इसका संशोधन महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने किया था।

दूसरा ग्रंथ दोहा-चौपाई का स्वामी रामप्यारे नंद ब्रह्मचारी का "बजरंग रामायण" है। इसका सातों कांड ६४३ पृष्ठों में राघवेंद्र प्रेस, इलाहाबाद से सन् १६१२ में निकला था।

महाराज रघुराजसिंहजी का "रामस्वयंवर" तथा रसिकबिहारी का "रामरसायन", हृदयराम का "हनुमन्नाटक", केशवदासजी की "रामचंद्रिका", पद्माकर-कृत "रामरसायन", लछिराम कृत "रामचंद्र-भूषण"—ये ग्रंथ विविध छंदों में श्रीरामचरित का सुंदर निरूपण करते हैं।

पंडित रामगुलाम द्विवेदीजी ने रामचरित पर बड़े सुंदर कवित्त तथा ललित पद लिखे हैं। इनकी कवितावली, विनय-नव-पंचक तथा हनुमान्-अष्टक काशी के व्रजचंद्र यंत्रालय में छपे थे।

बंगाल के श्रीकृत्तिवासजी कृत रामायण का भाव लेकर पं० मथुराप्रसाद मिश्र (पश्चिम ग्राम, अमेठी के रहनेवाले) ने बाबू कालो-प्रसन्नसिंह (सब जज, फैजाबाद) की प्रेरणा से केवल लंकाकांड का

आरण्यकांड "अटनी पथ" पृष्ठ २३२, किष्किंधाकांड "किष्किंधा पथ" पृष्ठ १३१६, सुंदरकांड "दूत पथ" पृष्ठ ३०८, लंकाकांड "युद्ध पथ" पृष्ठ ५४६, उत्तरकांड "राजपथ" पृष्ठ ४६३।

पद्यानुवाद दोहा-चौपाई में किया था। यह ५१० पृष्ठों की पुस्तक सन् १८९४ में लखनऊ प्रिंटिंग वर्क्स में छपी थी।

पंडित चतुर्भुज मिश्र, (हेड पंडित मिडिल स्कूल जोरी जिला हजारीबाग) ने "आल्हा रामायण" लिखी थी जो सन् १८९५ में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई थी।

श्री मदनगोपाल सिंह (पंजाबी) की "खालसा रामायण" विविध छंदों में कलकत्ता के सुधावर्षण यंत्रालय से स० १९३३ में धर्मार्थ वितरण के लिये छपी थी। मदनगोपालजी किसी कारणवश अज्ञातवास कर रहे थे और उस छिपी अवस्था में समय का सदुपयोग करने के लिये—

"मदत से गुरू के कलम धर शिताब। बड़े काम का
दगेबाज ने यह लिखा है किताब। सियाराम का

इसके सातों कांड २३९ पृष्ठों में समाप्त हुए हैं।

इनके अलावा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से निम्नलिखित रामायण प्रकाशित हुए थे,—

बानादास कृत "उभय-प्रबोधक रामायण"	पृष्ठ-संख्या	५६४
श्रीरामगंज चतुरदास कृत "पदबंद रामायण"	,,	९१
महावीरदास कृत "गीत-रामायण"	,,	४९
लालमणि कृत "अद्‌भुत रामायण"	,,	५६
इंद्रजीत कृत "अवध-विलास रामायण"	,,	७२
ईश्वरप्रसाद कृत "रामविलास रामायण"		...
बंदीदीन दीक्षित कृत "विजय-राघवखंड रामायण"	,,	११४१
बैजनाथ कुर्मी कृत "सीताराम-संयोग-पदावली"		...

बंगाल के श्री माइकेल मधुसूदन दत्त कृत मेघनाद-वध का हिंदी भाषांतर बाबू मैथिलीशरण गुप्तजी ने बड़ी योग्यता से सफलतापूर्वक किया है। यह प्राय: ३०० पृष्ठों का काव्य साहित्य-सदन, चिरगाँव झाँसी से सं० १९८४ में प्रकाशित हुआ है।

पं० रामचरित उपाध्यायजी का रामचरितचिंतामणि नामक एक बड़ा सुंदर ग्रंथ खड़ी बोली में, भिन्न-भिन्न छंदों में, है। उसमें रामचरित का और रामायण के विशिष्ट पात्रों का वर्णन है।

गुप्तजी का "साकेत" अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है और आधुनिक रामचरित-लेखकों में जितना ही यह प्रशंसनीय है उतना ही राधेश्यामजी का रामायण दूसरी श्रेणी का है। आजकल के नौछिद्रुओं में कुरुचि पैदा करने में जितना राधेश्याम जी के रामायण ने काम किया उतना शायद ही किसी नौटंकी, गजल या कौवाली की किताब ने किया हो। लेकिन संतोष का विषय है कि अब उसका प्रचार कम हो रहा है।

रामचरित-संबंधी अन्य कवियों के ग्रंथों का एक बृहत् साहित्य है। जितना ही हम इस साहित्य का अवलोकन करते हैं उतना ही गोस्वामीजी का रामचरितमानस और भी निखर उठता है, उस पर और भी आभा चढ़ती है और यह धारणा दृढ़ होने लगती है कि तुलसी से "अधिक कहा तेहि सम कोउ नाहीं।"

तुलसीदासजी की सबसे बड़ी विशेषता, जो हर एक व्यक्ति अनुभव कर सकता है, यह है कि कोई इतना ऊँचा नहीं उठ सकता जहाँ से गोस्वामीजी छोटे प्रतीत होने लगें। आप सारे विश्व का साहित्य उलट डालिए, उन पुस्तकों के अध्ययन से आपको जो विवेक होगा, जिस सूक्ष्म मनोभाव का सुंदर विश्लेषण आप देखेंगे वह कहीं न कहीं रामचरितमानस में अवश्य मिलेगा और जो जितनी पूँजी लेकर यहाँ आता है उसे उतना ही आनंद मिलता है। अन्य ग्रंथों के अवलोकन का श्रम तभी सफल होता है (मेरी समझ में) जब उनके प्रकाश में रामचरितमानस का अवलोकन किया जाय।

चयन

साहित्य-सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २७ वें (शिमला-) अधिवेशन के सभापति के पद से 'आज' के संपादक श्री बाबूराव विष्णु पराड़करजी ने जो महत्त्वपूर्ण अभिभाषण दिया उसके मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं—

ब्रिटिश शासकों द्वारा हिंदी की उपेक्षा

हमारी भाषा और हमारी लिपि दोनों की उपेक्षा इस शासन में जैसी हुई है वैसी मुसलमान शासकों के समय में भी नहीं हुई थी। भारत में नागरी लिपि पढ़नेवाले जितने लोग हैं उनके आधे भी उसे न जाननेवाले हैं अथवा नहीं, इसमें संदेह ही है। वस्तुत: भारत की राष्ट्र-लिपि नागरी ही है। हमारी संस्कृत की मंजूषा संस्कृत भाषा नागरी में ही लिखी जाती है; इसलिये हम इसे भारत की सांस्कृतिक लिपि भी कह सकते हैं। आजकल की भाषाओं में हिंदी और मराठी की लिपि भी नागरी ही है। फिर भी भारत के सिक्कों पर नागरी को स्थान नहीं दिया जाता। वर्षों से अनुनय-विनय की जा रही है पर उसकी वही दुर्दशा हुई है जो प्रार्थनाओं की हुआ करती है। अँगरेज शासकों के इस व्यवहार से भारत के प्रथम मुसलमान शासकों के व्यवहार की तुलना कर देखिए। बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल (खंड २३, भाग ४) में डाक्टर हीरानंद शास्त्री महोदय का 'देवनागरी और भारत के मुसलमान शासक'-शीर्षक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है जिसका अनुवाद 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के वैशाख संवत् १९९५ वै० के अंक में प्रकाशित हुआ है। सन् १०२७ ई० में महमूद-पुर या लाहौर से महमूद गजनवी ने एक चाँदी का सिक्का चलाया था जिसके एक पृष्ठ पर नागरी लिपि में संस्कृत भाषा में यह वाक्य खुदा

है—'अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद'। दूसरे पृष्ठ पर है 'अयम् टंकम् महमूदपुर-घटिते हिजरियेन संवति ४१८'। अनेक मुस्लिम सुलतानों और बादशाहों के सोने-चाँदी के सिक्कों पर नागरी अक्षरों में संस्कृत हिंदी के वाक्य हैं। पर लोकमत का आदर करने के अभिमानी वर्तमान शासक तीन चौथाई प्रजाजनों की प्रार्थना को पददलित करने में ही अपना गौरव समझ रहे हैं। मैं तो इसे हिंदू संस्कृति का अपमान समझता हूँ और कठोर शब्दों में इस दुर्नीति की निंदा करना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि केवल हिंदू वा हिंदीभाषी नहीं वरंच वे सब सज्जन, जिन्हें राष्ट्र का अभिमान है और जो धर्मपरिवर्तन को संस्कृति-त्याग नहीं समझते, मेरे इस प्रतिवाद का समर्थन करेंगे।

नागरी लिपि के गुण

यह सर्वमान्य बात है कि नागरी वर्णमाला के समान सर्वांग-पूर्ण और वैज्ञानिक किसी दूसरी वर्णमाला का आविष्कार अभी तक नहीं हुआ है। 'सर्वमान्य' से मेरा मतलब उन मनीषियों से है जो निर्विकार चित्त से इस विषय पर विचार कर सकते हैं। वैसे तो अपनी अपनी वस्तु सभी को अच्छी लगती है। पर यदि वर्णों का उद्देश्य ध्वनि का शुद्ध उच्चारण हो तो संसार की कोई वर्णमाला नागरी का हाथ नहीं पकड़ सकती। इस वर्णमाला में प्रत्येक ध्वनि के लिये अलग वर्ण हैं और प्रत्येक वर्ण की एक ही ध्वनि है। जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो पढ़ा जाता है वही लिखा हुआ होता है—यदि पढ़नेवाला नागरी के वर्णों से सुपरिचित हो। यह बात न फारसी वर्णमाला में है न रोमन में। अवश्य ही रोमन के भक्तों ने उसमें बहुत कुछ सुधार कर लिया है, फिर भी उसमें वर्णमाला का प्रधान गुण नहीं आया है और न आ सकता है। उसमें लिखा एक होता है और पढ़ा दूसरा जाता है। उसमें लिखा जायगा 'आर-ए-एम' और पढ़ना पड़ेगा 'राम'। पर नागरी में लिखा हुआ 'रा-म' और कुछ पढ़ा ही नहीं जा सकता। हमारी ऐसी सुंदर लिपि के होते हुए भी कुछ सज्जन हमें रोमन लिपि ग्रहण करने का उपदेश देते हैं, इससे बढ़-

कर आश्चर्य और खेद का विषय क्या हो सकता है ? हमारे वर्तमान राष्ट्रपति सुभाषचंद्र वसु ने रोमन लिपि की उपादेयता की ओर हमारा ध्यान यह कहकर दिलाया था कि वह लिपि प्रायः सब यूरोपियन भाषाओं ने अपनाई है और कुछ पूर्वी देश भी अपना रहे हैं, अतः यदि हम भी उसे अपना लें तो लिपि-साम्य हो जायगा तथा भिन्न भिन्न भाषाओं के सीखने में सरलता होगी। लिपि-साम्य की उपयोगिता हम अस्वीकार नहीं करते और इसी लिये हम चाहते हैं कि भारत की सब भाषाएँ नागरी लिपि में लिखी और पढ़ी जायँ। पर इस साम्य के लिये नागरी जैसी सर्वांगपूर्ण और पूर्ण-वैज्ञानिक लिपि का त्याग करके एक अपूर्ण और अवैज्ञानिक लिपि का ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है। इस साम्य से होनेवाली थोड़ी सुविधा के लिये यदि हम इस लिपि को विस्मृति के गर्भ में डाल दें तो केवल भारत ही नहीं वरंच समस्त मानव-जाति एक ऐसी वर्णमाला से वंचित होगी जैसी अब तक भारत के बाहर कहीं आविष्कृत हुई है, न हो सकती है, और भावी पीढ़ियाँ हमारी इस मूर्खता पर हँसेंगी और धिक्कार देंगी।

रोमन लिपि में जो दोष हैं वे बढ़-चढ़कर अरबी-फारसी लिपियों में पाए जाते हैं। इस लिपि की अपूर्णता और सदोषता स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपनी "हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी" शीर्षक व्याख्यान-माला में बड़ी खूबी के साथ दिखाई है। × × ×

केवल उर्दू लिपि जाननेवाले सज्जन अन्य भाषाओं के शब्दों का ठीक उच्चारण कर ही नहीं सकते—कुछ का कुछ हो जाता है। जिन भाषाओं के पढ़ने का साधन ऐसी सदोष लिपि है उनके शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना तब असंभव हो जायगा जब वे शब्द अप्रचलित होंगे और उनका अर्थ विस्मृत। लिपि का प्रयोजन यदि शब्दों का उच्चारण हो तो अरबी, फारसी, रोमन जैसी लिपियों का त्याग करना ही पड़ेगा। यही कारण है कि तुर्की ने अरबी-लिपि का त्याग करके रोमन-लिपि को स्वीकार किया है। फारस में भी लिपि-सुधार या लिपि-परिवर्तन की चर्चा होने लगी है। यह इसलिये नहीं कि रोमन-लिपि सर्वांगपूर्ण या

वैज्ञानिक है बल्कि इसलिये कि सेमेटिक और चीन-जापान की लिपियों से वह अच्छी है और छापने या टाइप करने के काम में वह अपना सानी नहीं रखती। एक कारण यह भी है कि रोमन जिनकी लिपि है वे आज दिग्विजयी हैं और जहाँ इनका झंडा नहीं गया है वहाँ भी इनके व्यापारी पहुँच गए हैं। इसलिये रोमन-लिपि का ज्ञान प्राय: सब देशों के शिक्षित लोगों को हुआ है और जिनकी लिपि रोमन से भी गई गुजरी है वे रोमन का ग्रहण कर रहे हैं। पर हमारी पराधीनता के कारण अभागिनी नागरी सर्व-गुण-आगरी होने पर भी अपने ही देश में उपेक्षित हो रही है। जो राष्ट्र अपनी अधूरी लिपियों का त्याग करके रोमन-लिपि का ग्रहण कर रहे हैं वे यदि नागरी से परिचित होते तो संभवत: इसी को अपनाते। पूर्वी देशों के भी विद्वानों, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों को अँगरेजी या फ्रेंच भाषा सीखनी पड़ती है और इस प्रकार वे रोमन-लिपि से परिचित हो जाते हैं तथा उसे अपनी लिपि से अच्छी पाकर उसका ग्रहण करते हैं। पर नागरी आज इस राजनीतिक और आर्थिक सौभाग्य से वंचित है। अतएव उसके गुणों की उपेक्षा की जाती है। पर कौन कह सकता है कि कुछ शतकों अथवा दशकों में ही पलड़ा पलट न जायगा ?

हमारा कर्त्तव्य

आज हमारा कर्त्तव्य है कि नागरी के प्रचार में कोई बात उठा न रखें। अत्यंत खेद की बात है कि जिन प्रांतों की भाषा हिंदी है वहाँ की भी अदालतों में अभी तक नागरी लिपि का प्रचार नहीं हुआ है। कई दशकों से इसके लिये प्रयत्न किया जा रहा है पर अभी तक वह सफल नहीं हो रहा है। समंस, नोटिसें आदि नागरी में जारी करने की आज्ञा दी जाती है पर केवल भंग करने के लिये। उर्दू न जाननेवालों के पास भी उस लिपि में लिखे हुए समंस पहुँच जाते हैं और बेचारों को उन्हें पढ़ाने के लिये न मालूम कहाँ कहाँ की खाक छाननी पड़ती है। इसका कारण उन लोगों की उपेक्षा है जिनकी मातृभाषा हिंदी है और जो नागरी लिपि द्वारा ही अपना नित्य का व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत वे संप्रदाय-

वादी मुसलमान भाई हैं जो सदा उर्दू के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। इनके यत्न का ही यह परिणाम है कि बिहार की अदालतों में भी उर्दू का प्रचार हो गया, यद्यपि वहाँ मुसलमानों की संख्या नगण्य है और अधिकतर मुसलमान कैथी में, जो नागरी का ही एक रूपांतर है, रोजमर्रे का काम-काज करते हैं। फिर भी अपने तीन ही महीने के शासन में बिहार के अस्थायी मंत्रिमंडल ने उस प्रांत की अदालतों में उर्दू का प्रचार कर दिया। पर संयुक्त प्रांत की अदालतों में अभी तक नागरी का प्रचार नहीं हुआ है, यद्यपि उस प्रांत में भी नागरी जाननेवालों की संख्या उर्दू-फारसी जाननेवालों से पँचगुनी है और नागरी उर्दू-लिपि की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता के साथ पढ़ी जा सकती है। मुसलमानों के स्वत्वों और संस्कृति की रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्राभिमानी का प्रथम और पवित्र कर्तव्य है इसमें संदेह नहीं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम मुस्लिम संप्रदायवादियों के असंतुष्ट होने के भय से अपनी भाषा और अपनी लिपि की उपेक्षा करके अपनी संस्कृति की जड़ खोदें। हिंदी का कोई भी अभिमानी यह नहीं चाहता कि उर्दू के भक्तों पर जबरदस्ती नागरी लादी जाय। यदि हमारे मुस्लिम भाई उसी लिपि के सौंदर्य पर मुग्ध हैं तो वह उन्हें मुबारक हो। हम तो केवल यही कहते हैं कि जो अधिकार जीने का और अपनी संस्कृति की रक्षा करने का वे चाहते हैं और उन्हें प्राप्त भी हैं वही हम हिंदी-भाषियों को भी लेने दें, यह जिद न करें कि औरों को भी उर्दू-लिपि से ही काम चलाते रहना पड़ेगा। हम प्रांतों की कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी सरकारों से समान-भाव से प्रार्थना करते हैं कि हिंदी और नागरी के साथ भी न्याय करें। हम केवल न्याय के प्रार्थी हैं, पक्षपात या पुरस्कार के नहीं। इसके लिये प्रयत्न करना इस सम्मेलन का प्रथम कर्त्तव्य है। इधर इस कार्य में कुछ शिथिलता आ गई है जो खेदजनक है। इस युग में न्याय उन्हीं के साथ होता है जो दृढ़ता और निर्भीकता के साथ अपने स्वत्वों के लिये लड़ना जानते हैं और लड़ते हैं। इस युग में भी यदि हिंदी और नागरी के साथ न्याय न हुआ तो आगे होना और भी कठिन हो

जायगा और आनेवाली पीढ़ियाँ इसके लिये हमें कोसेंगी। अतः हमें चाहिए कि तब तक प्रांतीय शासकों को चैन न लेने दें जब तक वे हिंदी और नागरी के साथ न्याय न करें।

लिपि-सुधार का प्रश्न

नागरी लिपि के प्रचार के साथ उसके सुधार के प्रश्न का गहरा संबंध है। सुधार से मेरा मतलब वर्णमाला के सुधार का नहीं है बल्कि उसके अक्षरों के रूप का सुधार है। वर्णमाला हमारी सर्वांगपूर्ण है और उसका क्रम भी वैज्ञानिक है। सुधार की दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि है उच्चारण-संबंधी और दूसरी छपाई के संबंध की। उच्चारण-संबंधी प्रश्न का विचार भी दो दृष्टियों से करना चाहिए—हिंदी की दृष्टि से तथा अन्य भाषाओं की दृष्टि से। मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार हिंदी की दृष्टि से विशेष सुधार की आवश्यकता नहीं है। हमारी भाषा की सब ध्वनियों के प्रतीक वर्ण हमारी नागरी में हैं। उनसे अधिक की कोई आवश्यकता ही नहीं है, केवल ज़ फ़ आदि दो-तीन ध्वनियाँ शिक्षित लोगों की बोलचाल में आ गई हैं जिनके लिये ज फ आदि व्यंजनों के नीचे बिंदी लगाई जाने लगी है और भविष्य में भी यह क्रम जारी रखा जा सकता है, यद्यपि मैं इसका बहुत पक्षपाती नहीं हूँ। अन्य भाषाओं से आनेवाले शब्दों में तरह तरह की ध्वनियाँ हैं जिनको व्यक्त करनेवाले अक्षर नागरी में नहीं हैं और न होने की आवश्यकता है। जो उच्चारण हमारे लिये अस्वाभाविक हैं, बहुत अभ्यास के बाद भी हम जिनमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते उनके लिये नए नए चिह्न गढ़ना नागरी को बिगाड़ना है। उन चिह्नों को देखकर भी हिंदी-भाषा उन शब्दों का शुद्ध उच्चारण न कर सकेंगे। ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सजीव भाषा अन्य भाषाओं से सदा लेन-देन किया करती है। हिंदी में सैकड़ों शब्द विदेशी भाषाओं से आए हैं पर वे हमारी भाषा में इस तरह मिल गए हैं कि कोष की सहायता के बिना अब कोई नहीं कह सकता कि वे हिंदी नहीं हैं। इसी तरह हमें और भी बहुत से शब्द अन्य भाषाओं

से लेने पड़ेंगे। पर लेकर यदि उन्हें हमने अपना न लिया, उन्हें उनके विदेशी रूप में ही रहने दिया तो वे भाषा का गौरव न बढ़ाकर उसके अजीर्ण का कारण होंगे। विदेशी भाषाओं से शब्द लिए गए हैं और लेने चाहिए। जितने ही अधिक शब्द लिए जायँगे उतनी ही हमारी शब्द-संपत्ति बढ़ेगी और अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर वे भिन्न भिन्न भाव प्रकट करने में सहायक होंगे। पर उन शब्दों का उच्चारण हमारी भाषा की प्रकृति के अनुसार हो जाना चाहिए, जैसे अँगरेजी Lantern से लालटेन और Lamp से लंप हो गया। आज कितने आदमी जानते हैं कि हमारे नित्य के व्यवहार की वस्तु 'गिलास' विदेश से आई है? इस प्रकार विदेशी भाषा से लिए हुए शब्दों को यदि हम अपने वाग्यंत्र में डालकर अपना-सा बना लें तो हिंदी में विदेशी, और हमारे लिये अस्वाभाविक, ध्वनियों के लिये असंख्य चिह्न बनाने की आवश्यकता न होगी। और यदि हम उन शब्दों को अपना-सा न बना सके तो एक तो हिंदी-भाषी जनता में उनका प्रचार ही न होगा, दूसरे, उनसे हमारी भाषा को अजीर्ण रोग हो जायगा। फिर लिपि का सुधार व्यर्थ ही है।

यह विचार हुआ हिंदी की दृष्टि से। संस्कृत की दृष्टि से तो यह वर्णमाला बनी ही है। रह गई अन्य भाषाओं की बात। हम चाहते हैं कि भारत की सब भाषाएँ नागरी लिपि में लिखी और छापी जायँ। इस कार्य के लिये अवश्य ही नागरी में अनेक अक्षर और अनेक चिह्न नए गढ़ने पड़ेंगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, और मेरा ज्ञान बहुत कम है, आर्य भाषाओं की सब ध्वनियाँ नागरी में हैं। इन भाषाओं में मराठी तो नागरी में ही लिखी और छापी जाती है। गुजराती और बँगला की वर्णमालाएँ भी कुछ परिवर्तित नागरी वर्णमाला हैं जिनके लिये शायद ही कोई नए चिह्न बनाने पड़ें। अवश्य ही द्राविड़ी भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ और ऐसे स्वर हैं जिनके चिह्न नागरी में बनाने पड़ेंगे। विदेशी भाषाएँ नागरी में लिखने के लिये भी अनेक नए अक्षरों और चिह्नों की आवश्यकता होगी। भिन्न भिन्न भाषाएँ लिखने के लिये जैसे

रोमन लिपि में अनेक चिह्न बनाए गए हैं वैसे ही नागरी में भी बनाए जा सकते हैं। उन उन भाषाओं के जाननेवालों की सहायता से यह कार्य करना चाहिए। रोमन लिपि में भी यही किया गया है, और मेरा विश्वास है कि इस कार्य में रोमन जितनी सफल हुई है उससे कहीं अधिक नागरी हो सकेगी। कार्य महत्त्व का है तथा इस ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए। इस संबंध में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि जैसे केवल अँगरेजी सीखनेवाले बालकों को अन्य भाषाओं की ध्वनियाँ व्यक्त करने के लिये रोमन अक्षरों में लगाए गए चिह्न सिखाए नहीं जाते उसी प्रकार केवल हिंदी-संस्कृत सीखनेवाले बालकों के लिये सारे चिह्नों का जानना आवश्यक करके उनका बोझ बढ़ाना उचित न होगा। जो हिंदी-भाषी अन्य भाषा सीखना चाहेगा वह उस भाषा के लिये प्रयुक्त होनेवाले नागरी के विशेष चिह्नों को अनायास वा अल्पायास में ही आयत्त कर सकेगा।

यह तो हुआ उच्चारण-संबंधी विचार। अब छपाई की दृष्टि से नागरी अक्षरों के रूप में जो सुधार आवश्यक समझे जा रहे हैं उन पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। वस्तुतः यह सुधार उच्चारण-संबंधी सुधार की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। इस पर बहुत विचार हो चुका है और कुछ सुधार कार्यान्वित भी किए जा रहे हैं। छपाई की दृष्टि से नागरी-प्रचार में सबसे बड़ी बाधा अक्षरों के ऊपर और नीचे लगनेवाली मात्राएँ हैं। प्रेस के कार्य से अभिज्ञ सज्जन जानते हैं कि इनके कारण हमें एक अक्षर के लिये तीन तीन अक्षर बनाने पड़ते हैं। एक अक्षर ऊपर से नीचे तक तीन भागों में बाँटा जाता है। उसके बीच के स्थान में मूल अक्षर होता है तथा ऊपर और नीचे मात्राओं के लिये स्थान छोड़ दिए जाते हैं। × × × इससे टाइपों अर्थात् छपाई के अक्षरों की संख्या एक हजार से भी अधिक हो जाती है। यही कारण है कि नागरी के नए नए प्रकार के अक्षर बहुत कम बनते हैं। प्रेसवालों को भी टाइप में बहुत अधिक रुपया फँसाना पड़ता है। कंपोजिटरों का काम, अँगरेजी कंपोजिटरों की तुलना में, बहुत

कठिन और जटिल होता है। और यह सब इसलिये कि नागरी में कुछ स्वरों की मात्राएँ अक्षरों के नीचे ऊपर लगाई जाती हैं। अतः मेरे मत से तो नागरी लिपि में पहला सुधार यह होना चाहिए कि स्वरों की जो मात्राएँ ऊपर और नीचे लगाई जाती हैं वे व्यंजनों के बाद उसी तरह लगाई जायँ जैसे आकार और विसर्ग लगाया जाता है। वंगाक्षरों में अनुस्वार भी व्यंजन के बाद लगाया जाता है तथा एकार और ऐकार पहले। मेरी राय है कि सब स्वर व्यंजन के बाद ही लगाए जायँ। यह सुधार यदि नागरी में हो जाय तो छपाई के कार्य की दो तिहाई कठिनाई दूर हो जाय और खर्च में भी एक चौथाई की बचत हो।

सुधार के संबंध में दूसरा विचारणीय प्रश्न संयुक्ताक्षरों का है। इसके लिये हम नागरी अक्षरों को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं— (१) वह अक्षर जिनके अंत में खड़ी पाई होती है; जैसे म, न, स आदि। (२) वह अक्षर जिनके अंत में अधोमुख अंकुश होता है; जैसे क, झ और फ। (३) वह अक्षर जो टेढ़े होते हैं, जैसे ङ, ट, ठ, ड, ढ, द और ह। (४) र। इनमें प्रथम वर्ग सबसे सहज है। इसके अक्षरों के अंत की खड़ी पाई निकाल देने से ही वह अद्धे हो जाते हैं और उनके बाद कोई व्यंजन रखकर संयुक्ताक्षर बनाया जाता है, जैसे म्य, न्य, स्य आदि। अंकुश वा अकुसावाले अक्षर का अद्धा अकुसे के नीचे का भाग काटकर बनाया जाता है, जैसे 'क' का 'क्', 'झ' का 'झ्' और 'फ' का 'फ्'; इन अद्धों के बाद कोई भी व्यंजन बैठाकर युक्ताक्षर बनाया जा सकता है; जैसे क्य, झ्य और फ्य। तीसरे वर्ग के टेढ़े अक्षरों का अद्धा बनाना कठिन है। मैं समझता हूँ कि उनके नीचे हलंत का चिह्न देकर युक्ताक्षर बनाना चाहिए, जैसे ट्य, ठ्य, ड्य, ढ्य, द्य और ह्य। 'र' स्वयं ही एक वर्ग है और बहुत कठिन है। यह जब दूसरे व्यंजन के पहले आता है तो रेफ बनकर उसके सिर पर सवार हो जाता है, जैसे 'अर्क' में 'र्क'। पर जब अन्य व्यंजन के बाद आता है तो प्रथम और द्वितीय वर्गों के अक्षरों के नीचे एक छोटी लकीर के रूप मे दिखाई देता है; जैसे म्र, क्र आदि। 'द' को छोड़कर

तृतीय वर्ग के बाकी अक्षरों के नीचे '‸' इस रूप में र दिखाई देता है; जैसे ट्र ट्र, ड्र, ढ्र और ह्र। इसकी इस मनमानी में बाधा डालकर उसका वह आधा रूप नागरी में ले लें जो मराठी में प्रचलित है (॰) तो व्यंजनों के पूर्व इसका व्यवहार अर्द्ध के रूप में किया जा सकता है, जैसे 'सर्व' की जगह 'सव', 'मम' आदि। अन्य व्यंजनों के बाद आनेवाले रकार में कोई परिवर्तन न करके, अन्य व्यंजनों की तरह, 'र' भी यदि अपने मूलरूप में लिखा जाय तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती; जैसे क्र न लिखकर क्र, म्र की जगह म्र, ट्र की जगह ट्र अनायास लिखा जा सकता है।

सुधार की मुख्य बातें ऊपर कही गईं। अब कुछ गौण बातों पर दृष्टि डालनी चाहिए। पहला प्रश्न 'ख' का है। यह एक विचित्र रूप है जो र और व के एक साथ लिखने से होता है। पढ़नेवालों को इससे कभी कभी धोखा भी होता है। अतः अनेक विद्वानों का कथन है कि इसे निकाल देकर इसकी जगह गुजराती का ख लेना चाहिए। मैं स्वयं इस प्रस्ताव का समर्थक हूँ। दूसरी बात महाप्राण अक्षरों के संबंध में है। पचीस स्पर्श वर्णों के दूसरे और चौथे अक्षर पहले और तीसरे अक्षरों के महाप्राणरूप हैं जो पहले और तीसरे अक्षरों के साथ ह की ध्वनि मिला देने से बनते हैं। फिर पूछा जाता है कि इनके लिये बिलकुल स्वतंत्र अक्षर रखने की आवश्यकता ही क्या है। क्यों न पहले और तीसरे अक्षरों के अर्द्धों में ह लगाकर दूसरे और चौथे अक्षर बनाये जायँ। ऐसा करने से अक्षरों की संख्या में दस की कमी हो जायगी जो उपेक्षणीय नहीं है। बात सही है पर प्राचीन वैयाकरणों और शिक्षा के लेखकों ने इन्हें स्वतंत्र अक्षर ही माना है तथा मात्रान्यास जैसे धार्मिक कार्यों में भी इनका प्रयोग स्वतंत्र अक्षरों के रूप में ही होता है। आज यदि हम इन्हें संयुक्ताक्षर करना चाहेंगे तो बहुत विरोध होने की संभावना है और वस्तुतः यह सुधार है भी क्रांतिकारी। हमें ऐसे मामलों में बहुत सोच-समझकर ही आगे पैर धरना चाहिए। प्रसंगवश एक और सुधार का भी जिक्र कर देना चाहिए जिसके प्रेरक

मेरे एक आदरणीय पुरुष हैं। वह है इ, ई और उ, ऊ, की जगह अि, अी और अु, अू लिखना। मैं नम्रता के साथ यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि यह सुधार मुझे साधार और सयुक्तिक नहीं मालूम होता। हमारी वर्णमाला में अ, इ, उ, ऋ और लृ ये बिलकुल स्वतंत्र स्वर हैं, एक का दूसरे से कुछ भी संबंध नहीं है। अत: इनके दृश्य रूप भी बिलकुल स्वतंत्र रहें, यही उचित प्रतीत होता है। हाँ, ओ औ की तरह ए ऐ भी संयुक्त स्वर हैं अत: उन्हीं के अनुरूप ए और ऐ की जगह अे और अै लिखा जाना अनुचित नहीं है।

मैंने जिन सुधारों का उल्लेख ऊपर किया है उनके अनुरूप चिह्न और अक्षर काशी, कटिंग मेमोरियल हाइस्कूल के ड्राइंग टीचर श्री भगवान्दास सिडनी ने बनाए हैं। आप बहुत दिन से और बड़ी लगन के साथ नागरी अक्षरों में सुधार का प्रयत्न कर रहे हैं। काशी के कई विद्वानों से, और मुझसे भी, सलाह करके आपने स्वरों के वह चिह्न, जो व्यंजनों के आगे बैठाए जा सकते हैं, और सब व्यंजनों के अर्द्ध तैयार किए हैं। यदि नागरी लिपि के विशेषज्ञ और कलाकार इस पर विचार करके इनमें सुधार करें अथवा नवीन तथा अधिक उपयुक्त और सुंदर चिह्न बनावें तो लिपि-सुधार में बड़ी सहायता मिलेगी।

× × × ×

राष्ट्रभाषा-हिंदी

यह राष्ट्रीयता का युग है—वह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई देश, कोई जाति, कोई कौम अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना उचित पद पा ही नहीं सकती। राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उसकी एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रभाषा सबकी मातृभाषा हो। राष्ट्र के अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझें और उसके द्वारा शासन, व्यापार आदि कार्य करें तो वह राष्ट्रभाषा हो सकती है। मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा होती है पर वह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवयवभूत सब लोग वही भाषा घर में भी बोलते हैं। भारत अति विशाल देश है तथा इसमें संस्कृत से संबद्ध अनेक भाषाएँ बोली जाती

हैं। इनके सिवा अनेक अनार्य भाषाएँ भी बहुसंख्यक लोगों की मातृ-भाषाएँ हैं। अत: यहाँ की राष्ट्रभाषा किसी एक समूह की मातृभाषा नहीं हो सकती बल्कि वही भाषा राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अल्पाधिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प-आयास में सीखो जा सकती हो। वह भाषा हिंदी ही है और हिंदो ही हो सकती है। मैं हिंदो उर्दू के मूल-संबंधो झगड़े में यहाँ पड़ना नहीं चाहता पर इतना कहूँगा कि उर्दू के भी आधारभूत (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा हिंदी है। हिंदी नाम उस भाषा का तब था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिंदुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—"उन लोगों का मतलब हिंदुस्तानी से उस ज़बान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्तप्रदेश और अंतर्वेद (दोआब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहनेवाले मुसलमान बोलते थे, और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिंदुस्तानी से थी—अर्थात् हिंदी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।"* आजकल भी हिंदुस्तानी से हमारे उर्दू-प्रेमी भाई उर्दू ही समझते हैं और इसमें से चुन चुनकर संस्कृत तत्सम शब्द और अधिक से अधिक तद्भव शब्द भी निकाल डालने पर तुले हुए हैं। यह प्रवृत्ति यदि केवल हिंदी-द्वेषियों और अरबी-फारसी के प्रेमियों में ही पाई जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुल कलाम आजाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्रभाषा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिंदी के प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चलाए जाने लगे हैं। हाल में दक्षिण

* 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी'; हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०, द्वारा इलाहाबाद से प्रकाशित; पृ० २६-३०।

भारत हिंदी-प्रचार-सभा द्वारा मद्रास में 'हिंदुस्तानी की पहली किताब' प्रकाशित हुई है। पुस्तक के आरंभ में मद्रास प्रांत के प्रधान मंत्री के नाम लिखा हुआ मौलाना अबुल कलाम आजाद का अँगरेजी पत्र छपा है जिसमें आप फर्माते हैं कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वास्तव में उस भाषा का नमूना है जिसे सर्वप्रांतीय भाषा बनने का स्वाभाविक अधिकार है। मौलाना अबुल कलाम आजाद जिसे सर्वप्रांतीय वा राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि 'हिंदुस्तानी' है तो मैं निःसंदिग्ध चित्त से साहित्य-सम्मेलन को सलाह दूँगा कि निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में वह इसका विरोध करे। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के वैशाख संवत् १९९५ के अंक में मेरे मित्र श्री रामचंद्र वर्मा ने बड़ी योग्यता के साथ इसकी समीक्षा की है और मैं इसका समर्थन करता हूँ। वर्मा जी कहते हैं—"इस पुस्तक में हिंदी भाषा के शब्द अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें पृष्ठ पर अकरम, ज़मज़म अग़मत आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आए हैं जिनका मतलब शायद मद्रास के बड़े बड़े मुल्ला भी न समझते होंगे। और इसी तरह के शब्दों से युक्त हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में पुस्तक के आरंभ में 'बच्चों से' कहा गया है—'यह हमारे देश के करोड़ों आदमियों की ज़बान है और थोड़े दिनों में देश के सारे लोग इसे समझेंगे।......... इससे आपस का मेलजोल और बढ़ेगा।' अरबी और फारसी के मुश्किल से मुश्किल शब्द तो इसमें बिल्कुल शुद्ध रूप में रखे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे 'अमृत' शब्द के भी हाथ पैर तोड़कर उसे 'अमरत' बना दिया गया है। पृ० ३७ में आया है—'रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-बी, नमस्ते।' यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या।" केवल शब्द ही नहीं, इस पुस्तक के वाक्यों की रचना भी उर्दू है, हिंदी नहीं और इसको प्रकाशित किया है दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार-सभा ने! मेरा खयाल है कि सभा इस मामले में राजनीतिक दबाव में पड़ गई है। हिंदुस्तानी नाम की जिस भाषा का

प्रचार मद्रास सरकार अपने स्कूलों में करने जा रही है उसके संबंध में उर्दू के अभिमानियों को संतुष्ट रखना ही प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य मालूम होता है। एक क्षुद्र कांग्रेस-जन के ही नाते मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है और इसका परिणाम बुरा हो रहा है। जिनके लिये भाषा के साथ साथ, श्री रामचंद्र वर्मा के कथनानुसार, संस्कृति की भी हत्या की जा रही है वे तो कांग्रेस की ओर आते ही नहीं, उलटे उनके हृदय को चोट पहुँचने लगी है जिनके कारण कांग्रेस का कांग्रेस-त्व है। × × ×

हिंदुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है उससे केवल हिंदी की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिये भी मैं कहता हूँ कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिंदी यानी हिंद की होनी चाहिए। शब्दों के संबंध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं से जितने अधिक शब्द हिंदी में आवेंगे उतनी ही उसकी संपत्ति बढ़ेगी और भिन्न भिन्न भावों के प्रकट करने में उतनी ही अधिक सरलता होगी। जिस भाव वा वस्तु का द्योतक शब्द हिंदी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि प्रथम प्रथम जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर एक ही भाव के कई सूक्ष्म भेदों के व्यंजक हो जाते हैं और इससे भाषा का सौंदर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानता के साथ करना चाहिए। संस्कृत तत्सम संज्ञा का विशेषण अरबी तत्सम शब्द हो तो वह कर्णकटु होता है, भाषा साहित्य से कोसों दूर भाग जाती है। उदाहरणार्थ 'अनुकरणीय वफादारी' ही लीजिए। कितना कर्णकटु लगता है! इसका अर्थ यह नहीं कि भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्द एक साथ आने से ही भाषा कर्णकटु हो जाती है। × × × × यदि उर्दू के कवि और खासकर मुसलमान कवि केवल शब्द बाहर से लाकर ही संतुष्ट होकर भारतीय भावों की रक्षा करते होते तो निश्चय ही वे ऐसी भाषा तैयार करने में समर्थ होते जो वास्तविक अर्थ में राष्ट्र-

भाषा बन जाती और उत्तर भारत में साहित्य की एक ही भाषा रहती। पर पहले तो मुसलमान कवियों के फारसी लिपि का ग्रहण करने से उनकी हिंदुस्तानी या उर्दू अपनी आधारभूत हिंदी से दूर दूर जाने लगी। इस पर उन्होंने जब अपने लिये व्याकरण और छंद भी विदेश से मँगाए और उपमान भी अरब-फारस से आने लगे तब इन दोनों के बीच का अंतर धीरे धीरे बढ़ने लगा, यहाँ तक कि अब हिंदी और उर्दू बिलकुल भिन्न भाषाएँ समझी जाने लगी हैं। हमारे मुस्लिम कवियों को भारत की कोकिल न भाई, फारस के चमनिस्तान से बुलबुल को लाकर हमारे आपके वृक्षों पर बैठा दिया। उन्हें उपमा के लिये इस देश के अगाध-साहित्य में उपमान न मिले। यद्यपि दोनों गैरमुस्लिम थे पर उन्हें सुकरात और अफलातून का अभिमान हुआ, कपिल व्यास की ओर से मुँह मोड़ लिया। परिणाम जो होना था वही हुआ। क्या शब्दों में और क्या भावों में उर्दू-साहित्य बहिर्मुखी हो गया। यद्यपि कुछ मुस्लिम कवियों ने भारतीय बनने का यत्न किया और आज यह प्रवृत्ति यत्र-तत्र बढ़ती दिखाई देती है फिर भी मुझे अपने उर्दूदाँ मित्रों से यही मालूम हुआ है कि उर्दू का प्रवाह केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी अब विदेशी मालूम हो रहा है। जिसके साहित्य की आत्मा और दृष्टि ही अपनी न हो वह कैसे राष्ट्रभाषा बन सकेगी, इसका विचार आप विद्वज्जन ही करें।

अन्य भाषाओं से शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं, वरंच लेना चाहिए। पर इसके साथ एक शर्त है। शब्द मूलतः चाहे जिस भाषा के हों पर जब हम लें तो उन्हें अपना-सा बनाकर लें। अर्थात् उनकी ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलती जुलती हो। मूल-ध्वनि की रक्षा करने का यत्न केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। यह बात केवल अरबी-फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है। हाँ, संस्कृत शब्दों के उच्चारण हिंदी भाषा बोलनेवालों के वाग्यंत्र के लिये प्रायः स्वाभाविक होने के कारण उनमें हिंदी हो जाने पर भी अधिक परिवर्तन नहीं होता और अरबी-फारसी के शब्दों में होता है। पर वह

अनिवार्य है। आगत शब्दों का उच्चारण मूल में जैसा है वैसा ही बनाए रखने का यत्न करने से वे कभी हमारे न होंगे। भाषा उनको हजम न कर सकेगी, भाषा को उनसे बदहजमी हो जायगी। इन्हीं शब्दों के संबंध में दूसरी शर्त यह है कि ये हमारे व्याकरण के शासन में आ जायँ। हम शब्द अन्य भाषाओं से ले सकते हैं और लेते हैं पर उनके लिंग और वचन संबंधी रूपांतर हमें उस भाषा के व्याकरण के नियमानुसार न बनाने चाहिए जिससे वे आए हों। शब्दों के भाषांतरित होने के साथ साथ व्याकरणांतरित भी होना ही चाहिए। अँगरेजी में हिंदी से अनेक शब्द गए हैं, जैसे जंगल, पंडित आदि। इनके बहुवचन अँगरेजी भाषा के नियमों के अनुसार जंगल्स, पंडित्स आदि होते हैं। हिंदी-संस्कृत के नियम लागू नहीं होते। हिंदी में भी हम संस्कृत से शब्द लेते हैं पर उनके रूपांतर अपने ढंग से बना लेते हैं। उदाहरणार्थ 'पुस्तक' शब्द संस्कृत है और वहाँ उसका बहुवचन पुस्तकानि होता है। पर उसके हिंदी हो जाने पर बहुवचन हिंदी व्याकरण के अनुसार पुस्तकें होता है, न कि पुस्तकानि। यह नियम अँगरेजी, अरबी-फारसी के शब्दों को भी लागू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने 'फुट' शब्द को अँगरेजी से लिया है। इसकी आवश्यकता भी थी। पर इसका बहुवचन भी वहाँ से लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने व्याकरण के नियमानुसार प्रथमा में फुट का बहुवचन फुट ही होता है और हमें दो फुट, तीन फुट आदि ही लिखना चाहिए, न कि दो फीट, तीन फीट आदि। स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली गणित की पुस्तकों में 'फीट' देखकर मुझे तो 'फिट' आता है। 'साहब' हमने अरबी से लिया है और यह नित्य की बोलचाल में भी आता है। पर इसका बहुवचन 'असहाब' करना उसे हिंदी न होने देना और हिंदी को संग्रहणी का शिकार बनाना है। 'स्टेशन', 'इस्टेशन' बनकर अथवा अपने मूलरूप में, हिंदी उर्दू में आया है। पर इसका बहुवचन 'स्टेशन्स' हमने नहीं लिया है। हम कहते हैं, राह में हमने कई बड़े बड़े स्टेशन देखे न कि 'स्टेशन्स' देखे। इतने उदाहरण काफी हैं।

तात्पर्य कहने का इतना ही है कि बाहर से शब्द मँगाइए पर उन्हें अपना लीजिए—अपने व्याकरण के शासन में लाइए।

बाहर के सब शब्दों का स्वागत करनेवाली हिंदी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है और स्वभावत: है। हिंदी का अर्थ है हिंद की भाषा। 'हिंदुई' या 'हिंदवी' किसी जमाने में हिंदू की भाषा समझी जाती रही होगी पर आज हमारी हिंदी हिंद की भाषा है। इसका कोई प्रांतीय नाम नहीं है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह सारे देश की—हिंद की भाषा है। मराठी, गुजराती, बँगला, तामिल, तेलुगु आदि भाषाएँ प्रांतीय भाषाएँ हैं जो उनके नाम से ही ध्वनित होता है। पर हिंदी देश की भाषा है। इसका आधुनिक साहित्य अनेक प्रांतीय भाषाओं की तुलना में छोटा होने पर भी वह राष्ट्र की छोटी सी पर बहुमूल्य संपत्ति है, उसकी अपनी भाषा है। इसमें प्रांतीय अभिमान बिलकुल नहीं है, जो बात अन्य भाषाओं के संबंध में नहीं कही जा सकती। प्रांतीय अभिमान के अभाव के साथ साथ इसमें अन्य प्रांतों के संबंध में अवज्ञासूचक कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इसकी राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इसके लेखकों का लक्ष्य हिंद होता है, कोई प्रांत-विशेष नहीं। बंगाली 'बंग आमार, जननी आमार, आमार देश' गा सकते हैं, 'महाराष्ट्र देश अमुचा' कहकर महाराष्ट्रवासी फूले अंग नहीं समा सकते हैं, पर हिंदी जिनकी मातृभाषा है उनके लिये तो 'भारत हमारा देश है' और 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' ही है। हिंदी राष्ट्र के लिये राष्ट्र के मुँह से बोलती है, क्योंकि वह राष्ट्र की भाषा है और हमारी मातृभाषा भी।

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा हो सकती है पर यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्रभाषा मातृभाषा ही हो। हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कि अन्यभाषा-भाषी सज्जन अपनी अपनी मातृभाषाओं का त्याग करके हिंदी को अपनावें।

राष्ट्रीयता का अनुरोध तो केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो जिसके द्वारा भिन्न भिन्न प्रांतों के सज्जन परस्पर संबंध स्थापन करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रांतीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाना कांग्रेस ने इसी लिये स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा हुए बिना राष्ट्र फूलने-फलने नहीं पाता, स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता जो उसका अपना कर्त्तव्य है। अतः यदि हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं, संसार में अपना गौरवमंडित पद ग्रहण करना चाहते हैं तो हमारा—भारत-संतान मात्र का कर्त्तव्य है कि वह हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में यथाशक्ति सहयोग करे।

× × × × ×

इस भाषण को समाप्त करने के पहले मैं एक और महत्त्व के विषय की ओर आप विद्वानों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। वह है हिंदी शब्दों के लिंगों की गड़बड़। मैं जानता हूँ कि इन बातों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। 'प्रयोगशरणाः वैयाकरणाः' यह हमारे प्राचीन विद्वानों का मत है और सच है। फिर भी इधर ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये उत्पन्न होती है कि हिंदी भाषा केवल उसे बोलनेवालों की संपत्ति नहीं है। यह राष्ट्रभाषा है और राष्ट्र के हित के लिये इसे यथासाध्य सुलभ करना हमारा कर्त्तव्य है। इस ओर सम्मेलन ध्यान दे भी चुका है। दिल्ली-सम्मेलन में "हिंदी भाषा की राष्ट्रीयता तथा उसके प्रचार की दृष्टि से हिंदी शब्दों के लिंगभेद का यथासंभव नियंत्रण करने के हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिये" एक समिति नियुक्त की गई और नागपुर सम्मेलन में इसमें दो सज्जनों के नाम और जोड़ दिए गए और श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन इसके संयोजक बनाए गए। समिति की ओर से संयोजक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने गत वर्ष अपनी रिपोर्ट स्थायी समिति में उपस्थित की। उस समिति ने यह प्रस्ताव गत वर्ष सम्मेलन में उपस्थित किया कि—'अस्थायी रूप से यह तीन सिद्धांत माने जायँ। (क) जीवधारियों के लिये

प्रयुक्त जिन शब्दों से लिंग स्पष्ट है उन शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार हो। (ख) निर्जीव पदार्थों तथा छोटे पशु-पक्षियों और कीड़ों के संबंध में शब्दों की आकृति पर लिंगनिर्णय किया जाय और इसके लिये भाषा के वर्तमान स्वरूप का ध्यान रखकर निश्चित नियम बनाये जायँ। (ग) फुटकर शब्दों के लिये अपवाद न रखे जायँ; किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामूहिक रीति से कुछ शब्दों में लागू हो।' इस पर निश्चय हुआ कि 'सम्मेलन स्थायी समिति की सिफारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करता है और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह लिंग के विषय में सम्मेलन की ओर से अंतिम निर्णय करे।' मुझे इस संबध में यही निवेदन करना है कि यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसकी सफलता पर राष्ट्रभाषा का प्रचार बहुत कुछ निर्भर है। साधारणतया जहाँ जाति से लिंग स्पष्ट नहीं होता, शब्दों के अंत्य और उपांत्य स्वरों और प्रत्ययों से लिंग निर्धारित होता है। कुछ अपवाद अवश्य हैं पर यदि वे सामूहिक न हों और किन्हीं उपनियमों में न आ सकते हों तो उनका लिंग साधारण नियम के अनुसार निर्धारित करना अथवा उन्हें उभयलिंगी मान लेना अनुचित न होगा। ऐसा करने से अन्यभाषा-भाषी लोगों के लिये हिंदी सीखना सहज हो जायगा। अवश्य ही इस संबंध में धीरे धीरे अग्रसर होना चाहिए क्योंकि जीवित भाषा बहती नदी है जिसकी धारा नित्य एक ही मार्ग से प्रवाहित नहीं होती।

साहित्य-परिषद् के सभापति का अभिभाषण

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के २७वें (शिमला-)अधिवेशन के अंतर्गत जो साहित्य-परिषद् हुई थी उसके सभापति डाक्टर धीरेंद्र वर्मा के महत्त्वपूर्ण अभिभाषण के मुख्य अंश नीचे उद्धृत हैं :—

हमारी अत्यंत प्राचीन भाषा का नया कलेवर—मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ी बोली हिंदी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थिति में होकर गुजर रहा है। इस नवीन परिस्थिति के

परिणाम-स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनें, नए भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के संबंध में हिंदियों तथा अहिंदियों दोनों के ही बीच फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। बात जरा बचकानी सी मालूम होती है किंतु मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में बहुत सी वर्त्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिंदी की परिभाषा, नाम तथा स्थान के संबंध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है। अतः सबसे पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

हिंदी की परिभाषा

आप कहेंगे कि हिंदी की परिभाषा के संबंध में मतभेद ही क्या हो सकता है, किंतु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिंदी-सेवियों का एक वर्ग हिंदी भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ में करता है। देश में हिंदी भाषा के रूप के संबंध में भिन्न भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। क्योंकि हम लोग हिंदी-साहित्य-परिषद् के रंगमंच पर बैठे विचार-विनिमय कर रहे हैं अतः हमारे लिये हिंदी भाषा का प्रधान-तया वह रूप महत्त्वपूर्ण है जिसमें हमारा साहित्य लिखा गया था तथा आज भी लिखा जा रहा है। मेरा तात्पर्य चंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु, रत्नाकर, प्रेमचंद, प्रसाद की भाषा से है। इनकी ही रचनाओं को तो आप हिंदी साहित्य की श्रेणी में रखते हैं तथा इन रचनाओं की भाषा को ही तो आप साहित्य के क्षेत्र में हिंदी भाषा नाम देते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं हिंदी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। हिंदी-प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरांत उसे ठीक

करें। हिंदी के क्षेत्र में कार्य करनेवालों के पथप्रदर्शन के लिये यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किस हिंदी के लिये हम और आप अपना तन, मन, धन लगा रहे हैं। हिंदी भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—"व्यापक अर्थ में हिंदी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त्त के मध्य-देश अर्थात् वर्त्तमान हिंदप्रांत (संयुक्तप्रांत), महाकोसल, राजस्थान, मध्यभारत, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूल जनता की मातृ-भाषा है। इन प्रदेशों के निवासी भाई भारत के अन्य प्रांतों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिंदी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ी बोली हिंदी है जो मध्यदेश की पढ़ी-लिखी मूलजनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठन-पाठन आदि की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाओं के समान खड़ी बोली हिंदी तथा हिंदी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण, शब्द-समूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, उर्दू आदि हिंदी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

साहित्यिक हिंदी

इस तरह हम यह पाते हैं कि यद्यपि हिंदी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किंतु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलनेवालों ने हिंदी के खड़ी बोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहि-त्यिक खड़ी बोली हिंदी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। कभी कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिंदी भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिंदी भाषा किसे कहा जाय यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह भ्रममात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधु-

निक हिंदी के रूप को समझना चाहते हैं तो कामायनी, साकेत, प्रिय-प्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किंतु यों आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्द-समूह लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई विशेष अंतर नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिंदी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम से कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को कायम रखे हुए है।

× × × ×

नाम-संबंधी भ्रम

हिंदी के संबंध में दूसरी गड़बड़ उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आखिर नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है किंतु आप अपने पुत्र का नाम रहीम खाँ रखें अथवा रामस्वरूप इससे कुछ तो अंतर हो ही जाता है। व्यक्तियों का प्राय: एक निश्चित नाम होता है। रहीम खाँ उर्फ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा सुना होगा। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरांत, अथवा आजकल की परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद-स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिंदी के लिये 'भाषा' या 'भाखा' शब्द का प्रयोग प्राय: किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रजभाषा, अवधीभाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ, सवा सौ वर्ष से जब से हिंदी के खड़ी बोली रूप को हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के

लिये अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिंदी रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानंद सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसंदेह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था, किंतु वह नहीं चल सका और वह बात वहीं समाप्त हो गई।

किंतु इधर हमारी भाषा के नाम के संबंध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नए नामों की ओर है-अर्थात् हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी तथा राष्ट्रभाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किंतु मुनुआ, पुतुआ तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम-परिवर्तन-संबंधी यह उद्योग हिंदी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-सेवी की ओर से नहीं आया है। इस विचार के सूत्रधार प्रायः देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिंता रखनेवाले महापुरुष हैं। हमारी भाषा के नाम के साथ यह खिलवाड़ करना अब उचित नहीं प्रतीत होता। हमारे राजनीतिज्ञ पंडित यदि यह सोचते हों कि हिंदी का नाम बदलकर वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतार सकेंगे तो यह उनका भ्रम मात्र है। हिंदी का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि 'हिंदी' नाम प्रारंभ में खड़ी बोली उर्दू भाषा के लिये प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिये जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिंदी छोड़कर हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख लिया। यदि हम हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम से भी अपनी भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा। 'राष्ट्र-

भाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग से स्वीकृत करवाना असंभव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली की है। यदि आप खड़ी बोली उर्दू शैली को तथा तत्संबंधी सांस्कृतिक वातावरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किंतु क्या हमसे अपनी भाषा, शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुड़ाई जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें किंतु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोड़ेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखनेवाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के संबंध में यह एक नई गड़बड़ उपस्थित न करें। यदि इससे कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था किंतु वास्तव में हिंदी को हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नामों से पुकारने से हिंदी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसादजी से स्वर्गीय इकबाल की भाषा में साहित्य-रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इकबाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना। यदि इसे आप असंभव समझते हों तो हिंदी उर्दू के बीच में एक नए नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं। हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नाम के कारण हिंदी की साहित्यिक शैली के संबंध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है। इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के संबंध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ।

हिंदी का घर

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिंदी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है। जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस—उसी प्रकार हिंदी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिए, यह बात प्रायः भुला दी

जाती है। इधर कुछ दिनों से हिंदी के राष्ट्रभाषा अर्थात् अखिल-भारतवर्षीय अंत:प्रांतीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अंत:प्रांतीय। हिंदी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त्त के मध्य-देश में गंगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रांतों तथा देशी राज्यों में विभक्त है। हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केंद्र संयुक्तप्रांत, महाकोसल, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में हैं। यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राजभाषा तो, अभी नहीं कह सकते। इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न हैं, जैसे बंगाल में बँगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी आदि। इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिंदी को प्रधान तथा अंत:प्रांतीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है। प्रत्येक की अपनी अपनी साहित्यिक भाषा है किंतु अंत:प्रांतीय कार्यों के लिये कुछ लोगों के वास्ते उन्हें हिंदी की भी आवश्यकता जान पड़ती है। हम हिंदियों की साहित्यिक भाषा भी हिंदी है, और अंत:प्रांतीय भाषा भी हिंदी ही है। हिंदी के बनने-बिगड़ने से किसी बंगाली, गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता इसलिये हिंदी के संबंध में विचार करते समय उसका किसी तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किंतु हिंदी भाषा या साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिंदियों की भविष्य की पीढ़ियों का बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के लिये भारतीय, ईरानी, जापानी आदि सभी लोग कामचलाऊ अँगरेजी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही गलत प्रयोग करते रहते हैं किंतु किसी अँगरेज का अपनी भाषा के हित-अनहित के संबंध में विशेष चिंतित होना स्वाभाविक है। इस संबंध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किए हैं। उनके सदा स्मरण रखने योग्य वचन निम्न-

लिखित हैं—"मैं पूछता हूँ कि क्यों हिंदी को हिंदी नहीं कहा जाता, क्यों मातृभाषा नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने में हम हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोड़ों का सुख दुःख अभिव्यक्त होता है ? राष्ट्रभाषा अर्थात् तिजारत की भाषा, राजनीति की भाषा, कामचलाऊ भाषा यही प्रधान हो गई और मातृभाषा, साहित्यभाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण। हमारे साहित्यिक दारिद्र्य का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा ?"

हिंदी अक्षयवट है

वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिंदी-भाषियों पर निर्भर है। हिंदी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रांतवासी राष्ट्रभाषा हिंदी सीख सकेंगे और उसके संबंध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस समय भ्रमवश परिस्थिति ही भिन्न होने जा रही है। हिंदी-भाषियों को अपनी भाषा आदि का रूप स्थिर करके राष्ट्रभाषा के हिमायतियों के सामने रखना चाहिए था। इस समय राष्ट्रभाषा-प्रचारक हिंदी का रूप स्थिर करके हम हिंदियों को भेंट करना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिंदी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मैं इसे अक्षयवट इसलिये कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य हिंदी भाषा के ही पूर्वरूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में स्थित हैं, किंतु इस विशाल वट वृक्ष के स्निग्ध हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बँगला, आसामी, उड़िया, तेलगू, तामिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नए-पुराने वृक्ष भी हैं। हम सबके हितैषी हैं। किंतु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वट वृक्ष ही है। इसके सींचने के लिये और

सुदृढ़ करने के लिये वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ़ वृक्ष की हरी-हरी पत्तियाँ आप ही उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा, सूर्य के आतप तथा प्रचण्ड वायु के कोप से करती रहेंगी। आज हम मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में पाया जानेवाला हिंदी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र-समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा। उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है, जड़ को सींचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को सुदृढ़ करना मुख्य कार्य है और हिंदी-हितैषियों की शक्ति का प्रधान अंश इसमें व्यय होना चाहिए, 'नष्टे मूले नैव पत्रं न शाखा।' अंत:प्रांतीय भाषा के रूप में हिंदी का अन्य प्रांतों में प्रचार भावी-भारत की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया राजनीतिज्ञों का है और इसका संबंध अन्य प्रांतों के हित-अनहित से भी है, अतः इस क्षेत्र में इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिंदी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र में काम करनेवालों की सहायता करने के लिये सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए किंतु इस संबंध में हिंदी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में सिद्धांत-संबंधी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल भ्रमों का निवारण हो जाय तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वयं लुप्त हो जायँगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका किंतु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उचित विकास तथा नवसाहित्य-निर्माण में और भी अनेक छोटी छोटी बाधाएँ उपस्थित हैं। इनका संबंध प्रधानतया हिंदी-भाषियों से है। इनमें से

भी कुछ के संबंध में अपने विचार संक्षेप में आपके सामने विचारार्थ उपस्थित करना चाहता हूँ।

हिंदी और उर्दू

हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिंदीभाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस सत्य से आँख नहीं मीचना चाहिए कि साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से हिंदी प्रदेश में हिंदी उर्दू के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएँ बह रही हैं। पश्चिमीय मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमीय संयुक्त प्रांत तथा राजस्थान के जयपुर आदि राज्यों में तो उर्दू धारा आज भी पर्याप्त रूप में बलवती है, किंतु शेष मध्यदेश में अर्थात् पूर्वीय प्रांत, बिहार, मध्यभारत तथा महाकोसल में हिंदी का आधिपत्य जनता पर काफी है। हिंदी प्रदेश की यह द्विभाषा-समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तामिल, कर्नाटक आदि भारत के किसी भी अन्य प्रदेश के सामने यह संकट कम से कम अभी तो वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिये बँगला भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन कुछ भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं भी हिन्दी-उर्दू-मिलन को असंभव समझता हूँ—वास्तव में जमीन-आसमान का अंतर है। हिंदी लिपि, शब्दसमूह तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक काल से लेकर अपभ्रंश काल तक की भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत है। उर्दू लिपि, शब्दसमूह तथा साहित्यिक आदर्श हिंदी प्रदेश में कल आए हैं और भारतीय दृष्टिकोण से लबालब हैं। हिंदियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिंदी है और हो सकती है। किंतु हिंदी के संबंध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है। वह यह कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है। मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में रहनेवाले प्रत्येक हिंदी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव, मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी चीज समझकर सबसे पहले और प्रधान

रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या सांप्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे, इसमें मुझे आपत्ति नहीं; किंतु उसका स्थान हिंदी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृभाषा हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंद प्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा है उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किंतु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस विचार को रखना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिंदी प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म और जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किंतु मैं उर्दू को हिंदी प्रदेश में हिंदी के बराबर नहीं रख पाता हूँ, मैं उसे द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिंदी उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना है। राजनीतिक प्रभावों से असंभव भी संभव हो जाता है किंतु अब तो देश की गति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

बोलचाल और साहित्य की भाषा

हिंदी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बतलाई जाती है कि वह सर्वसाधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है, किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्वसाधारण में अंतर का कम होना देश के लिये सदा हितकर है; किंतु समस्त समाज को—फलतः समस्त साहित्य को—एक श्रेणी के अंतर्गत ला सकना मेरी समझ में स्वप्न मात्र है। साहित्य को सर्वसाधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ साथ सर्वसाधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थियेटर-कंपनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं, जिनका प्रधान उद्देश्य

सर्वसाधारण की माँग को पूरा करना मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नहीं है, किंतु साथ ही शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और नीचतम वर्गों में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति-संबंधी सभी बातों में विशेष अंतर है। जैसे जैसे यह संस्कृति-संबंधी अंतर कम होता जायगा, वैसे वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्च साहित्य भी सर्वसाधारण के निकट पहुँचता जायगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़नेवालों की अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

—क

—

समीक्षा

धन की उत्पत्ति—लेखक पं० दयाशंकर दुबे, अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय, तथा श्री भगवानदास केला। मिलने का पता—भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन। पृष्ठ-संख्या २७९। मूल्य १॥) सजिल्द।

प्रतिदिन यह स्पष्ट होता जाता है कि वर्तमान राजस्व की नींव आर्थिक है। इसलिये बिना अर्थशास्त्र का यथोचित ज्ञान हुए आजकल के राजनीतिक घात-प्रतिघात का समझना असंभव है। और विशेष कर समाजवाद के सिद्धांत तो समझ में ही नहीं आ सकते, क्योंकि उसकी भित्ति ही धन की उत्पत्ति और उसके वितरण पर है। अँगरेजी में इन विषयों पर ऊँची से ऊँची और साधारण से साधारण दर्जनों पुस्तकें हैं। हिंदी में भी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। इससे केवल विश्वविद्यालयों और कालेजों को ही नहीं लाभ होगा, प्रत्युत साधारण पाठकों के लिये भी ये पुस्तकें लाभकारी होंगी।

प्रस्तुत पुस्तक अर्थशास्त्र के एक आवश्यक विषय पर लिखी गई है। यह पुस्तक इक्कीस अध्यायों में विभक्त है और इसमें धन की उत्पत्ति के अनेक साधनों का विस्तृत और शास्त्रीय विवेचन है। उत्पत्ति का मुख्य कारण श्रम है। आजकल श्रम का बड़ा महत्त्व भी है और कई देशों में तो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से श्रमिकों का ही राज्य है। चार अध्याय श्रम और उस संबंध के अनेक प्रश्नों पर विवाद में लिखे गए हैं। इसी प्रकार पूँजी पर भी दो अध्याय लिखे गए हैं। उत्पत्ति-संबंधी सभी आवश्यक अंगों पर बड़ी सरल भाषा में दृष्टिपात किया गया है।

कहीं कहीं केवल विवाद ही है। उदाहरणतः जन-संख्यावाले अध्याय में मालथस का सिद्धांत, उसका खंडन, एवं भारतवासियों के तथा और देशवालों के इस संबंध में विचार दिए गए हैं। हमारे देश-वासियों के लिये क्या श्रेयस्कर होगा, यह ठीक ठीक नहीं बताया गया

है। आदर्शवाद को छोड़कर हमें यथार्थ स्थिति पर दृष्टि डालना है। और अर्थशास्त्रियों को स्पष्ट रूप से सच्चा मार्ग दिखलाना चाहिए।

एकाधिकार (Monopoly) का अध्याय भी बड़ा मनोरंजक है। बिजली के पंखे के उदाहरण से इसे खूब स्पष्ट किया है।

उत्पत्ति सरकार द्वारा हो या व्यक्तियों द्वारा अथवा सहकारिता द्वारा? इस विषय पर भी और अधिक विचार होना आवश्यक था। विचार किया गया है और जितना किया गया है वह स्पष्ट है और ठीक है। रूस का उदाहरण दिया गया है और यह कहा गया है कि श्रमजीवियों का शासन होने ही पर सफलता हो सकती है। मेरा ख्याल है कि सर्वथा श्रमजीवियों का शासन न होने पर भी, प्रजातंत्र शासन में भी राज्य द्वारा ही उत्पत्ति में जनता को लाभ हो सकता है। हाँ, साम्राज्यवादी शासन में लाभ होने की गुंजाइश नहीं है।

जिस सीमा के भीतर पुस्तक लिखी गई है, बहुत अच्छी और उपादेय है। पुस्तक भारतीय दृष्टिकोण से लिखी गई है। साधारण लोग भी इससे लाभ उठा सकते हैं और जहाँ अर्थशास्त्र की शिक्षा हिंदी के माध्यम से दी जाती हो वहाँ के विद्यार्थियों के लिये भी पुस्तक उपयुक्त है। पुस्तक का मूल्य भी ठीक रखा गया है।

भारतीय शासन—लेखक श्री भगवानदास केला; भारतीय ग्रंथ-माला, वृंदावन से प्राप्य; आठवाँ संस्करण; पृष्ठ-संख्या २६०। मूल्य १।)

ज्यों ज्यों हममें जाग्रति बढ़ती जाती है और अपने स्वत्वों पर ध्यान डटता जाता है, अपने देश की शासन-प्रणाली की जानकारी की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इधर अँगरेजी स्कूलों में भी यह विषय अनिवार्य हो गया है। ऐसे अवसर पर भारतीय शासन पर एक अच्छी पुस्तक बड़े समय की चीज है। पुस्तक दो खंडों में विभाजित है। पहले खंड में १८ परिच्छेद और दूसरे में ७ परिच्छेद हैं। भारत-मंत्री से लेकर जिले के शासन तक पहले खंड में और आगामी संघ-शासन पर दूसरे खंड में प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक केवल शासन के यंत्र का विवरण है। नागरिकता और उसकी फिलासफी

नहीं है। स्थान स्थान पर यदि सन् १९०९, १९१९ के विधान से तुलना भी की गई होती तो अच्छा होता। और अंत में कांग्रेस और मुसलिम लीग का संघ-शासन के प्रति जो भाव है, वह दिया गया होता तो पुस्तक और भी जानदार हो गई होती।

लेखक ने अंत में यह तो लिख दिया है कि संघ-शासन में क्या क्या सुधार होने चाहिएँ परंतु यह भी लिखना चाहिए था कि उन सुधारों से किस रूप का शासन हो जायगा। अर्थात् वह 'डोमिनियन स्टेटस' होगा या स्वतत्रंता या कोई और रूप जो नवीन ढंग का हो। अंत में 'इंस्ट्रूमेंट आव् इंस्ट्रक्शंज़' की प्रतिलिपि भी देना अनिवार्य था।

शासन-यंत्र का और विधान का पूरा ज्ञान इस पुस्तक से हो जाता है और जिन्हें भारतीय शासन-विधान की जानकारी करनी हो उनके लिये जो अनेक पुस्तकें मेरी दृष्टि में आई हैं उनसे अच्छी है। विद्यार्थियों के लिये विशेषतः यह बहुत उपयोगी है।

—कृष्णदेवप्रसाद गौड़

एनुअल बिब्लिओग्राफी ऑव् इंडियन आर्क्यालाजी, खंड ११; प्रकाशक कर्न इंस्टिट्यूट, लीडेन (हालैंड); पृष्ठ १२५, चित्र १३; १९३८।

लीडेन की कर्न इंस्टिट्यूट भारतीय पुरातत्त्व के कुशल महापंडित डाक्टर एच्० कर्न के नाम पर स्थापित है। भारत तथा विशाल-भारत की प्राचीन भाषाओं तथा साहित्यों के विषय में डक्टर कर्न की कृतियों का विद्वत्समाज ऋणी है। उनके सुयोग्य शिष्य डाक्टर फोगेल इस देश में कुछ काल पुरातत्त्व-शोध का कार्य कर चुके हैं और अब लीडेन विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य हैं। उन्होंने ही इस एनुअल बिब्लिओग्राफी (वार्षिक कृतिसूची) के प्रकाशन का समारंभ किया है। गत दस वर्षों से यह सूची भारतीय तथा विशालभारतीय अध्ययन और शोध का बड़ा ही उपकार कर रही है। इसके संपादकों में डा० विमलचरण ला, डा० परणवितान, डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, डा०

कुमारस्वामी, रायबहादुर दयाराम साहनी, डा० हीरानंद शास्त्री प्रभृति भारतीय विद्वानों को देखकर हमें हर्ष होता है और इसकी उपयोगिता का आभास मिल जाता है।

सूची की महत्ता तथा मर्यादा उत्तरोत्तर बढ़ ही रही है। वर्तमान अंक इसे प्रमाणित करता है। भूमिका में पूर्ववत् ब्रिटिश भारत, देशी रियासत तथा विशालभारत के देशों के कार्यों के बहुमूल्य पर्यालोचन[1] हैं। इनके लेखक विभिन्न क्षेत्रों के अधिकारी विद्वान् ही हैं। भूमिका के रूप में ये पर्यालोचन ऐसा व्यापक सिंहावलोकन उपस्थित करते हैं जो पुरातत्त्वशोधकों के लिये बहुत ही आवश्यक तथा उपादेय हैं। आगे सूची में पुस्तकों, स्वतंत्र लेखों तथा समीक्षाओं, सभी के विवरण-चत्र और विषय के क्रम से—दिए हैं और अंत में इनकी अनुक्रमणिका भी है। परिशिष्ट के रूप में राजगृह, नालंदा, लौरिया, नंदनगढ़ और प्राचीन पैठान (हैदराबाद) की खुदाई तथा प्राप्त वस्तुओं के १३ अच्छे फोटो हैं। खेद है कि धनाभाव से सूची के प्रकाशक और फोटो न दे सके।

ऐसी संस्थाओं को भी धनाभाव का ग्रह लगा रहता है! इंस्टिट्यूट को भारत तथा लंका की सरकार और अनेक देशी रियासतों से नियमित सहायता मिलती है। किंतु इनकी उदारता की उसे और अपेक्षा है। तभी वह अपनी पूरी सेवाएँ विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर सकेगी।

सूची के संपादकों की भारतीय विद्वानों से विशेष प्रार्थना है कि वे अपनी कृतियों की प्रतिलिपियाँ कर्न इंस्टिट्यूट में यथासमय भेज दिया करें जिससे उनकी सूचना सूची में निकल सके और वह यथासंभव पूर्ण प्रकाशित हो।

भारत जैसे देश की प्रधान भाषा हिंदी को अभी ऐसी संपन्न इंस्टिट्यूट और ऐसी उपादेय वार्षिक कृतिसूची का सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

१—पत्रिका के गत अंक के 'चयन' में इनमें से दो प्रधान पर्यालोचनों के मुख्यांश हमने प्रस्तुत किए थे।—संपादक।

रूपाभ—युग का प्रतिनिधि मासिक पत्र; संपादक, श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री नरेंद्र शर्मा; प्रकाशगृह, कालाकाँकर (अवध); वार्षिक मूल्य ४)।

वर्तमान युग के प्रतिनिधित्व के उद्देश्य से प्रकाशित इस मासिक का हम सहर्ष स्वागत करते हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत तथा श्री नरेंद्र शर्मा के इस संयुक्त प्रयास से हमें बहुत आशा होती है। 'कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर' ये कवि 'इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आए' इस संबंध में उन्होंने स्वयं लिखा है। उनकी दृष्टि में "श्रद्धा-अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है।" उन्होंने समझा है कि "इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिरसंचित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।" कवि स्वभावतः भावग्राही होता है और अपनी प्रौढ़ता में यथार्थ द्रष्टा होता है। अपने कवियों से हम यह आशा करते रहे हैं कि वे हमारे युग के अंतर में डूबकर, ऊपरी घटनाओं के नीचे, उसके हृदय के स्पंदन-कंपन की गति देखेंगे, उसकी प्रेरक-वृत्तियों का स्वरूप जानेंगे और अपनी प्रतिभा से ऐसी व्यंजनाएँ करेंगे और ऐसे संदेश देंगे कि युग अपने को समझ सके, अपने श्रेय आदर्शों के दर्शन कर सके और अपनी गति-विधि का कुछ निश्चय कर सके। काव्य वस्तुतः जीवन-दर्शन है, अतएव उसे जीवनव्यापी होना चाहिए। हमें हर्ष है कि हमारे कुछ कवियों की दृष्टि इस व्यापकता की ओर लग रही है।

'रूपाभ' के कवि-संपादकों ने अपना ध्येय निश्चित कर लिया है। वे कहते हैं, "वर्तमान युग में जो अनेक परस्पर-विरोधी ज्ञान-विज्ञान-संबंधी विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा है हम अपने पाठकों के साथ 'रूपाभ' द्वारा उनका अध्ययन मात्र करना चाहते हैं। और उसके फलस्वरूप, अपने देश और समाज में व्याप्त अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के ऊपर, उस

नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसकी सहायता से हम जाति वर्ग, देश-राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर तथा धर्म और नीति संबंधी विरोधी भावनाओं को सुलझाकर जनसाधारण के मन में नवीन मानवता की भावनाओं को जाग्रत् करने का प्रयत्न कर सकें, और अपने मध्ययुग के संकीर्ण व्यक्तिवाद से हृदय को मुक्त कर सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर होने का संदेश दे सकें।"

कवि पंत कल्पना से दर्शन की ओर प्रवृत्त हुए थे। अब वे समाजनीति की ओर आ रहे हैं। 'युग' ने उन्हें ऐसा प्रभावित किया है। वे अपने समानधर्म्मा सहकारी के साथ इस युग को कैसा प्रभावित करते हैं, अब हम यह देखेंगे। हम तो आशा करते हैं कि उनका 'रूपाभ' किन्हीं वादों की उलझन में न पड़कर स्वस्थ भावों की, यथार्थ मानवता की, आभा बिखरावेगा, उनका संदेशवाहक बनेगा और इसके द्वारा हमारे साहित्य को भली प्रगति मिलेगी।

पत्र के चार अंक हमारे समक्ष हैं। साहित्य के विविध रूपों में जैसी वस्तुएँ इन अंकों में प्रस्तुत हैं वे इसके अनुरूप हैं और उनकी एक विशिष्ट मर्यादा है। अच्छे लेखकों का सहयोग इस पत्र को सहज ही प्राप्त होगा और हमारे साहित्य में यह एक सफल प्रगतिशील पत्र होगा, इन अंकों से ही यह आशा होती है। —कृ

समीक्षार्थ प्राप्त

संस्कृत भाषा का सरल व्याकरण, प्रथम भाग; ले० श्री पुरुषोत्तमलाल शर्मा; प्र० आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर १९३७; मूल्य नहीं लिखा है।

भूगोल; मासिक पत्र जुलाई १९३८; श्री० रामनारायण मिश्र; भूगोल कार्यालय, प्रयाग।

हर्षवर्धन; ले० गौरीशंकर चटर्जी; प्र० हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग; १९३८; मू० ढाई रुपया।

माता; अनु० श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे; प्र० मदनगोपाल गाड़ोदिया, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता, १९३८; मूल्य आठ आना।

श्लोक-संग्रह; सं० ठाकुर भूरसिंह शेखावत, जयपुर; प्र० वैदिक यंत्रालय, अजमेर, १९८४; मूल्य नहीं दिया है।

वचन कुसुम—श्री विजयधर्मसूरि के; सं० मुनि विद्याविजय जी अजमेर; प्र० फूलचंद्र जी वेद; श्री यशोविजय ग्रंथमाला, भावनगर।

उमर खैयाम की रुबाइयाँ; अनु० श्री रघुवंशलाल गुप्त, आई० सी० एस०, दिल्ली; प्र० किताबिस्तान, १७ ए कमला नेहरू रोड, प्रयाग, १९३८।

विभूति पुस्तक-माला नं० १, ३; प्र० कल्पनाथसहाय, रामनगर।

भारतीय कृपाण; ले० श्री काशीप्रसाद श्रीवास्तव, काशी; प्र० रामविलास सिंह, नेशनल बुकडिपो, बनारस, १९३५; मू० आठ आना।

वसन्त; ले० श्री सीताराम चतुर्वेदी 'हृदय', काशी।

हिंदी नाट्य-साहित्य; ले० श्री ब्रजरत्नदास; प्र० हिंदी साहित्य-कुटीर काशी, १९३८; मूल्य पौने दो रुपया।

विविध

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

गत ३ भाद्रपद (१९ अगस्त १९३८) को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में संयुक्त प्रांत के शिक्षा-मंत्री माननीय श्री संपूर्णानंद ने पधारने की कृपा की थी। सभा ने उनके अभिनंदन का आयोजन किया था। उस अवसर पर सभा को प्रोत्साहित करते हुए माननीय मंत्री महोदय ने राष्ट्रभाषा हिंदी के विषय में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किए थे। उस भाषण पर अनेक उर्दू पत्रों को बड़ी आपत्ति हुई और उन्होंने एक आंदोलन के रूप में उसका विरोध किया। श्री संपूर्णानंदजी ने इस संबंध में महात्मा गांधी का परामर्श प्राप्त करना आवश्यक समझा। श्री महादेव देसाई के द्वारा उन्होंने गांधीजी को जो पत्र लिखा और गांधीजी ने जो उत्तर दिया उन दोनों को हम, विषय की महत्ता की दृष्टि से, यहाँ उद्धृत करते हैं—

श्री संपूर्णानंदजी का पत्र

लखनऊ, ५ सितम्बर १९३८

प्रिय महादेव भाई,

नमस्कार। मैं यह पत्र संकोच के साथ लिख रहा हूँ क्योंकि महात्माजी इस समय मौन धारण किए हुए हैं और उनके सामने कई बड़े प्रश्न हैं। फिर भी मैं जो बात लिख रहा हूँ उसका विशेष महत्त्व है, इसलिये प्रार्थना है कि आप कृपया यह पत्र उन्हें सुना दें और वे जो आदेश दें वह मुझे सूचित कर दें।

इधर मैं बनारस गया था। वहाँ काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से मुझे एक अभिनंदन-पत्र दिया गया। उसके उत्तर में मैंने जो भाषण किया उसपर उर्दू पत्रों में बड़ी टीका-टिप्पणी हो रही है। कई पत्र, जो कांग्रेस के घोर शत्रु हैं, आज कांग्रेस के प्रस्तावों की दुहाई

दे रहे हैं और उनको मेरी बातों में सांप्रदायिकता की दुर्गंध आती है। मेरे कहने का तात्पर्य यह था—कोई भाषा हो, उसका स्वरूप उसके क्रियापदों पर, जो भाषा के मूलस्तंभ (बेसेज) हैं, निर्भर करता है। भाषा में अन्य भाषाओं से चाहे जितने शब्द लिए जायँ, उसका मूलरूप और नाम वही रहता है। मराठी, गुजराती, बँगला में फारसी के शब्द हैं, अँगरेजी में लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच इत्यादि के शब्द हैं, ईरानी में फारसी-अरबी के शब्द हैं, फिर भी इनके नाम नहीं बदले। इस तरह तो हमारी भाषा का नाम, चाहे उसमें फारसी-अरबी के कितने ही शब्द आए हों, हिंदी होना चाहिए था। पुराने मुसलमान कवियों ने भी इसे बराबर हिंदी जुबान कहा है। परंतु बीच में यह प्रथा चल पड़ी कि इसके उस रूप को जिसमें संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्द अधिक हों हिंदी, और जिसमें फारसी-अरबी के शब्द हों उसे उर्दू कहा जाय। अब हिंदुस्तानी शब्द चलाया जा रहा है। इसमें किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। पर इसका स्वरूप समझ लेना चाहिए। हिंदुस्तानी में न तो हठात् संस्कृत अरबी फारसी के शब्द ठूँसे जाने चाहिए, न प्रचलित शब्द उसमें से निकाले जाने चाहिए। अँगरेजी में एक ही अर्थ में कई शब्द हैं जो भिन्न भिन्न मार्गों से उसमें आए हैं। यही हिंदुस्तानी में होना चाहिए। इससे भाषा का शब्दभंडार भरा रहता है, साहित्य में सुगमता होती है और क्रमशः 'शेड्स आव् मीनिंग' उत्पन्न हो जाते हैं। आजकल खराबी यह है कि कुछ लोग हिंदुस्तानी के नाम से उर्दू का प्रचार करना चाहते हैं। दिल्ली और लखनऊ के 'रेडियो स्टेशन' गेहूँ न कहकर 'गंदुम' कहते हैं, 'पंच' जैसे सीधे सादे शब्द को छोड़कर 'सालिस' कहते हैं। पुस्तकों की समालोचना करते समय उर्दू की पुस्तकों को तो हिंदुस्तानी पुस्तक कहते हैं, पर हिंदी को हिंदी रहने देते हैं। इससे बुरा असर पड़ता है।

एक बात मैंने और कही थी। अँगरेजों ने अपनी भाषा जबरदस्ती चला दी पर युक्तप्रांतवाले तो सारे भारत में अपनी भाषा जबरदस्ती नहीं चला सकते। हमको भाषा के स्वरूप का निश्चय करते

समय यह देखना होगा कि राष्ट्रभाषा होने के कारण उसे हमारे गुजरात, बंगाल और मद्रास आदि के लोगों को भी व्यवहार में लाना है। इन लोगों के खयाल से हमको संस्कृत से निकले शब्दों को पर्य्याप्त संख्या में रखना पड़ेगा। लिपियाँ तो दोनों हालत में अभी रहेंगी।

मेरा विश्वास है कि इसमें कोई बात ऐसी नहीं है जो कांग्रेस के किसी सिद्धांत या मंतव्य के विरुद्ध हो या देश की राजनीतिक, साहित्यिक या सांस्कृतिक प्रगति के लिये हानिकर हो। यदि हमने ईरान या तुर्की की भाँति अपनी भाषा में से संस्कृत या फारसी-अरबी के शब्दों को निकालना शुरू किया तो बड़ा अंधेर होगा। फिर संस्कृत शब्दों का तो यहाँ की जनसंख्या के बहुत बड़े अंश के जीवन से ऐसा घना संबंध है कि उनके बहिष्कार से जो भाषा बनेगी वह कृत्रिम होगी।

यदि आप इस संबंध में अवसर देखकर महात्मा जी से परामर्श ले सकें और मुझे सूचित कर सकें तो मैं ऋणी हूँगा।

आपका

संपूर्णानंद

पुनश्च—मेरी यह राय बहैसियत भारतीय, साधारण हिंदी-सेवी, और कांग्रेसमैन के है। पर इस समय मैं कांग्रेस मिनिस्टर हूँ। मेरा विश्वास है कि मेरा जो मत है वह इस पद के दायित्व के प्रतिकूल नहीं है पर महात्माजी की सम्मति मुझे अपनी स्थिति समझने में मदद देगी। यदि मैं देखूँगा कि भाषा-संबंधी मेरी इस राय का मेरे सरकारी पद के साथ सामंजस्य नहीं है तो मैं इस प्रश्न पर अपना कर्तव्य निर्धारित करने का यत्न करूँगा।

महात्मा गांधी का उत्तर

सेगाँव, वर्धा ८—६—३८

भाई संपूर्णानंद,

आपने लिखा है वह सब मुझे मान्य है। कांग्रेस ने भाषा का नाम-संस्करण किया है और कोई कैद रखा नहीं है। जो सब्बे हैं वे तो किसी शब्द का, हिंदू या मुस्लिम होने के कारण, बहिष्कार नहीं

करेंगे। औरों का क्या कहना। और आज तो फैशन बन गई है कि कांग्रेस या कांग्रेसी जो कुछ करें उसका विरोध ही करना। इस बारे में मेरा अभिप्राय ही चाहते हैं कि और कुछ? क्योंकि मैंने इस बारे में काफी कहा और लिखा भी है।

आपका
मो० क० गांधी

हमें हर्ष है कि श्री संपूर्णानंदजी की सभी बातें गांधीजी को 'मान्य' हैं। उन्हें मान्य और प्रामाणिक तो सिद्ध होना ही था। हिंदी ही हमारी राष्ट्रभाषा है, उसका यही नाम है, हम तो इस बात को भी वैसा ही सिद्ध समझते हैं। हम आशा करते हैं कि राष्ट्रीय उन्नति के इस युग में हिंदी के हित का, जिसमें हमारे राष्ट्र की संस्कृति का हित है, अधिकारी तथा उत्तरदायी विचारक काफी दृढ़ता से संरक्षण करेंगे।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का २७ वाँ अधिवेशन

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का २७वाँ अधिवेशन शिमला-शैल पर बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ है। हमारी दृष्टि में यह अधिवेशन विशेष महत्त्वपूर्ण हुआ। इस कारण नहीं कि इसका समारोह नगाधिराज की उत्कृष्ट छाया में, विशेष ऊँचे उत्साह के साथ हुआ, किंतु इस कारण कि उस ऊँचाई से सम्मेलन ने हिंदी के विषय में एक विशेष अर्थपूर्ण निश्चय की घोषणा की है।

कुछ काल से हिंदी-सेवियों की यह धारणा बन रही थी कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में हिंदी की उपेक्षा हो रही है और उसे पदे पदे सकुचाना पड़ रहा है। वे समझने लगे थे कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन राष्ट्रीय परिस्थिति से अभिभूत होकर राष्ट्रभाषा-सम्मेलन मात्र रह गया है। सम्मेलन में दो विचार-धाराएँ हो चली थीं, जिनमें उन्हें हिंदी की धारा क्षीण सी दिखाई देती थी। हिंदी की महत्ता और व्यापकता स्वीकार कर उसे राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी मानने के विपरीत राष्ट्रभाषा की आवश्यकताओं की राष्ट्रीय कल्पना कर हिंदी

को उसके अनुकूल ले चलने के प्रयत्न किए जा रहे थे। इसके लिये हिंदी को और नामों के साथ संधि कर लेने का परामर्श भी मिलने लगा था। अतः हिंदी के जानकार, हिंदी-सेवी, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को शंका की दृष्टि से देखने लगे थे।

संयोग से इस वर्ष सम्मेलन के सभापति-पद के लिये 'आज' के कुशल संपादक पंडित बाबूराव विष्णु पराड़कर निर्वाचित हुए। इस निर्वाचन में ही संधि की सूचना थी। पराड़करजी हिंदीसेवी होते हुए राष्ट्र-सेवी हैं, अतः दोनों के विश्वासभाजन हुए। उधर सम्मेलन के अंतर्गत साहित्य-परिषद् के सभापति हिंदी के सुयोग्य विद्वान् डाक्टर धीरेंद्र वर्मा हुए। वर्माजी हिंदी का पक्ष बलपूर्वक अनेक लेखों में रख चुके थे। वे सहज ही हिंदीसेवियों के प्रतिनिधि और नेता हुए। दोनों सभापतियों ने नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा और साहित्य का पक्ष काफी निश्चित भाषा में दृढ़तापूर्वक रखा। हिंदी के हित में लिखे दोनों अभिभाषण संग्रहणीय हैं। पत्रिका के इस अंक के 'चयन' में दोनों भाषणों के मुख्यांश हमने उद्धृत किए हैं।

समस्या यह थी कि सम्मेलन के इंदौरवाले अधिवेशन में महात्मा गांधी के सभापतित्व में हिंदी के संबंध में एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था जिससे हिंदी की परिभाषा इतनी व्यापक कर दी गई थी कि उसमें राष्ट्रभाषा, हिंदुस्तानी अथवा उर्दू का भी समावेश हो जाता था अथवा उन विविध नामों तथा रूपोंवाली भाषाओं से इसकी एकरूपता हो जाती थी। फलतः हिंदुस्तानी अथवा उर्दू हिंदी में मिलीं तो नहीं, हिंदी का ही अहित हुआ। शिमले में इस बार प्रतिनिधियों ने इस स्थिति का सुधार किया और हिंदी की रक्षा की। बड़े ऊहापोह के अनंतर राष्ट्रवादियों और हिंदीवादियों के बीच संधि यह हुई कि राष्ट्रभाषा हिंदी-संबंधी इंदौर का प्रस्ताव तो रहने दिया जाय, एक नए प्रस्ताव के द्वारा हिंदी-साहित्य के उपयुक्त भाषा का निश्चय हो जाय। यह नया प्रस्ताव इस प्रकार है :—"इस सम्मेलन के विचार में हिंदी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के लिये ऐसी भाषा

उपयुक्त है जिसका परंपरागत संबंध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है, जिसकी शक्ति कबीर, तुलसी, सूर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चंद्र की कृतियों से आई है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दों का भंडार है और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा संस्कृत के क्रम पर ढाले गए हैं, किंतु जिसमें विदेशी रूढिसुलभ और प्रचलित शब्दों का भी स्थान है।"

इस प्रकार व्यावहारिक और साहित्यिक हिंदी का विश्लेषण किया गया। वर्तमान परिस्थिति में इस विश्लेषण की आवश्यकता थी। व्यावहारिक हिंदी तो अपना रूप बनाती ही रहेगी, साहित्यिक हिंदी की इस रक्षा के द्वारा हिंदी-साहित्य की संस्कृति अपना स्वस्थ विकास करती जायगी। इस प्रस्ताव के लिये सम्मेलन बधाई का पात्र है। हमें तो विश्वास है कि हिंदी को इन प्रस्तावों की अपेक्षा न रहेगी। वह इस देश की सर्वमान्य प्रधान भाषा होगी, व्यावहारिक तथा साहित्यिक ये दो उसके आवश्यक किंतु मूलतः अभेद्य रूप होंगे।

रूपमती का एक नया पद

श्री ब्रजरत्नदासजी लिखते हैं :—

"इसी पत्रिका के भाग २ सं० १९७९ के पृष्ठों में, १६५ से १९२ तक, एक लेख 'बाजबहादुर और रूपमती' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसे सुप्रसिद्ध इतिहासविद् मुं० देवीप्रसाद ने लिखा था। इस लेख में रूपमती का केवल एक दोहा और एक पद मात्र छपा है, जिन्हें बहुत खोज पर उक्त मुंशीजी ने प्राप्त किया था। मेरे संग्रह में एक प्रति उर्दू लिपि में ऐसी है जिसमें पक्के गानों का संग्रह है और उसमें एक गाना रूपमती का भी दिया हुआ है। पाठकों के मनोरंजनार्थ वह गान यहाँ दिया जाता है—

श्याम मोरे तईं सेज समाए
लोग जानें कजरा। श्याम मोरे......
रूपमती के बाजबहादुर
प्रेम प्रीत का झगरा।
श्याम मोरे......"

सभा की प्रगति

प्रबंध-समिति के सदस्य

सभा की प्रबंधकारिणी समिति के काशीस्थ सदस्य श्रीयुत बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने अस्वस्थता के कारण सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर २० कार्तिक १९९५ को श्रीयुत बाबू मुरारीलाल केडिया प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए।

श्रीयुत बाबू मुरारीलाल केडिया के स्थान पर श्रीयुत बाबू बैजनाथ केडिया संवत् १९९५ के लिये आय-व्यय-निरीक्षक चुने गए।

पुस्तकालय

इस वर्ष अनेक लेखकों तथा प्रकाशकों ने सभा को पुस्तकें भेंट की हैं जिनकी सूची वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित होगी। सभा उनकी हृदय से कृतज्ञ है।

पुस्तकों की बढ़ती हुई संख्या के हिसाब से जगह की कमी बड़ी कष्टदायक हो रही है। दो आलमारियाँ नई बनी हैं और और बनवाने का प्रबंध किया जा रहा है। पर अब तो आलमारियाँ रखने की भी जगह नहीं रही है।

पुस्तकों की सूची का काम इस वर्ष पूरा हो जाने की आशा थी। किंतु धन की कमी से वह काम फिर रुकना चाहता है। पुस्तकालय के प्रति हमारे हिंदी-प्रेमी दातागण अभी बहुत उदासीन हैं।

संकेत-लिपि-कक्षा

हर्ष की बात है कि संकेत-लिपि-विद्यालय का कार्य भली भाँति चल रहा है। अब संकेत-लिपि के साथ हिंदी टाइप राइटिंग की भी शिक्षा देना आरंभ हो गया है। कलकत्ते के सेठ श्रीयुत ब्रजमोहन बिड़लाजी ने कृपा कर टाइप राइटर खरीदने के लिये सभा को रुपया दिया था, जिससे एक बड़ा नया टाइप राइटर खरीद लिया गया है।

एक पुराना बड़ा टाइप राइटर भी कलकत्ते ही के "श्री हीरालाल अग्र-वाल एंड संस" की कोठी से सभा को प्राप्त हुआ है। सभा इन दोनों महानुभावों की हृदय से अनुगृहीत है।

टाइप राइटिंग सीखनेवालों के लिये अब ३) मासिक शुल्क रख दिया गया है।

कलाभवन

कलाभवन में भी व्यवस्थित रूप से काम हो रहा है। वस्तुओं की सूची प्रायः तैयार हो चुकी है। इस वर्ष टेराकोटा विभाग भी खोला गया है जिसका उद्‌घाटन युक्तप्रांत के माननीय प्रधान मंत्री पं० गोविंदवल्लभ पंत ने किया था। कितनी ही नई वस्तुएँ भी कलाभवन को प्राप्त हुई हैं। पर स्थानाभाव से लगभग दो-तिहाई सामग्री बंद पड़ी हुई है, यद्यपि सभा के भवन का पूरा ऊपरी भाग तथा कुछ नीचे का हिस्सा भी कलाभवन की वस्तुओं से घिरा है। प्रयत्न हो रहा है कि नवीन भवन में, जिसकी नींव महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी के हाथों पड़ चुकी है, शीघ्र ही हाथ लगा दिया जाय। पर यह कार्य सरकार तथा देश के श्रीमानों की कृपा पर अवलंबित है।

प्रचार

प्रचार के कार्य को भी सभा बढ़ाना चाहती है पर उसके लिये धन तथा योग्य, परिश्रमी कार्यकर्ताओं की कमी है। लंका में प्रचार-का कार्य धन की कमी से रोक देना पड़ा। अन्य उपनिवेशों में प्रचार-कार्य करना सभा आवश्यक समझती है। नैरोबी तथा ट्रिनिडाड आदि स्थानों में लोग हिंदी सीखने के लिये उत्सुक हैं और सभा उन्हें भरसक प्रोत्साहन दे रही है। इन स्थानों में अँगरेजी का इतना प्रभाव है कि वहाँ अँगरेजी माध्यम द्वारा ही हिंदी का प्रचार करना पड़ेगा, पर यदि उधर कुछ दिन और न ध्यान दिया गया तो मातृभाषा हिंदी के प्रति वहाँ के लोगों का रहा-सहा प्रेम भी जाता रहेगा।

सी० वी० समिति इंफाल (मनीपुर) को सभा ने डेढ़ दर्जन पुस्तकें तथा अपनी संबद्ध संस्था नागरीप्रचारिणी सभा भगवानपुर

रत्ती (मुजफ्फरपुर) को ५०) तक की पुस्तकें बिना मूल्य दी हैं। इस वर्ष से हिंदी-प्रचार-समिति, वर्धा को पत्रिका बिना मूल्य दी जाने लगी है। बालक-संघ, विष्णुपुर (पटना) को भी पत्रिका बिना मूल्य दी जाती है। यह संस्था सभा से संबद्ध कर ली गई है।

सभा का निरीक्षण

इस वर्ष अनेक मान्य और प्रसिद्ध सज्जन सभा देखने के लिये आए जिनमें युक्तप्रांत के माननीय प्रधान मंत्री पं० गोविंदवल्लभजी पंत, युक्तप्रांत के माननीय शिक्षा-मंत्री श्री संपूर्णानंदजी, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री गोविंद सखाराम सरदेसाई तथा श्री पी० पिस्सुर्लेकर, डाक्टर सत्यप्रकाश एम०-एस्-सी० (प्रयाग विश्वविद्यालय), श्री आर० एन० कौल (इंस्पेक्टर आव् स्कूल्स बनारस), श्री हेनरी मार्शल (Henrie Marchal), श्री करनसिंह केन (पार्लमेंटरी सेक्रेटरी, युक्तप्रांत), श्री वी० एन० मेहता आई० सी० एस० (सीनियर मेंबर, बोर्ड आव् रेवेन्यू, युक्तप्रांत) तथा श्री हिम्मत सिंह (प्रेसीडेंट, कोर्ट ऑव् वार्ड्स, युक्तप्रांत) के नाम उल्लेखनीय हैं। सभा तथा कलाभवन के संबंध में उक्त महानुभावों ने बहुत अच्छी सम्मतियाँ दी हैं।

अ० भा० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन के अवसर पर, सम्मेलन का आगामी अधिवेशन काशी में करने के लिये सभा उसे आमंत्रित कर चुकी है। सम्मेलन ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। और सभा को आशा है कि हिंदी की दो बड़ी संस्थाओं का संबंध इस अवसर पर और भी सुदृढ़ हो जायगा और सभा तथा सम्मेलन का परस्पर सहयोग दोनों के लिये हितकारी होगा।

सभा की अर्ध-शताब्दी

सभा के कार्यकाल के पचास वर्ष पूरे होने में अब चार ही वर्ष शेष हैं। सभा ने निश्चय किया है कि उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप ही उसकी अर्ध-शताब्दी मनाने की तैयारी अभी से आरंभ कर दी जाय। इसके लिये एक उपसमिति बना दी गई है। अर्ध-शताब्दी के अवसर

पर सभा का एक बड़ा विवरण प्रकाशित किया जायगा जिसमें सभा का पचास वर्षों का विस्तृत इतिहास होगा।

आर्थिक स्थिति

सभा की आर्थिक स्थिति में यद्यपि अभी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि सभा पर ऋण अभी प्रायः ज्यों का त्यों बना है, फिर भी ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि ऋण बढ़ेगा नहीं, कुछ कम ही होता चलेगा। कलकत्ते से जो धन प्राप्त हुआ था उससे कुछ ऋण चुकाया भी गया। राजपुताने में भी सभा का प्रतिनिधि-मंडल गया था जिसमें श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र, राय साहब ठा० शिवकुमार सिंह, श्रीयुत बा० रामचंद्र वर्मा और श्री कृष्णानंद जी थे। आगरे से श्री हरिहरनाथ टंडन जी ने भी साथ दिया था। इस यात्रा में कुछ सफलता तो अवश्य हुई पर जितनी आशा थी उतना धन अब तक नहीं आया। किंतु सभा को इससे बहुत बड़ा संतोष हुआ कि जहाँ जहाँ प्रतिनिधि-मंडल गया वहाँ वहाँ उसका बहुत अच्छा स्वागत हुआ। उदयपुर के रेवेन्यू कमिश्नर रायबहादुर पं० कमलाकर द्विवेदी ने प्रतिनिधि-मंडल की सहायता के लिये बड़ा प्रयत्न किया। जयपुर के वयोवृद्ध पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० ने भी मंडल की बड़ी सहायता की। सभा इन महानुभावों की हृदय से ऋणी है। और जिन जिन व्यक्तियों ने सहायता दी सबको सभा धन्यवाद देती है। दाताओं की सूची पत्रिका के चौथे अंक में प्रकाशित की जायगी।

युक्तप्रांतीय सरकार ने इस वर्ष कृपा कर दो बार में २२००) की एककालीन सहायता कला-भवन के लिये दी है। ओरछा दरबार ने भी कृपा कर देव पुरस्कार ग्रंथावली के प्रकाशन के लिये सभा को १०००) देना स्वीकार किया है।

स्थायी कोश को बढ़ाने के लिये स्थायी सभासदों की संख्या बढ़ाने का बराबर प्रयत्न हो रहा है और सफलता भी हो रही है। स्थायी कोश तथा पदक और पुरस्कारों की सब निधियों को ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट फंड, युक्तप्रांत के पास जमा कर देने का सभा ने

जो निश्चय किया था उसकी कार्यवाही अब आरंभ कर दी गई। योजना आवेदन-पत्र के साथ भेज दी गई है। सरकार से स्वीकृति मिल जाने पर निधियाँ ट्रेजरर, चैरिटेबल एंडाउमेंट्स के पास जमा कर दी जाएँगी।

सभा के नियमों में संशोधन

सभा की प्रबंध-समिति ने सभा की नियमावली में निम्नलिखित संशोधन किए हैं जो वार्षिक अधिवेशन में स्वीकृति के लिये उपस्थित किए जाएँगे—

(१) नियम ११ पंक्ति ३ में से 'गद्य-पद्य-मय' निकाल दिया जाय।

पंक्ति ४-५-६ में के 'समस्त......प्रकाशित हुआ करेगा' के स्थान पर इस प्रकार पढ़ा जाय—'की प्रगति तथा सभा संबंधी आवश्यक समाचार, सूचनाएँ आदि प्रकाशित हुआ करेंगी।'

(२) नियम २० (ख) पंक्ति १ में ३० के स्थान पर ५० पढ़ा जाय। नियम २० (घ) में नई पंक्ति से जोड़ा जाय 'जो सज्जन ५००) या अधिक की ऐसी संपत्ति देंगे जिसका सभा उपयोग कर सके, वे भी विशिष्ट सभासद हो सकेंगे।'

(३) नियम २२, आवेदन-पत्र में 'वार्षिक' शब्द निकालकर उसका स्थान रिक्त छोड़ दिया जाय।

आवश्यक निवेदन

(१)

हिंदी के प्रचार और उन्नति में लगी हुई भारत की जितनी संस्थाओं के नाम सभा को प्राप्त हो सके हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है। इन सभी संस्थाओं, सभा के सभासदों तथा पत्रिका के अन्य पाठकों से प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारी से ऐसी अन्य संस्थाओं के पते देकर इस सूची को पूर्ण करने में सभा की सहायता करें।

१—आसाम हिंदी-प्रचार-समिति, आसाम

२—काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस

३—काशी विद्यापीठ, "

४—गुरुकुल काँगड़ी,	सहारनपुर
५— ,, विद्यामंदिर	सूपा-वादा नौसारी, सूरत
६—गोवर्धन साहित्य महाविद्यालय,	देवघर, बिहार
७—दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार-सभा,	मद्रास
८—नागरीप्रचारिणी सभा,	आगरा
९— ,, ,,	आरा
१०— ,, ,,	गोंडा
११— ,, ,,	गोरखपुर
१२— ,, ,,	बलिया
१३— ,, ,,	बहराइच
१४— ,, ,,	बुलंदशहर
१५— ,, ,,	भगवानपुर, रत्ती—मुजफ्फरपुर
१६— ,, ,,	मैनपुरी
१७— ,, समिति,	छिंदवाड़ा, सी० पी०
१८—परमहंस आश्रम,	बरहज, गोरखपुर
१९—प्रसाद-परिषद्,	बनारस
२०—बालक-संघ,	विष्णुपुर, पटना
२१—भगवानदीन साहित्य-विद्यालय,	काशी
२२—मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति,	इंदौर
२३—मालती शारदा-सदन,	काशी
२४—रघुराज साहित्य-परिषद्,	रीवाँ सी०, आई०
२५—रत्नाकर रसिक-मंडल,	काशी
२६—विद्योत्साही समिति,	मनीपुर, आसाम
२७—वीरेंद्र-केशव-साहित्य-परिषद्,	ओरछा
२८—साहित्य-सदन,	अबोहर, पंजाब
२९—सुहृद-संघ,	मुजफ्फरपुर
३०—हिंदी-परिषद्,	विद्यासागर कालेज, कलकत्ता
३१— ,, ,,	हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

३२—हिंदी-प्रचारिणी सभा,	धर्मपुरा, लाहौर
३३— ,, ,, ,,	बाजार सीताराम, दिल्ली
३४—हिंदी विद्यापीठ,	देवघर, बिहार
३५— ,, ,,	गिरगाँव, बंबई
३६—हिंदी समिति,	विश्वविद्यालय, प्रयाग
३७— ,, ,,	शांति-निकेतन, बोलपुर, बंगाल
३८—हिंदी साहित्य-परिषद्,	मथुरा
३९— ,, ,, समिति,	सनातन धर्म कालेज, कानपुर
४०— ,, ,, ,,	विश्वविद्यालय लखनऊ
४१— ,, ,, ,,	भरतपुर
४२—हिंदी-साहित्य-सम्मेलन,	जौनपुर
४३— ,, ,, ,,	प्रयाग
४४—हिंदी-हितैषिणी सभा,	सहारनपुर
४५—हिंदुस्तानी एकेडेमी,	प्रयाग
४६—हिमाचल हिंदी-भवन,	दार्जिलिंग

(२)

सभा के संग्रहालय में हिंदी के विशिष्ट लेखकों के हस्तलेख के नमूने संगृहीत किए जाते हैं। उनके हाथ के लिखे हुए पोस्टकार्ड, पत्र या किसी पोथी के दो-एक पन्ने जो मिल जायँ, सुरक्षित रखे जाते हैं। किसी सज्जन के पास इस प्रकार की कोई सामग्री हो तो कृपा कर सभा में भेजें।

इँगलैंड के श्री पिंकाट महोदय हिंदी से बड़ा प्रेम रखते थे। वे भारतीय साहित्य-प्रेमियों से पत्र-व्यवहार किया करते थे। यदि किसी सज्जन के पास उनका एक भी पत्र हो तो कृपा कर संग्रह के लिये सभा में भेज दें।

—मंत्री

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४३-संवत् १९९५ [नवीन संस्करण] भाग १९-अंक ४

(१७) संस्कृत व्याकरण की प्राचीन और नवीन पद्धतियाँ

[लेखक—महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य]

व्याकरण जाने बिना काम चल नहीं सकता, उसे जानना ही चाहिए, पर प्रश्न यह है कि उसे सीखा कैसे जाय। यह प्रश्न नया नहीं है। पाणिनि के सूत्रों पर महाभाष्य लिखते समय पतंजलि कहते हैं कि शब्दानुशासन तो करना होगा। किंतु कैसे? गो, अश्व, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण इत्यादि रूप से एक एक शब्द का पाठ करने से होगा? नहीं होगा, क्योंकि यह ठीक उपाय नहीं है। कहते हैं, बृहस्पति ने इंद्र को इसी प्रकार एक एक शब्द का पाठ करके शिक्षा दी थी। देवताओं के एक हजार वर्ष बीत गए फिर भी वे समाप्त नहीं कर सके। जब बृहस्पति जैसे अध्यापक इंद्र जैसे शिष्य को देवताओं के हजार वर्ष में भी शब्दों की संपूर्ण शिक्षा नहीं दे सके तो आजकल की बात ही क्या है। इस युग में कोई बहुत जिया तो सौ वर्ष तक। इन सौ वर्षों में क्या हो सकता है? विद्या का उपयोग चार प्रकार से होता है—विद्या को प्राप्त करना, स्वयं पढ़ना, अन्य को पढ़ाना और उसे काम में लाना। फिर जब विद्या को पाने में ही आयु

समाप्त हो जाय तो विद्या का संपूर्ण उपयोग कहाँ हुआ ? ऐसी शिक्षा से काम नहीं चलने का। फिर कैसे चले ? ऐसे सामान्य और विशेष लक्षण बताने होंगे जिनसे थोड़े प्रयत्न से बड़े बड़े शब्द-समूह समझ में आ जायँ। इसी का अनुसरण करके पाणिनि आदि के व्याकरण में शब्द-समूह का लक्षण बताया गया है।

आजकल फिर प्रश्न उठा है—इन समस्त व्याकरणों में जो कुछ कहा गया है, जो रास्ता बताया गया है, क्या हू-बहू उसी का अनुसरण करना होगा या उसकी अपेक्षा कोई उत्कृष्टतर और रास्ता भी है जिसका अवलंबन किया जाय ? निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रश्न की कुछ विवेचना की जा रही है।

यहाँ बात तो संस्कृत व्याकरण की कही जा रही है पर अँगरेजी जाननेवाले पाठकों को समझने में सुविधा हो सकती है ऐसा सोचकर दो अँगरेजी क्रियापदों की उपमा दे रहा हूँ। सभी जानते हैं—go धातु से वर्तमान काल में 'go', भूतकाल में 'went' और Past participle में 'gone' होता है। यहाँ प्रश्न किया जाय कि go से went कैसे बना तो इसके उत्तर में कहना होगा कि वह go धातु से नहीं बना बल्कि गत्यर्थक went धातु से बना है। go धातु का भूतकाल में प्रयोग नहीं होता। कहा जाता है कि be धातु के उत्तम पुरुष में वर्तमान काल में am, भूतकाल में was और Past participle में been होता है। Be से been तो हो सकता है पर स्पष्ट ही दिख रहा है कि am और was इस धातु से नहीं बने हैं। कहना होगा कि ये तीनों प्रयोग तीन धातुओं से बने हैं; यथा (१) Aryan *es, Gk. L. O. Teut. es–, Skt. as (अस्), जिसका अर्थ 'होना' है; (२) O Teut wes–. Skt vas (वस्), जिसका अर्थ है रहना (to remain); और (३) Gk. Phu, L. Fu, Skt bhū (भू) जिसका अर्थ है होना (to become)। इन तीनों में से am हुआ है (१) प्रथम धातु से (Gk. es-mi, Skt. as-mi अस्मि); was (और were प्रभृति) बना है (२) द्वितीय धातु से; और been

तथा being तृतीय धातु से बने हैं। जो लोग अँगरेजी भाषा और व्याकरण को अच्छी तरह जानना चाहते हैं उन्हें इसी तरह विचार कर पढ़ना चाहिए। नहीं तो उन्हें विशेषज्ञ नहीं कहा जा सकता।

उल्लिखित पदों की विवेचना से स्पष्ट है कि व्याकरण के साधारण नियमों से प्रत्येक धातु के जितने पद बन सकते हैं उन सबका प्रयोग भाषा में सब समय नहीं होता, विशेष विशेष पदों का ही होता है। तथापि साधारण शिक्षार्थियों की सुविधा के लिये केवल अर्थ को लक्ष्य में रखकर वैयाकरण लोग इन वस्तुतः भिन्न भिन्न धातु के प्रयोगों को एक ही धातु के प्रयोग बतला गए हैं।

संस्कृत में भी यही बात है। किसी किसी धातु की पूर्ण रूपावली वस्तुतः न होने पर भी दिखाने के लिये अत्यंत चतुरता के साथ अन्य धातु के पद उसमें मिला दिए गए हैं। यह बात हम बाद में विशद रूप से देखेंगे[१]।

धातु की तरह नाम के संबंध में भी ऐसा ही किया गया है। एक शब्द के रूप को अन्य शब्द का रूप कहकर बताया गया है। ऐसा करते समय कहा गया है कि इसके स्थान में उसका आदेश हुआ है। आदेश शब्द का प्रचलित अर्थ है हुक्म। कहते हैं, गत्यर्थक 'इ' धातु के स्थान में 'गा' आदेश होता है। किंतु आदेश करने से ही वह हो नहीं जायगा। ईश्वर भी आदेश करे कि आग से कपड़े भिगो दिए जायँ, तो भी यह संभव नहीं है। इसी लिये सौ आदेश होते हुए भी √इ धातु √गा नहीं हो सकता।

१—सब धातुओं के सब पद जो भाषा में नहीं पाए जाते, यह बात पहले पहल यास्क (निरुक्त, २·२) ने ही दिखा दी थी। उनका कहना है कि किसी किसी प्रांत में धातु क्रिया के ही आकार में प्रयुक्त होता है और कहीं कहीं धातु से उत्पन्न नाम के रूप में। जैसे कंबोज देश में गत्यर्थक √शव् धातु क्रिया रूप में पाया जाता है, किंतु आर्य लोग 'शव' इस पद का प्रयोग करते हैं। प्राच्य देश में छेदनार्थक √दा (दो) धातु क्रियारूप में प्रयुक्त होता है, किंतु उदीच्य देशों में दात्र यह नाम पद पाया जाता है इत्यादि। पतंजलि भी (१·१·१) ऐसा ही कह गए हैं।

कोई कोई पाठक व्याकरण के आदेश को 'हुक्म' मान ले सकते हैं, पर वस्तुतः वह 'हुक्म' नहीं है। किसी किसी के मत से ऐसे स्थानों पर 'आदेश' शब्द का अर्थ विकार है। विकार का अर्थ है अन्य आकार या अवस्था। यह व्याख्या आंशिक रूप में ठीक है। इकार के स्थान में यकार और यकार के स्थान में इकार आदेश होता है, ऐसे स्थानों में इकार का यकार और यकार का इकार विकार हो सकता है और होता है। यदि कोई कहे कि गत्यर्थक इ धातु के स्थान में गा आदेश होता है तो यह कभी विकार नहीं कहा जा सकता। 'इ' का विकार 'गा' एकदम असंभव बात है। इसी लिये कोई कोई कहते हैं कि आदेश का अर्थ है पाठ। अर्थात् इकार के स्थान में यकार और √इ धातु के स्थान में √गा पढ़ना होगा। यह व्याख्या पहले से अच्छी तो अवश्य है पर बिल्कुल ठीक नहीं कही जा सकती। क्यों वैसा पाठ किया जाय? इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इससे केवल एक काल्पनिक सुविधा होगी, यह सोचकर संस्कृत व्याकरण में ऐसा बहुत किया गया है। इससे पाठक के मन में शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में एक भ्रांत धारणा बराबर बनी रहती है। साधारण पाठकों के लिये यह बात क्षम्य हो भी सकती है पर जो लोग विशेषज्ञ हैं, या अपने को विशेषज्ञ समझते हैं, उनके पक्ष में यह क्षमार्ह नहीं है। नीचे हम इस विषय की कुछ आलोचना करके देखें—

पाणिनि के (६.१.६३) तथा अन्य अनेकों के व्याकरण में कहा गया है कि द्वितीया के बहुवचन प्रभृति[१] में पाद प्रभृति शब्दों के स्थान में पद् प्रभृति आदेश होता है।[२] यहाँ पाद और पद् दो स्वतंत्र शब्द हैं, ऐसा कहने में कोई क्षति नहीं दिखती। इस प्रकार प दा ति, प द ग, प द्ध ति प्रभृति (६. ३. ५२-५४) शब्दों में पा द शब्द का योग देखने की अपेक्षा प द और प द् शब्दों का योग देखना ही संगत है।

१—पतंजलि कहेंगे कि अन्यत्र भी होता है।

२—पद्–दन्–नो–मास्–हृन्० छस् प्रभृतिषु।

इसी प्रकार दं त[1] और द त्, ना सा (ना सि का) और न स् इत्यादि को स्वतंत्र भाव से अलग अलग शब्द माना जा सकता है। इन शब्दों के विषय में चाहे यह बात ठीक हो या न हो परंतु उसी सूत्र में उ द क शब्द के स्थान में उ द न् आदेश करने का कोई कारण नहीं है। उदन् शब्द जो जलवाचक एक अन्य शब्द है इसका प्रमाण उ द न्व त् (उ द न्+व तु अर्थात् जिसमें प्रचुर उदन् या जल हो) शब्द है। ऐसे और भी शब्द हैं, जैसे—उ द न्य (ऋ ग्वे द २. ७. ३) 'जलयुक्त'; उ द न्या 'पिपासा' (उपनिषद् और लौकिक संस्कृत में); उ द न्य 'जलप्रार्थी' (ऋ ग्वे द, ५. ५७. १); इत्यादि। इसी लिये कहना पड़ता है कि उ द वा ह, उ द वा स, उ द कु म्भ, उ द मं थ इत्यादि (६. ३. ५७-६०) शब्दों में उद—हुआ है उ द न् से, उ द क से नहीं।

उसी सूत्र (६.१.६३) में हृ द य शब्द के स्थान में हृ द् आदेश किया गया है। इसका भी कोई प्रयोजन नहीं था। जान पड़ता है प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति के एक और द्वि वचनों में इसका रूप न पा सकने के कारण वैयाकरणों ने ऐसा किया है। भाषा में सु हृ द् और सु हृ द य और दु र्हृ द् और दु र्हृ द य दोनों ही शब्द पाए जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि हृ द य शब्द का हृ द् आदेश करके सु हृ द् और दु र्हृ द् शब्द बनाए गए हैं[2]।

और भी कहा गया है कि ले ख और ला स शब्द के परे रहते अथवा य (त्) और अ (ण्) प्रत्यय के रहते हृ द य शब्द हृ द् हो जाता है (हृ द य स्य हृल्लेखयदण्लासेषु ६. ३. ५०)। तदनुसार

१—दन्त के स्थान म द त् आदेश करते समय पाणिनि को अन्यून पाँच सूत्र लिखने पड़े हैं—वयसि दन्तस्य दतृ। छन्दसि च। स्त्रियां संज्ञायाम्। विभाषा श्यावारोकाभ्याम्। अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च। ५. ४. १४१—१४५।

२—सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः (५.४.१५०)। भाषा में प्रयोग देखकर पाणिनि ने यहाँ कहा है कि मित्र के अर्थ में सुहृद् और अमित्र के अर्थ में दुर्हृद् शब्द का प्रयोग होता है। जिसका हृदय अच्छा है वह सुहृदय और जिसका खराब है वह दुर्हृदय कह जाता है। ये मित्र या अमित्र नहीं भी हो सकते।

हृदयलेख से हृल्लेख हृदयलास से हृल्लास, हृदय+य से हृद्य, हृदय+अ से हार्द होते हैं। इस प्रकार हृदयशोक से हृच्छोक, हृदयरोग से हृद्रोग, सुहृदय+य से सौहार्द (६.३.५१) ऐसी व्युत्पत्तियों के लिये कोई युक्ति नहीं मिलती।

हृदय और हृद् का दो शब्द होना परवर्ती काल में दिखाया गया है। अमरकोश के अनुसार "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन् मानसं मनः।" काशिकाकार (६.३.५१) ने भी लिखा है—"हृदय शब्देन समानार्थो हृच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति। तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम्।"

शिरस् (परवर्ती काल में कभी कभी शिर), शीर्षन् और शीर्ष इन तीनों शब्दों का प्रयोग वैदिक और लौकिक संस्कृत में है। ऐसी अवस्था में 'शीर्षश्छन्दसि' और 'ये च तद्धिते' (६.१.६०–६१) इन दो सूत्रों की कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर यह कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं थी कि केश अर्थ में शिरस् शब्द का विकल्प से शीर्षन्[1], अथवा स्वर के परे रहते उसके स्थान में शीर्ष[2], या वेद में उसके स्थान में शीर्ष आदेश होता है[3]।

क्रोष्टु और क्रोष्टृ एक ही धातु √क्रुश् से विभिन्न प्रत्ययों (क्रमशः तु और तृ) से बने हुए दो अलग अलग शब्द हैं, तो भी इन दोनों को जोड़कर एक कर दिया गया है (७.१.९५-९६)। ऐसा करने का कारण इतना ही है कि क्रोष्टु शब्द का प्रथमा और द्वितीया में एक और द्वि-वचनों का प्रयोग न रहने पर भी वैयाकरण लोग एक समग्र शब्द रूप देना चाहते थे। भाषा में स्त्रीलिंग में क्रोष्टु शब्द का कोई प्रयोग है ही नहीं, उसके स्थान में क्रोष्टु शब्द का ही क्रोष्ट्री रूप से विधान किया गया है (स्त्रियां च. ७. १. ९६) ऐसा न करना ही अच्छा होता।

१—वा केशेषु (यथा शीर्षण्याः केशाः, शिरस्याः केशाः) उक्त सूत्र पर वार्तिक २.

२—अचि शीर्षः; उसी सूत्र पर वार्तिक ३.

३—छन्दसि च; उसी पर वार्तिक ४.

व्याकरण में कहा गया है कि तृतीया से सप्तमी तक की किसी विभक्ति के परे रहने से अ स्थि, द धि, स क्थि, और अ क्षि शब्दों के अंत में अन् आदेश होकर क्रमशः अ स्थ न्, द ध न्, स क्थ न्, और अ क्ष न् रूप बनते हैं (७.१.७५)। वस्तुतः ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जिस प्रकार अ स्थि, द धि, स क्थि और अ क्षि शब्द हैं उसी प्रकार अ स्थ न्, द ध न्, स कथ न् और अ क्ष न् शब्द भी हैं। इसी लिये बाध्य होकर व्याकरणकार को एक और सूत्र बनाना पड़ा (छंदस्यपि च दृश्यते। ७. १. ७६) और प्रकारांतर से यह बात स्वीकार करनी पड़ी है। "इंद्रो दधीचो अ स्थ भिः" (ऋक्० १.८४.१३)। यहाँ अ स्थ भिः पद अ स्थ न् शब्द से ही बना है। "अ स्थ न्व न्तं यद् अ न स्था विभर्त्ति" (१. १६४.४) यहाँ भी प्रथम और तृतीय पद अस्थन् के ही हैं। इसी प्रकार द ध न्व त् (अच्छिद्रस्य द ध न्व तः ६. ४८. १८); स कथा नि (५. ६१.३); अ क्ष न्व त् (अ क्ष न्व न्तः कर्णवन्तः सखायः-१०.१७.१) और "भद्रं पश्येम अ क्ष भिः"(१.४६.८) भी हैं।

संस्कृत-साहित्य की आलोचना करने से जान पड़ता है कि उसमें एक ही अर्थ में (१) पथ् (२) प थि और (३) पं थ न् ये तीन अलग अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। (१) प थ् से प थः, प था इत्यादि, (२) प थि से प थि भ्यां इत्यादि[1] और (३) पं थ न् से पं था न म् इत्यादि[2]। किंतु इन तीनों को एक ही सूत्र में पिरोकर पद साधन की प्रणाली बताई गई है (पाणिनि ७. १. ८५—८८) एक ही धातु √जॄ (वयोहानि) से उत्पन्न होने पर भी प्रत्यय-भेद से जरा और ज र स् शब्द भिन्न भिन्न हैं। इनके रूप भी भिन्न भिन्न होते हैं, तथापि कहा

१—प थि से वैदिक भाषा की प्रथमा में पथयः और षष्ठी बहुवचन में प थी ना म् शब्द पाया जाता है।

२—फिर प. थ शब्द भी पाया जाता है, जैसे प थे ष्ठा (५.५०.३;१०.४०. १३) 'जो पथ में रहता है वह'। अतिप्राचीन भाषा (ऋग्वेद) में प न्था शब्द भी मिलता है। वस्तुतः इसी से प्रथमा के एकवचन में प न्थाः, बहु० में भी प न्थाः और द्वितीया एक० में पन्थानम् मिलता है।

गया है कि स्वरादि विभक्ति के आने पर जरा शब्द का जरस् आदेश हो जाता है (७.२.१०१)।

म घ व न् और म घ व त् ये दोनों भी प्रत्ययभेद से (वन् और वत्) भिन्न शब्द हैं तथापि अनेक स्थलों पर पहले की जगह दूसरे का आदेश किया गया है (६.४.१२८)। यह कहना ठीक नहीं कि मा घ व तो अथवा मा घ व त ये दोनों म घ व न् शब्द से बने हैं।

इसी प्रकार अ र्व न् और अ र्व त् शब्दों को भी एकत्र जोड़ दिया गया है (६.४.१२७)। अर्वन् से अर्वाणौ तो हो सकता है पर अ र्व न्तौ नहीं बन सकता।

पहले ही कह चुका हूँ और प्राचीन आचार्यों की बात का उल्लेख करके दिखा चुका हूँ कि सब धातुओं के सभी पद भाषा में नहीं पाए जाते। तो भी वैयाकरण लोग सब धातुओं की समस्त रूपावली दिखाने के लिये ऐसी अनेक कल्पनाएँ कर गए हैं जिनका समर्थन नहीं किया जा सकता। इन कल्पनाओं से साधारण पाठक सहज ही भ्रम में पड़ सकते हैं। गत्यर्थक √इ धातु का लुङ् लकार में, णिजन्त में और सन्नन्त में प्रयोग नहीं है। यह बात स्पष्ट न कहकर कहा गया है कि लुङ् लकार में उक्त धातु का √गा आदेश होता है (इणो गा लुङि २.४.४५)। और यदि अवबोधन (समझाना) अर्थ हो तो णिजन्त और सन्नन्त में उसके स्थान में गम् आदेश होता है (२.४.४६-४७)।[१] किंतु यह कहने में कोई भी हानि नहीं थी कि ग म य ति और जि ग मि ष ति प्रयोग √ग म् धातु के ही हैं, √इ के नहीं[२]।

इसी प्रकार आर्धधातुक में 'होना' अर्थ में √अ स् धातु के स्थान में √भू (२.४.५२)[३] 'बोलना'-अर्थ में √ब्रू धातु की जगह

१—णौ गमि रबोधने। सनि च।

२—अध्ययनार्थक √इ धातु के संबंध में भी ऐसी ही बात है। इङश्च। गाङ् लिटि। विभाषा लुङ्लङोः। णौ च संश्चङोः। (२.४.४८-५१)

३—अस्तेर्भूः। किंतु वैदिक भाषा में लिट् में आ स, आ स तुः, आ सुः इत्यादि भी प्रसिद्ध हैं। फिर लौकिक संस्कृत में भी ईहा म् + आ स इत्यादि भी सुप्रसिद्ध हैं।

√वच् (२.४.५३), और 'चक्ष्' धातु के स्थान में √ख्या (२.४.५४), गत्यर्थक अ ज् धातु के स्थान में √वी (२.४.५६-५७) एवं 'भोजन' अर्थ में √अ द् धातु के स्थान में लिट् प्रभृति में √घ स् आदेश (२.४. ३५-४०) भी संगत नहीं हैं।

√पा के स्थान में √पिब, √घ्रा के स्थान में √जिघ्र, स्था के स्थान में √तिष्ठ, आदेश हुआ करता है (७.३.३८)। ऐसा न कहकर अगर यह कहा जाता कि ये धातु अभ्यस्त या द्विरुक्त होकर ऐसे हुए हैं तो अधिक संगत होता।

धातुपाठ में भी ज क्ष्, जा गृ, द रि द्रा, च का स् (दी धी और वे वी) इन कई धातुओं को स्वतंत्र मानकर इन्हें अभ्यस्त संज्ञा दी गई है। किंतु अ भ्य स्त संज्ञा क्यों? अभ्यस्त कहने से ही तो काम चल जाता। √घ स् धातु का अभ्यास करके ज क्ष्, √द्रा से द रि द्रा, √का स् से च का स्, (√धी से दी धी, √वी से वे वी) ऐसा कहने से ही तो काम बन जाता। ज क्ष् प्रभृति को धातु नहीं कहा जा सकता। कारण, शब्द के जिस अंश का भाग नहीं किया जा सकता उसी को हम धातु कहते हैं। किंतु ज क्ष् प्रभृति का भाग किया जा सकता है। इन्हीं के अंतर्गत √शा स् आदि की अभ्यस्त संज्ञा समर्थन योग्य नहीं है।

कहा गया है कि √दृश् के स्थान में पश्य (< √स्पश्) और √सृ के स्थान में धा व आदेश होता है (७.३.१८) किंतु √स्पश् और √धाव् स्वतंत्र धातु हैं। √स्पश् से स्प ष्ट, स्प श ('चर') और प स्प शा (व्याकरण महाभाष्य का प्रथम आह्निक) पद लौकिक संस्कृत में हमारे परिचित हैं। √धा व् धातु भी सबका जाना हुआ है। √दा से ददाति तो बन सकता है पर उसके स्थान में यच्छ् आदेश संगत नहीं जान पड़ता। य च्छ ति रूप √य म् धातु से बना है, जैसे √ग म् से गच्छति। यहाँ च्छ कैसे आ गया; इस बात की व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। वह भाषातत्त्व का विषय है। हम उसकी आलोचना नहीं कर रहे हैं।

√व धू धातु के पद वैदिक[1] और लौकिक संस्कृत में काफी पाए जाते हैं। √हन् धातु भी सुप्रसिद्ध है। तथापि √हन् धातु के स्थान में कभी कभी[2] √वधू आदेश किया गया है।

वैयाकरण लोग कहते हैं कि अ (न ञ्), दुस् और सु शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होने पर प्र जा और मे धा शब्द क्रमशः प्र ज स् और मे ध स् हो जाते हैं[3]। जैसे सु प्र ज स्, सु मे ध स् इत्यादि। ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि प्र जा और मे धा शब्दों की तरह प्र ज स् और मे ध स् शब्द भी वर्तमान हैं। पाणिनि ने स्वयं लक्ष्य किया था। ऋग्वेद में ब हु प्र ज स् (बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश १.१६८.३२) का प्रयोग है।

इसी तरह धर्म और धर्मन् (तानि ध र्मा णि प्रथमान्यासन्; अतो ध र्मा णि धारयन्—ऋक्-१.२२.१८; इत्यादि) दोनों एक हैं। प्रि य ध र्म न्, क ल्या ण-ध र्म न् इत्यादि स्थानों में धर्मन् शब्द के ही साथ समास हुआ है, ध र्म के साथ नहीं। ऐसे स्थानों पर धर्म शब्द से अन् प्रत्यय करने का कोई प्रयोजन नहीं[4]।

गाय के ऐन या थन के अर्थ में ऊ ध स् और ऊ ध न्[5] जब ये दोनों शब्द पाए जाते हैं तब यह न कहना ही अच्छा होता कि बहुव्रीहि समास में ऊ ध स् के स्थान में ऊ ध न् आदेश होता है (ऊधसो-

१—व ध ति, व धे त् इत्यादि।

२—हनो वध लिङि। लुङि च। (२.४.४२—४४)।

३—बात इसी तरह नहीं कही गई है। कथन का तात्पर्य ऐसा ही है। मूल कथन इस प्रकार है—नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ५.४.१२२। पूर्व सूत्र से नञ् दुस् सुभ्यः की अनुवृत्ति।

४—धर्मादनिच् केवलात् ५.४.१२४। ठीक ऐसे ही जंभ और जंभन् शब्द हैं, ऐसा मान लेने पर परवर्ती सूत्र की कोई जरूरत न होती (जम्भासुहरिततृणसोमेभ्यः ५.४.१२५)।

५—ऋ ग्वे द १.१५२.६; इत्यादि अनेक। कभी कभी वैदिक भाषा में ऊ ध र् शब्द भी पाया जाता है।

ऽनङ् ५.४.१३१)। धनुष के अर्थ में ध नु स् और ध न्व न् ये दोनों ही शब्द लौकिक और वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं। अतएव बहुव्रीहि समास में ध नु स् के स्थान में धन्वन्[1] आदेश करने से कोई लाभ नहीं वरन् हानि ही है।

व्याकरण में कहा गया है[2] कि ऊर्ध्व शब्द के स्थान में उ प होता है और फिर यथाक्रम रि और रिष्टात् प्रत्यय होने से उ प रि और उ प रि ष्टा त् शब्द बनते हैं। दो या अधिक में से कोई पदार्थ अधिक नीच होने पर उसे जिस प्रकार क्रमशः अ ध र और अ ध म कहते हैं, अधिक उच्च होने से उ त्त र और उ त्त म कहते हैं उसी तरह उ प र और उ प म शब्द भी उप शब्द से बने हैं। ऊर्ध्व के साथ उनका कोई योग नहीं है। उ प र से उ प रि और इस पर से उ प रि ष्टा त् बना है। अधिक संभव है, उ प रे से उ प रि बना हो जैसे वेद में अं ते से अं ति बनता है।

कहा गया है कि पश्चात् शब्द निपातन से सिद्ध हुआ है। विशेष करके कहा गया है कि अ प र शब्द के स्थान में पश्च होता है और उसके बाद आ त् प्रत्यय लगाने से प श्चा त् बनता है[3]। और भी कहा गया है कि अर्ध शब्द के बाद में आने से अ प र शब्द पश्च हो जाता है[4] और इस प्रकार पश्चार्ध बनता है। यह सब कुछ कल्पना-मात्र है। वस्तुतः प श्च एक मूल शब्द है,[5] उसी से प श्चि म बना है। यह पद हम सबका जाना हुआ है। किंतु यह बना कैसे? वार्तिक-

---

१—धनुषश्च ५.४.१३२। संज्ञा अर्थ में यह विधान वैकल्पिक (५.४ १३३) है, इसी लिये श त ध नुः और श त ध न्वा दोनों ही प्रयोग हो सकते हैं।

२—उपर्युपरिष्टात् ५.३.३१। ऊर्ध्वस्योपभावो रि रिष्टातिलौ च—उसी पर महाभाष्य।

३—पश्चात् ५.३.३२. इसी सूत्र के वार्तिक में कहा गया है—अपरस्य पश्च भावः, आतिश्च प्रत्ययः।

४—अर्धे च। अर्धे च परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्तव्यः।—उसी पर महाभाष्य।

५—पश्चा स दध्या यो अघस्य धाता—ऋग्वेद १.१२३.५.

कार कहते हैं कि पश्चात् शब्द के बाद इ म ("डि म च्") प्रत्यय करके[१]। यह एक उत्तर दिया गया है अवश्य पर उचित उत्तर नहीं है। असल में यह पश्च शब्द के उत्तर (पश्चात् के नहीं) म (इम) प्रत्यय करके बना है।

संस्कृत में कहते हैं "उ त्त रा द् वसति", "द क्षि णा द् वसति।" इनका अर्थ है, उत्तर ओर वास करता है, दक्षिण ओर वास करता है। उ त्त रा त् और द क्षि णा त् कैसे हुए? कहा गया है कि यहाँ उत्तर और दक्षिण शब्दों से आत् प्रत्यय किया गया है। अ ध रा त् शब्द के संबंध में भी यही बात है[२]। यह न कहना ही अच्छा होता। असल में ये पद पञ्चमी विभक्ति के एकवचन के हैं। प्रयोग के अनुसार उनकी व्याख्या करना ही पर्याप्त होता। यही कह देना काफी होता कि यद्यपि ये सब पद पञ्चमी के एकवचन में हैं पर कभी कभी वे पंचमी की तरह प्रथमा और सप्तमी का अर्थ भी प्रकट करते हैं।

कहते हैं, 'द क्षि णे न वसति' (इसी प्रकार उ त्त रे ण, अ ध रे ण अर्थात् दक्षिण ओर (उसी प्रकार उत्तर ओर, नीचे की ओर) बसता है। यहाँ दक्षिणेन कैसे बना? उत्तर में कहा गया है, दक्षिण शब्द से एन प्रत्यय के योग से।[३] वस्तुतः ऐसे स्थानों पर भी द क्षि णे न इत्यादि तृतीया के एकवचन के रूप हैं। सप्तमी के अर्थ में तृतीया के प्रयोग पालि और प्राकृत में बहुत हैं।

द क्षि णा वसति, उ त्त रा वसति में द क्षि णा और उ त्त रा इन पदों में आ प्रत्यय बताया गया है[४]। वस्तुतः ये दोनों पद भी तृतीया के ही हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ये दोनों द क्षि णा और उ त्त रा शब्दों के सप्तमी विभक्ति के रूप हैं, जैसे व्योम्नि के अर्थ में व्यो-

---

१—अग्रादिपश्चाड्डिमच् स्मृतः। अन्ताच्चेति वक्तव्यम्—४.३.२३.

२—उत्तराधरदक्षिणादातिः ५.३.३४।

३—एनबन्यतरस्यामदूरेऽपंचम्याः। ५.३.३५ इसी सूत्र के संबंध में अन्यत्र कहना पड़ा है 'एनपा द्वितीया' २.३.३१।

४—दक्षिणादाच् ५.३.३६। उत्तराच्च ५.३.३८।

म न् (सु पां सुलुक्० ७.१.३९)। यह जरूर है कि यह पद-प्रयोग वैदिक है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ भी वैदिक प्रयोग ही चला आ रहा है।

कभी कभी ऐसा भी प्रयोग किया जाता है—द क्षि णा हि वसति उ त्त रा हि वसति (दक्षिण ओर वास करता है, उत्तर ओर वास करता है) यहाँ आ हि प्रत्यय लगाकर ये प्रयोग साधे गए हैं[1]। किंतु तृतीया के एकवचन में (अथवा पूर्वोक्त प्रकार से सप्तम्यर्थ में) निष्पन्न उ त्त रा और द क्षि णा इन दो शब्दों में हि शब्द जोड़कर ये शब्द बने हैं, ऐसा मानने में क्या हर्ज है ? ऐसे उदाहरण अनेक हैं। न और हि (दोनों ही उदात्त हैं) दो स्वतंत्र पद हैं, किंतु वैदिक भाषा में देखा जाता है कि न हि एक पद बन गया है। एक पद हो जाने का प्रमाण यह है कि न हि शब्द का केवल हि उदात्त है (एक पद में केवल एक ही स्वर उदात्त हुआ करता है)। इसी प्रकार न और इ द् (दोनों ही उदात्त) एकत्र मिलकर नेद् बन गया है। लौकिक संस्कृत का चे द् (चेत्) वास्तव में च और इ द् इन दोनों के योग से ही बना है। उ त्त र शब्द का उकार उदात्त था किंतु उ त्त रा हि शब्द का केवल आकार ही उदात्त है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह शब्द एक पद है, दो स्वतंत्र पद नहीं। द क्षि णा हि के संबंध में भी यही समझना चाहिए।

व्याकरण में कहा गया है कि पू र्व, अ ध र और अ व र शब्द के उत्तर में अस् और अ स्ता त् प्रत्यय होते हैं। ऐसी अवस्था में उनके स्थान में यथाक्रम पु र्, अ ध्, और अ व् स् आदेश होते हैं[2]। यहाँ वक्तव्य यह है कि यदि भाषा की ओर लक्ष्य किया जाय तो देखा जायगा कि अ स्ता त् प्रत्यय (अ स्ता तिः) न कहकर तात् (व्याकरण की रीति से ताति) प्रत्यय कहना चाहिए। निम्नलिखित प्रयोगों का लक्ष्य

१—आहि च दूरे। ५.३.३७। उत्तराच्च ५.३.३८।

२—पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्। अस्ताति च। विभाषाऽवरस्य। ५.३.३९-४१।

करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—प्रा क् ता त्, उ द क् ता त्; फिर आ रा त् ता त्, उत्तरात् ता त्, प रा का त् ता त्; फिर प श्चा त् ता त्। और भी मिलता है—पु र स्ता त्, अ ध स्ता त्, अ व स्ता त्; इसके सिवा प र स्ता त्, ब हि ष्टात्; फिर इन्हीं के सादृश्य से उ प रि-ष्टा त्। पु र स्, अ व स् और अ ध स् (वैदिक) प्रसिद्ध हैं, प र स् शब्द भी प्रसिद्ध है (जैसे लौकिक संस्कृत में भी प रः श त, प रः स ह स्र शब्दों में), और ब हि स् शब्द भी सर्वविदित है। इन शब्दों के उत्तर में ता त् प्रत्यय करने से वे सब प्रयोग सिद्ध होते हैं। पु र स्, अ ध स् और अ व स् न स्वीकार करके पुर्-अस्, अध्-अस् और अ व्-अस् के रूप में कल्पना करना बहुत अधिक मालूम पड़ता है। फिर भी शायद पुर्-अस् इसके अनुकूल कुछ कहा जा सकता है। तुलनीय—पु रा (पु र्+आ) पू र् व (पु र्+व)। अ ध् और अ ध स् दोनों ही रूप पाए जाते हैं। अ ध र, अ ध म, इन दो शब्दों में अ ध पाया जाता है। इसी प्रकार अ व और अ व स् दोनों ही मिलते हैं। अ व र और अ व म शब्दों में अ व पाया जाता है। इसके सिवा अ व उपसर्ग तो सुप्रसिद्ध है ही।

अभी यहाँ समाप्त किया जाय।

---

(१८) अष्टाध्यायी में वर्णित प्राचीन भारतीय मुद्राएँ

[लेखक—श्री वासुदेवशरण एम्० ए०]

अष्टाध्यायी की रचना भगवान् पाणिनि ने की है। पाणिनि के समय के विषय में यद्यपि विद्वानों में मतभेद है पर अधिकतर विद्वान् इस पक्ष में हैं कि पाणिनि ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में हुए। अष्टाध्यायी में यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत भाषा पर सूक्ष्म विचार किया गया है, परंतु भाषा का संबंध मनुष्य-जीवन से रहता है, इसलिये अष्टाध्यायी में प्राचीन काल के जीवन और रहन-सहन के संबंध में भी बहुत सी बातें आ गई हैं। इतिहास की दृष्टि से इस सामग्री का अत्यंत महत्त्व है। अष्टाध्यायी के सूत्रों में जो ऐतिहासिक संकेत या उद्धरण मिल जाते हैं वे, प्रमाण की दृष्टि से, बहुत ऊँचे दर्जे के समझे जाते हैं। पिछले कई वर्षों से अष्टाध्यायी पर इस दृष्टि से विचार करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अपनी सभ्यता के इतिहास की अनेक ज्ञातव्य बातों पर अष्टाध्यायी से अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि अमात्य चाणक्य से लगभग एक सदी पूर्व ही भगवान् पाणिनि का समय था। यहाँ हम प्राचीन मुद्राओं के संबंध में कुछ विवेचन करेंगे।

अष्टाध्यायी के पंचम अध्याय के प्रथम पाद में एक प्रकरण (सूत्र १९-३७) का नाम आर्हीय प्रकरण है। ये सूत्र अधिकांश में प्रचलित सिक्कों की दर से चीजों का मोलभाव करने के लिये जो नियम लागू थे उनका वर्णन करते हैं। इस अधिकार को 'तेन क्रीतम्' (५।१।३७) इस सूत्र से सूचित किया गया है। इन्हीं सूत्रों में एक दूसरा अर्थ भी लागू है, उसे पाणिनि ने 'तदर्हति' (५।१।६३) सूत्र से बताया है। अर्थात् मोलभाव के लिये ये दो अर्थ हैं। पहला तो यह

कि अमुक वस्तु 'इस दाम से मोल ली गई' और दूसरा यह कि वह 'इतने मोल की है'। जैसे जिस बनारसी रेशमी दुपट्टे (काशिक क्षौम दुकूल) के लिये पाणिनि के समय में दो निष्क मोल लगता था वह द्विनैष्किक कहलाता था। और इतना मूल्य देकर जो खरीदा गया हो वह भी द्विनैष्किक कहा जायगा। स्वभावतः एक का प्रयोग दुकूल के बाजार दर की दृष्टि से और दूसरे का उसकी असली कीमत की दृष्टि से भाषा में होता होगा। यह उचित ही है कि ऐसे विषय से संबंध रखनेवाले प्रकरण में उस समय के बहुत से सिक्कों का हवाला पाणिनि को देना पड़ा। ये सिक्के अवश्य ही पाणिनि के अपने समय में चलते थे। उनमें से बहुत से एक सदी बाद कौटिल्य के समय में भी चालू थे। यहाँ हम सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का अलग अलग वर्णन करेंगे[१]।

अ—सोने के सिक्के

सोने के सिक्के तीन प्रकार के थे—निष्क, शतमान और सुवर्ण। इनमें निष्क और शतमान का नाम तो सूत्रों में स्पष्ट आता है पर सुवर्ण प्रसंग से ज्ञात होता है।

§ १. निष्क

मुद्रा के रूप में निष्क ऋग्वेद के समय में भी चलता था। यह मत प्रो० मेकडानल और कीथ ने वैदिक इंडेक्स (१।४५५) में प्रकट किया है। डा० भंडारकर के मत से जातकों में जो निष्क का जिक्र है उससे निष्क सोने का सिक्का ही मालूम होता है। अष्टाध्यायी में निष्क का वर्णन इन तीन सूत्रों में है :—

१—आदरणीय प्रो० श्री देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र (Ancient Indian Numismatics) पर सन् १६२१ में एक व्याख्यानमाला दी थी। उसमें पाणिनीय सामग्री का अच्छा सन्निवेश था। हम उसके अनुगृहीत हैं। पर इस लेख में अध्ययन का क्षेत्र उससे विस्तृत है।

(१) असमासे निष्कादिभ्यः (५।१।२०)—इसका अर्थ यह है कि निष्क, पण, पाद और माष जब समास में न हों तब 'इससे मोल लिया' (तेन क्रीतम्) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय हो जाता है। निष्क में ठक् जोड़ने से 'नैष्किक' बनता है। पाणिनि के समय में जिस नैष्किक शब्द का प्रयोग होता था उसका अर्थ था 'एक निष्क से मोल ली हुई वस्तु'। इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से ठक् प्रत्यय का विधान किया है। मुद्राशास्त्र की दृष्टि से बात इतनी ही है कि निष्क पाणिनिकाल में एक चालू सिक्का था। इसी तरह पण से पाणिक, पाद से पादिक और माष से माषिक इन शब्दों का प्रयोग था। पतंजलि के भाष्य में एक स्थान पर ऐसा भी उदाहरण है जिससे 'नैष्किक' शब्द का दूसरा अर्थ (तदर्हति) यह भी मालूम होता है, जैसे :—किमयं ब्राह्मणोऽर्हति ? शतमर्हति शत्यः। शतिकः। साहस्रः। नैष्किक इति न सिध्यति।[1] —महाभाष्य, सूत्र ५।१।१९

अर्थात् ब्राह्मण की योग्यता या गुण-परिप्रश्न के विचार के समय कहा जायगा कि यह ब्राह्मण सौ की दक्षिणा के योग्य है, यह सहस्र की या यह एक निष्क की। संभवतः यज्ञ आदि कर्मों में ब्राह्मणों को निमंत्रित करते समय इस प्रकार के विशेषणों से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का अंदाज लगाया जाता था। 'शत्य' ब्राह्मण की योग्यता सौ चाँदी के कार्षापणों के लायक थी। 'साहस्र' ब्राह्मण को एक सहस्र कार्षापण यज्ञदक्षिणा में या राजा के यहाँ से उपहार में मिलता होगा। ऐसे योग्य विद्वान् ब्राह्मण कौन थे ? पाली ग्रंथों में बहुत जगह 'दिसापामोक्ख' आचार्यों का नाम आता है जिनकी विद्या की धाक दूर दूर तक होती थी और जिनके चरणों में अध्ययन करने के लिये छात्र-संघ नाना दिशाओं से एकत्र होता था। राजशेखर की काव्य-मीमांसा से यह ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र की राजसभा में विद्वानों

१ 'न सिध्यति' वाक्य व्याकरण शास्त्र के पूर्वपक्ष की उत्थापना के लिये है

की परीक्षा हुआ करती थी*। उस परीक्षा में स्वयं पाणिनि और पतंजलि ने भी भाग लिया था। उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए विद्वान् की ख्याति चारों ओर फैल जाती थी। संभवत: इसी प्रकार के दिग्दिगंत में प्रसिद्ध यशोमूर्ति आचार्यों के लिये पतंजलि की साहस्र पदवी (सहस्रमर्हति) चरितार्थ होती थी।

(२) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् (५।१।३०)—निष्क के चालू सिक्का होने की बात को यह सूत्र और भी पुष्ट करता है। कुछ चीजें दो निष्क और कुछ तीन निष्क के मूल्य से ली जाती थीं। व्याकरण की दृष्टि से विकल्पलोप के द्वारा इन दोनों के लिये ये प्रयोग बनते थे।

द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्।
त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम्।

(३) शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् (५।२।११९)—पाणिनि के समय में सौ निष्क की हैसियत वाला व्यक्ति नैष्कशतिक (निष्कशतमस्यास्तीति) और एक सहस्र निष्क वाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था। व्यापारिक समृद्धि के उस युग में आर्थिक प्रतिष्ठा का निर्देश करने के लिये ये चलती पदवियाँ थीं। नगर की समृद्धि का अनुमान नागरिकों की अमीरी से लगाया जाता था। इस आँख से भी उस समय भिन्न भिन्न नगरों के निवासियों को देखने की प्रथा थी। पतंजलि का यह वाक्य कि मथुरा के रहनेवाले पाटलिपुत्र के रहनेवालों से अधिक धनी हैं, इसी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की ओर संकेत करता है[२]। नागरिकों की तुलना धन की तरह सौंदर्य अथवा विद्वत्ता की दृष्टि से भी

१—श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः। वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगलाचार्य, व्याडि, वररुचि और पतंजलि—इतने शास्त्रकारों ने पाटलिपुत्र की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कीर्ति प्राप्त की।

इस संबंध में देखो—पत्रिका भाग २ पृ० १६१ और ३७४ की टिप्पणियाँ —सं०।

२—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। भाष्य ५।३।५७

सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः। भाष्य १।३।११

की जाती थी। पतंजलि की सम्मति में सांकाश्य के रहनेवालों से पाटलिपुत्र के निवासी अधिक सुंदर या विद्वान् थे। इन वाक्यों पर विचार करते हुए यह प्रतीत होता है कि पतंजलि के समय में मथुरा में नैष्कसहस्रिक नागरिकों का बाहुल्य था। इस समृद्धि का फल आगे चलकर मथुरा की अपूर्व शिल्पसंपत्ति के रूप में प्रकट हुआ। पतंजलि ने स्वयं लिखा है कि एक निष्क वाला सौ निष्क वाले के साथ बराबरी नहीं कर सकता[१]। इसी अनुपात से सौ निष्क वाला हजार निष्कों के धनी से आढ्यता में तुलना नहीं कर सकता।

ऊपर जिन दो प्रयोगों का उल्लेख है, उनमें काशिकाकार ने यह प्रश्न किया है कि निष्कशत और निष्कसहस्र से पूर्व में सुवर्ण पद क्यों न जोड़ लिया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि किस धातु के निष्क उस व्यक्ति के पास हैं। इसका उत्तर काशिकाकार ने यह दिया है कि लोक में इस तरह कहने का मुहावरा नहीं है। भाषा तो लोक के पीछे चलनेवाली है। जब निष्क सोने का ही होता है, तब व्यर्थ सुवर्ण पद जोड़ने से क्या लाभ? और फिर नैष्कशतिक पदवी में जिस प्रतिष्ठा की ध्वनि है वह तो सुवर्णनिष्क से ही संभव थी न कि रौप्यनिष्कों से। इसलिये भी नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक जैसे प्रयोगों में सोने का सिक्का लोक-व्यवहार से समझ लिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट इस बात का उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। उद्दालक आरुणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये एक सुवर्णनिष्क की शर्त बदी थी (श० ११।४।१।८)। कुहक जातक में कथा है कि एक कुटुंबी ने सोने के सौ निष्क एक तपस्वी की पर्णशाला के पास भूमि में गाड़कर रखे थे (सुवण्णनिक्खसतं, कुहकजातक, जातकसंख्या ८९, पालि-जातक जिल्द १, पृ० ३७५)। वेस्संतर जातक में कथा है कि वेस्संतर ने अपने पुत्र का निष्क्रय मूल्य एक सहस्र निष्क निश्चित किया था (पालि-जातक, जि० ६ पृ० ५४६)। जुण्ह जातक की कथा में एक ब्राह्मण जुण्ह कुमार से सहस्र

१ न हि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते। भाष्य ५।२।५५

से भी अधिक निष्कों की याचना करता है (परो सहस्सं सुवण्ण-निक्खे, पालि-जातक, ४।९७)।

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी मेल में उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे ? अँगरेजी पौंड सोने का सिक्का है। उसी के फुटकर सिक्कों में आधे पौंड का सिक्का भी सोने का है। इसी तरह पहले समय में निष्क के बाद अर्धनिष्क और पाद-निष्क के अस्तित्व का अनुमान होता है। पाणिनि ने इनका उल्लेख, नहीं किया। हाँ, पतंजलि ने 'निष्के चोपसंख्यानम्' वार्तिक (सूत्र ६।३।५६) के उदाहरण में पादनिष्क का उल्लेख किया है। इसे बोल-चाल में 'पन्निष्क' भी कहते थे। डा० भंडारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणों की दक्षिणा के लिये गौओं के सींगों में जो २०,००० पाद सिक्के बाँधे थे (गोसहस्र के प्रत्येक शृंग में दस पाद) वे सोने के ही थे। यह संभव है, क्योंकि उस यज्ञ को 'बहुदक्षिण' कहा गया है। उनका यह भी अनुमान है कि पाणिनीय सूत्र ५।१।३४—पण पाद माष शताद्यत्—में जो पाद है वह भी सोने का ही सिक्का था। यह दूसरा अनुमान चिंत्य है। पण कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढ़ा होने से पाद चाँदी के कार्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद का माष सिक्का ताँबे का था। चाँदी के पण और ताम्र माष के बीच में पढ़ा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता। इससे $\frac{1}{4}$ कार्षापण का अर्थ लेना अधिक संगत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और जातकों में पाद कार्षापण का उल्लेख भी है, जैसा कि आगे ज्ञात होगा।

§ २. शतमान

शतमान का नाम केवल एक सूत्र में आया है—शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ५।१।२७, अर्थात् शतमान, विंशतिक, सहस्र और वसन—इन चार शब्दों से क्रीतादि अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। शतमानेन क्रीतम् शातमानम् अर्थात् शतमान मुद्रा से मोल वस्तु के लिये 'शातमान' पद का प्रयोग किया जायगा।

विंशतिक भी एक प्रकार का सिक्का था जिसका वर्णन आगे किया जायगा। सहस्र का अर्थ एक हजार है। पाणिनि यहाँ यह नहीं बताते कि किस प्रकार के सहस्र सिक्कों के लिये सूत्र का सहस्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। परंतु अर्थशास्त्र और जातकों के प्रमाण से यह मालूम होता है कि सहस्र का तात्पर्य सहस्र कार्षापण से है। इस संबंध में विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। वसन शब्द वस्त्रवाची है। 'वसनेन क्रीतं वासनम्' यानी वसन (कपड़े का थान) देकर जो चीज मोल ली गई वह वासन कही जायगी। सूत्रगत वसन पद इस बात का प्रमाण है कि उस काल में सिक्कों के स्थान में जिंस देकर अदला-बदली करने की भी प्रथा थी। इसे द्रव्यविनिमय कहते थे। पाणिनि ने वस्तुओं के द्वारा विनिमय की दर निश्चित करने के लिये अलग ही एक सूत्र बनाया है। 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५।२।४७) सूत्र में बताया है कि द्रव्य-विनिमय की आपसी दर को प्रकट करने के लिये संख्यावाची शब्द में मयट् प्रत्यय जोड़ देते थे; जैसे 'द्विमयम् उदश्वित् यवानाम्'। देहातों में आज तक यही प्रथा है। मेरठ की बोली में इसे यों कहते हैं कि मट्ठा दो बेर जौ से है (यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्भागस्य—सिद्धा०)। तक्र बेचनेवाली दो सेर जौ लेकर सेर भर मट्ठा या दो मटकी जौ लेकर एक मटकी मट्ठा दे देती है। इस प्रकार की वस्तु-विनिमय की प्रथा प्राचीन काल में बहुत प्रचलित थी और गाँव के जीवन में इससे बहुत ही सुविधा प्राप्त थी। वसन या वस्त्र के बदले में दूसरी चीज मोल लेना इसी प्रथा का एक अंग था। बुननेवालों की बोली में इस शब्द का व्यवहार संभवतः अधिक था।

पाणिनि ने यह नहीं कहा कि शतमान सिक्का सोने का था। पर शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि सुवर्ण और शतमान दोनों सुवर्णमुद्राएँ थीं।

हिरण्यं दक्षिणा सुवर्णं शतमानं तस्योक्तम्, श० १३।२।३।२

अर्थात् सोने की दक्षिणा में सुवर्ण या शतमान दिया जाय।

शतमान मुद्रा कात्यायन के समय में भी चलती थी। सूत्र ५। १।२९ पर एक वार्तिक में डेढ़ शतमान का स्पष्ट नाम लिया है; यथा—वार्तिक—सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्। भाष्य—अध्यर्धशतमानम्, अध्यर्धशातमानम्। द्विशतमानम्, द्विशातमानम्। डेढ़ या दो शतमान से खरीदी हुई वस्तु की उक्त संज्ञाएँ होंगी।

§ ३. सुवर्ण

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सुवर्ण का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में नहीं है। परंतु 'हिरण्यपरिमाणं धने' (६।२।५५) इस सूत्र में हिरण्य पद में सुवर्ण का भी अंतर्भाव है। सूत्र का अर्थ है कि 'परिमाण'वाची पूर्वपद के बाद धन शब्द उत्तरपद में रहे तो पूर्वपद का अपना प्रकृतिस्वर विकल्प से रहता है। इसका उदाहरण है द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्य द्विसुवर्णम्, तदेव धनमिति द्विसुवर्णधनम्, अर्थात् दो सुवर्ण सिक्कों की पूँजी। वह पूँजी जिसकी हो उसको भी 'द्विसुवर्णधन:' कहेंगे। हिरण्य और सुवर्ण में अंतर है। डा० भंडारकर ने यह सिद्ध किया है कि अनगढ़ कुण्ड की संज्ञा हिरण्य है। उसी के जब सिक्के ढाल लेते हैं तब वे सुवर्ण कहलाते हैं (प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ५१)। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् ८० गुञ्जा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता है। भारतीय इतिहास में जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त होते हैं, उनका वजन प्रायः इतना ही मिलता है। साम जातक में 'हिरञ्ञ सुवण्ण' दोनों शब्द साथ आते है।[१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'हिरण्यसुवर्णम्' पद का अर्थ करते हुए डा० श्री शामा शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा (bar gold) और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का (coined gold) किया है। जातरूपेभ्य: परिमाणे ४।३।१५३ सूत्र के उदाहरण में काशिका ने 'हाटकं कार्षापणं' (सोने का कार्षापण) यह

१ दासकम्मकारादयो पि हिरञ्ञसुवण्णादीनि गहेत्वा पलायिंसु साम जातक (संख्या ५४०), पालि जातक जिल्द ६, पृष्ठ ६६।

उदाहरण दिया है। कार्षापण की तोल भी ८० रत्ती के बराबर थी। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कार्षापण' है। 'जातरूपेभ्य: परिमाणे' सूत्र में भी पाणिनि ने सोने के सिक्कों का ही संकेत किया है। जातरूप से सुवर्ण के पर्याय-वाची शब्दों का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिये आवश्यक है कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकड़े हों जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्कों से ही प्रकट हो सकती है। हाटक: निष्क: में हाटक विशेषण का अण् प्रत्यय परिमाण अर्थ का द्योतक है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है जहाँ अगला पद, जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हो। सोने के पात्र या सोने की बनी छड़ी के लिये हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा। इस प्रकार सुवर्ण के सिक्कों का अस्तित्व पाणिनि के समय में ज्ञात होता है। पर इस संबंध में एक आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि या चाणक्य के समय का सुवर्ण का कोई सिक्का अभी तक कहीं नहीं मिला, यद्यपि उस समय के चाँदी के कार्षापण नामक सिक्के लगभग सात हजार के मिल चुके हैं।

§ ४. सुवर्ण माषक और शाण

उदय जातक की कथा में एक जगह सुवर्ण माषकों से भरी हुई सुवर्ण पात्रों का वर्णन आता है[1]। अष्टाध्यायी के निष्कादि गण में (५।१।२०) तथा अलग सूत्र में (५।१।३४) भी जो माष शब्द आता है, उससे दोनों स्थानों में रौप्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिए। सुवर्ण माष का स्पष्टत: उल्लेख पाणिनि में नहीं है। परंतु एक सूत्र में शाण नामक सिक्के का वर्णन है— शाणाद्वा (५।१।३५)। पतंजलि ने इस सिक्के से बननेवाले दस शब्द-प्रयोगों का उदाहरण दिया है, जिनमें डेढ़, दो, तीन और पाँच

१ सुवण्णमासकपूरं एकं सुवण्णपातिं आदाय। उदय-जातक (४५८), पालि-जातक ४।१०६। डा० भांडारकर, प्राचीन मुद्राशास्त्र, पृ० ५२।

शाण से मोल ली हुई वस्तु का संकेत है[1]। ये अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि इस सिक्के का व्यवहार अधिक था। इसी सूत्र पर कात्यायन के दो वार्तिक हैं। वे भी इस बात को बताते हैं कि कात्यायन के समय में भी यह सिक्का काफी चालू था जिसके कारण विविध शब्द-रूपों का व्यवहार हो गया था। पाणिनि ने (परिमाणान्तस्य असंज्ञाशाणयोः ७।३।१७) सूत्र में शाण का फिर उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि शाण उसी अर्थ में परिमाणवाची शब्द था जिस प्रकार हिरण्यपरिमाणं धने (६।२।५५) या जातरूपेभ्यः परिमाणे (४।३।१५३) में वर्णित सुवर्णादि। अर्थात् शाण निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। यद्यपि इसके लिये अभी तक निश्चित प्रमाण नहीं मिला पर हमारा अनुमान है कि सुवर्ण माष का ही नामांतर शाण था। बाद के साहित्य में शाण का उदाहरण हमारे देखने में नहीं आया। परंतु वाचस्पत्य कोष में भावप्रकाश ग्रंथ के प्रमाण पर यह लिखा है कि शाण का वजन चार माशे के बराबर था। डा० भांडारकर के मत में माशा एक तोल थी जिसका मूल्य सोने, चाँदी और तांबे के सिक्कों के लिये अलग अलग था (प्राचीन मुद्राशास्त्र, पृ० ५२)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सुवर्ण कर्ष के सोलहवें भाग को माष माना है[2]। सुवर्ण कर्ष का वजन अस्सी गुंजा था। इससे माष की तोल पाँच रत्ती थी। चार माष या शाण २० रत्ती या एक सुवर्ण-पाद के बराबर हुआ।

पाद-निष्क नामक सोने के सिक्के का उल्लेख पतंजलि ने किया ही है। सुवर्ण नामक हिरण्य मुद्रा का भी पाद या चौथाई सिक्का

१—अध्यर्धशाणम्। अध्यर्धशाण्यम्।
पंचशाणम्। पंचशाण्यम्।
द्विशाणम्। त्रिशाणम्।
द्वैशाणम्। त्रैशाणम्
द्विशाण्यम्। त्रिशाण्यम्।
महाभाष्य ५।१।३५

२—अर्थशास्त्र मूल, पृ० १०३।

अवश्य रहा होगा जिसकी स्वतंत्र संज्ञा संभवत: शाण थी। काशिकाकार ने ६।२।६४ और ६।३।१० सूत्रों की व्याख्या में स्तूपे शाण: उदाहरण दिया है। इन सूत्रों में पूर्वी देशों में वसूल होनेवाले एक कानूनी (धर्म्य) कर का उल्लेख है। स्तूपे शाण: उदाहरण का यह अर्थ हो सकता है कि पूर्वी देशों में जो स्तूप बनते थे उनमें प्रत्येक स्तूप के लिये एक शाण राजग्राह्य धर्मानुकूल भाग था।

इ—चाँदी की मुद्राएँ

§ ५. कार्षापण या आहत सिक्के

प्राचीन भारतवर्ष का सब से मशहूर सिक्का चाँदी का कार्षापण था। इसे ही मनुस्मृति में धरण और राजत पुराण (चाँदी का पुराण) भी कहा गया है[१]। पाणिनि ने इन सिक्कों को 'आहत' (५।२।१२०) कहा है। उसी के अनुसार अँगरेज़ी में ये पंच-मार्क्ड (Punch-marked) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सिक्के बुद्ध से भी पुराने हैं और भारतवर्ष में ओर से छोर तक पाए जाते हैं। अब तक लगभग सात सहस्र से भी अधिक चाँदी के कार्षापण मिल चुके हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कार्षापण ही चालू सिक्का है पर वहाँ सर्वत्र इसका संक्षिप्त नाम पण दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चाँदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताँबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था। जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर कार्षापण का उल्लेख है। उसका पालि नाम कहापण था। जातकों के पढ़ने से यह साफ मालूम होता है कि रोजमर्रा के लेन-देन में कहापण और उसकी छोटी खरीज का बहुत चलन था। अष्टाध्यायी में कार्षापण और पण ये दोनों नाम पाए जाते हैं। यथा—

१—द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक:। ८।१३५

ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजत:। ८।१३६

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् । ५।१।२९

पणपादमाषशताद्यत् । ५।१।३४

संभव है चाँदी के सिक्के का नाम कार्षापण और ताँबे के कर्ष का नाम पण रहा हो। मनुस्मृति में ताँबे के कार्षापण को पण कहा है :—

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः । ८ । १३६

अर्थात् ताँबे का कार्षापण जो तोल में एक कर्ष (८० रत्ती) हो पण कहलाता है। पाणिनीय सूत्र ५।१।२५ पर कात्यायन ने कार्षापण का एक नया नाम 'प्रति' दिया है। एक कार्षापण पर मोल ली हुई अर्थात् प्रति कार्षापण के हिसाब वाली वस्तु को संभवतः 'प्रतिक' कहने लगे थे। यही कात्यायन के वार्तिक की ध्वनि है, जिससे 'प्रतिक' पद सिद्ध किया गया है[1]। कार्षापण का 'प्रति' नाम उसके चालू सिक्के होने की बात को और अधिक पुष्ट करता है।

बौद्ध साहित्य में जहाँ कहीं हजारों लाखों का जिक्र है वहाँ कार्षापण पद के बिना भी सहस्र या शतसहस्र कार्षापण ही समझे जाते हैं। हिंदी में जैसे लखपति या करोड़पति का आशय लाख या करोड़ रुपयों वाले मनुष्य से है वैसे ही प्राचीन साहित्य में कार्षापण समझा जाता था। गंगमाल जातक[2] में राजा उदय ने 'अड्ढमासक' भिश्ती से उसके धन की संख्या पूछते हुए 'सतसहस्स' पञ्ञासमहस्स पूछा है जिसका आशय एक लाख और पचास हजार कार्षापण से था। संस्कृत-साहित्य में भी इसी तरह का मुहाविरा पाया जाता है। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर (पृष्ठ ३६८) शतसहस्र, दशसहस्र, पंचसहस्र, सहस्र

१—वा०-कार्षापणाद्वा प्रतिश्च।

भाष्य—कार्षापणाट् टिठन् वक्तव्यो वा च प्रतिरादेशो वक्तव्यः। कार्षापणिकः कार्षापणिकी। प्रतिकः प्रतिकी।

२—गंगमाल-जातक (४२१), पालि-जातक जिल्द ३, पृष्ठ ४४८।

शत और विंशति मुद्राओं के इनाम देने का वर्णन है। वहाँ इनसे पणों का ही अर्थ लिया जाता है।

स्वयं अष्टाध्यायी में भी कार्षापणों के सूचक निरे संख्या-शब्दों का प्रयोग हुआ है। सूत्र ५।१।२१ में सौ से खरीदी हुई वस्तु के लिये शतिक और शत्य प्रयोग हैं। सूत्र ५।१।२७ में हजार की कीमतवाली चीज के लिये 'साहस्र' तथा सूत्र ५।१।२६ में डेढ़ हजार या उससे भी अधिक मोल वाली वस्तु के लिये 'अध्यर्धसहस्रम्', 'अध्यर्धसाहस्रम्', द्विसहस्रम्, द्विसाहस्रम् आदि प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। इन सूत्रों में केवल शत और सहस्र पद उतनी संख्या वाले चाँदी के कार्षापणों का बोध कराते हैं। सूत्र ५।१।३४ में अध्यर्ध द्वि और त्रिपूर्वक शत शब्द १५०, २००, और ३०० कार्षापणों के लिये हैं। द्रव्यवाचक ये संख्याएँ संभवतः बहुत अधिक व्यवहार में आती थीं। इसी तरह सूत्र ५।४।२ में सौ या उससे अधिक जुर्माने और दान का विधान है, वहाँ भी द्विशतिकां दंडितः उदाहरण में दो सौ कार्षापण के जुर्माने का ही ग्रहण होता है।

पतंजलि के भाष्य में भी इस मुहाविरे के कई उदाहरण हैं। ५।१।२१ सूत्र पर एक वार्तिक के भाष्य में भाष्यकार ने एक महत्त्व-पूर्ण वाक्य लिखा है :—

शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतम्,

अर्थात् सौ में खरीदी गई सौ धोतियाँ। यहाँ यह मालूम होता है कि अब से २२०० वर्ष पूर्व एक धोती का मूल्य एक चाँदी का कार्षापण था।

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः सूत्र (५।२।४५) पर वार्तिकों का व्याख्यान करते समय भाष्यकार ने स्पष्ट बताया है कि प्राचीन काल में फुटकर अधिक संख्या की गणना सौ और हजार की दृष्टि से की जाती थी। जैसे १११ में ११ संख्या उसी की सूचक है जिसकी कि १००। अपने उदाहरण में भाष्यकार ने स्वभावतः सौ का तात्पर्य सौ कार्षापण में घटाया है। जैसे ग्यारह अधिक हैं जिस कार्षापण के सैकड़े में

उसको कहेंगे एक सौ ग्यारह (एकादश कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिञ्शते एकादशं शतम्) ।

§ ६ कार्षापण की फुटकर खरीज

जहाँ कार्षापण इतना प्रचलित सिक्का था वहाँ यह स्वाभाविक है कि उससे संबंध रखनेवाले कई तरह के छोटे सिक्के भी चालू हों। फुटकर सिक्कों की तीन सूचियाँ हमें मिलती हैं। एक अष्टाध्यायी से, दूसरी जातकों से[1] और तीसरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से[2]। अष्टाध्यायी में कार्षापण (दूसरा नाम पण), अर्ध (पण), पाद, त्रिमाष, द्विमाष, अध्यर्ध या डेढ़ माष, माष और अर्ध माष का वर्णन है। इसमें कात्यायन ने काकणी और अर्धकाकणी और जोड़ दी हैं। नीचे की तालिका में पाणिनि की सूची जातक और अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर दिखाई गई है। पाठक देखेंगे कि इन दो ग्रंथों की संज्ञाएँ अष्टाध्यायी के नामों से कहीं कहीं भिन्न हैं।

१—गंगमाल-जातक, पालि-जातक, ३।४४८।

तेन हि पञ्ञाससहस्सानि चत्तालीस तिंस वीसति दस पंच चत्तारि तयो द्वे एको कहापणो, अड्ढो, पादो, चत्तारो मासका, तयो, द्वे, एको मासको ति पुच्छि। सब्बं पटिक्खिपित्वा अड्ढमासको ति वुत्ते, आम देव, एत्तकं मह्यं धनम्।

२—अर्थशास्त्र मूल पृ० ८४—

पणम्, अर्धपणम्, पादम्, अष्टभागम् इति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकम्, अर्धमाषकम्, काकणीम, अर्धकाकणीमिति।

अर्थात्—चाँदी के सिक्के—पण, अर्धपण, पाद, अष्टभाग (जैसे अब रुपया, अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी हैं। दुवन्नी अब नहीं रही।) ताँबे के सिक्के—माषक, अर्धमाषक, काकणी, अर्धकाकणी। जान पड़ता है, माषक से ऊपर ताँबे का पण, आधा पण, और चौथाई पण भी रहे।

कार्षापण-तालिका

संख्या	कार्षापण का भाग	अष्टाध्यायी	जातक	अर्थशास्त्र	तोल
१	१/१	कार्षापण और पण	कहापण	पण	३२ रत्ती चाँदी
२	१/२	अर्ध या भाग	अड्ढ	अर्धपण	१६ ,, ,,
३	१/४	पाद	पाद या चत्तारो मासका	पाद	८ ,, ,,
४	३/१६	त्रिमाष	तयो मासका		
५	१/८	द्विमाष	द्वे मासका	अष्टभाग	४ ,, ,,
६	१/१६	माष	मासक	माषक	ताँबे का सिक्का तोल ५ रत्ती
७	१/३२	अर्धमाष	अड्ढमासक	अर्ध माषक	२ १/२ रत्ती
८	१/६४	काकणी (कात्यायन वा० ५।१।३३)		काकणी	१ १/४ रत्ती (चार काकणी का एक माष)
९	१/१२८	अर्धकाकणी (कात्यायन)		अर्धकाकणी	५/८ रत्ती

चाँदी के कार्षापण का भार

कार्षापण नामक चाँदी के सिक्कों की तोल के संबंध में दो तरह की सामग्री है। एक शास्त्रीय, दूसरी कार्षापणों के उपलब्ध नमूने। शास्त्र के वाक्यों में मनुस्मृति का कथन सबसे अधिक स्पष्ट है।

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ।। ८।१३५

ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः ।।८।१३६

अर्थात् २ कृष्णल = १ चाँदी का माशा।

१६ रौप्यमाष = १ धरण या राजत पुराण या ३२ रत्ती।

इस प्रकार चाँदी के पुराण अर्थात् कार्षापण का वजन ३२ रत्ती होता था।

कौटिल्य के अनुसार ८८ गौरसर्षप = १ रूप्यमाषक, और १६ रूप्यमाषक = १ धरण। मनु का धरण और कौटिल्य का धरण एक ही मालूम होते हैं। एक रत्ती की आधुनिक तोल १.८३ ग्रेन के लगभग मानी जाती है (भांडारकर, पृष्ठ ११२)। इस हिसाब से ३२ रत्ती का वजन ५८.५६ ग्रेन होता है। विद्वान् लोग इसी को प्रायः कार्षापण का वजन मानते हैं। रत्ती की तोल घटने बढ़ने से यह वजन ५६ से ६० ग्रेन तक हो सकता है। इसी हिसाब से अर्धकार्षापण, पाद और अष्ट-भाग का वजन निकल आता है। अब तक जो सिक्के मिले हैं उनके वजन की छानबीन करके देखने से पता चला है कि कार्षापण की ऊपर बताई तोल अधिकांश में ठीक ही है। कुछ कार्षापण ऐसे भी हैं जिनकी तोल का हिसाब ३२ रत्ती के साथ मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ डा० स्पूनर को पेशावर से मिले हुए पुराणों में कुछ का वजन ४९.४१ और ५१.७४ ग्रेन के बराबर था। इन अपवादों का कारण सिक्कों की घिसाई या जान बूझकर वजन में की हुई कमी हो सकती है। अधिकांश कार्षापण ३२ रत्तीवाले हिसाब से मिलते हैं। अर्धकार्षापण और पादकार्षापणों की मिली हुई संख्या पूरे कार्षापणों की तुलना में बहुत कम है।

§ ७. अर्धकार्षापण

पाणिनीय सूत्र ५।१।४८ (पूरणार्धाट्ठन्) में अर्ध शब्द अर्ध-कार्षापण के लिये प्रयुक्त हुआ है। काशिका में स्पष्ट कहा है—अर्ध-शब्दो रूपकार्धस्य रूढिः, अर्थात् अर्ध शब्द इस सूत्र में रूपकार्ध 'अधेली' की संज्ञा है। रूपकार्ध का तात्पर्य कार्षापण के अर्धभाग से है। जिस काम में आधा कार्षापण सूद, निकासी, मुनाफा, टैक्स या रिश्वत के रूप में दिया जाय उसे 'अर्धिक' कहते थे। महासुपिन जातक में अर्ध-कार्षापण के लिये सिर्फ अड्ढ शब्द का व्यवहार हुआ है—

कहापणड्ढमासकरूपादीनि—पालि-जातक १।३४०

गंगमाल जातक का जो प्रमाण ऊपर दिया गया है उसमें भी 'अड्ढ' संज्ञा ही है। इससे मालूम होता है कि पाणिनि के और जातकों के समय में अर्धकार्षापण के लिये केवल 'अड्ढ' शब्द काम में आता था। पाणिनि के अगले ही सूत्र में अर्ध के लिये भाग शब्द का भी प्रयोग आता है :—

भागाद्यच्च—५।१।४९

भाग का अर्थ काशिका में 'रूपकार्ध'[1] दिया है जो अर्ध का ही नामांतर है। भागिक का अर्थ भी वही था जो अर्धिक का था। कात्यायन ने भी अर्धकार्षापण के लिये अर्ध शब्द का प्रयोग किया है—

वार्तिक—टिठनर्धाच्च। सूत्र ५।१।२५

कौटिल्य में अर्धकार्षापण के लिये अर्धपण शब्द है। उसका वजन १६ रत्ती=२९·२८ ग्रेन था। इस तोल के आसपास के सिक्के प्राचीन 'अर्ध' के ही नमूने हैं।

§ ८ पादकार्षापण

चौथाई कार्षापण का केवल नाम 'पाद' था। 'पणपादमाषशताद्यत्' सूत्र (५।१।३४) में पाद शब्द इसी के लिये प्रयुक्त जान पड़ता है। सूत्र १।३।७२ के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है—

कर्मकराः कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति। भाष्य[2] १।२९३

अर्थात् मजदूर (कमेरे) इसलिये काम करते हैं कि दिन भर की मजूरी एक पादिक (पावली) हमें मिल जायगा। इससे मालूम होता है कि शुंगकाल में मजदूरों की रोजाना मजदूरी चौथाई कार्षापण अर्थात् ८ रत्ती चाँदी के बराबर थी।

१—भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः। काशिका ५।१।४९

२—महाभाष्य के अवतरण बंबई से प्रकाशित कीलहार्न के संस्करण से लिए हैं। यह उत्तम संस्करण ३ जिल्दों में प्रकाशित हुआ था जिसमें से अंतिम दो जिल्दें अब भी प्राप्य हैं।

पाणिनीय सूत्र ५।४।१ और २ में भी पाद सिक्के का उल्लेख है। द्विपदिका और त्रिपदिका प्रयोगों का उदाहरण काशिका ने और भी कई सूत्रों (६ २।६५;६।३।१०;६।४।१३०) की व्याख्या में दिया है। ये स्वतंत्र सिक्के न थे, बल्कि दो और तीन पादों के वाची हैं। जैसे द्विपदिकां दण्डितः, दो पाद का जुर्माना हुआ; द्विपदिकां व्यवसृजति, दो पाद दान में देता है।

§ ९. अष्टभाग

अर्थशास्त्र ने व्यावहारिक सिक्कों (Token coins) की जो सूची दी है उसमें अष्टभाग का नाम है। यह पण का आठवाँ हिस्सा था। मनुस्मृति (८।४०४) में भी पादार्ध सिक्के का उल्लेख है। अर्थशास्त्र में एक ऐसी सूची है जिसमें सोने और चाँदी की तोल में काम आनेवाले छोटे बट्टों के नाम दिए हुए हैं*। इसमें 'दो माशा' भी एक तोल है। चाँदी की तोल में दो माशे का वजन ४ रत्ती के बराबर हुआ। यही कार्षापण का अष्टभाग सिक्का था। कनिंघम ने लिखा है कि पूरे कार्षापण, अर्ध और पाद इन तीनों के अतिरिक्त अष्टभाग कार्षापण के वास्तविक नमूने अभी तक नहीं मिले।

उ—ताँबे के सिक्के

§ १० माष

सूत्र ५।१।३४ में पण, पाद के बाद माष का जिक्र है। अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि माष ताँबे का सिक्का था। पाणिनीय माष भी ताँबे का ही रहा होगा। अष्टाध्यायी में माष से छोटे अर्धमाष का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर पणपादमाषशताद्यत् इस सूत्र में अध्यर्ध की अनुवृत्ति से डेढ़ माष का जिक्र है। इससे 'अर्धमाष' के अस्तित्व का भी अनुमान होता है। जातकों में तो 'अड्ढमासक' का खूब वर्णन है। गंगमाल जातक में अड्ढमासक नाम के भिश्ती की कथा में

* पादटिप्पणी सामने, पृ० ३९३ में, देखिए।

*(पृष्ठ ३६२ की पाद टिप्पणी)

	अर्धमाषक	माषक	दो	चार	आठ माशे	सुवर्ण	दो सुवर्ण	४ सु०	८ सु०	१० सु०	२० सु०	३० सु०	४० सु०	१०० सु०
सोने की तोल	२½ रत्ती	५ रत्ती	१० रत्ती	२० रत्ती	४० रत्ती	एक कर्ष	२ कर्ष	४ कर्ष = १ पल	२ पल	२½ पल	५ पल	७½ पल	१० पल	२५ पल
चाँदी की तोल	१ रत्ती	२ रत्ती	४ रत्ती अष्ट भाग	८ रत्ती पाद	१६ रत्ती = अर्ध	३२ रत्ती कार्षापण	२ धरण	४ धरण	८ धरण	रजत १० धरण = ४ सुवर्ण कर्ष	२० धरण	३० धरण	४० धरण	१०० धरण

अर्थशास्त्र मूल पृ० १०३

आधे माशे का रोचक वर्णन है। अर्थशास्त्र में सिक्कों की (पृ० ८४) और तोल की (पृ० १०३) सूची में अर्धमाषक की गिनती है।

अर्थशास्त्र में ताँबे के सिक्कों की सूची के आदि में 'पादाजीवं ताम्ररूपं' पद आया है (पृ० ८४)। श्री शामाशास्त्री जी ने इसका अर्थ किया है कि ताँबे के सिक्कों में एक-चौथाई मिलावट रहती थी। पर डा० भांडारकर को बेसनगर की खुदाई में १४७.५ ग्रेन के पूरे वजन के ताम्र कार्षापण, और १११.५ ग्रेन के पौन कार्षापण भी मिले थे[1]। संभव है चाँदी के कार्षापण की भाँति ताँबे के पण में भी एक एक पदा कम वजन के ३/४, १/२, १/४ पण के सिक्के हों। पादाजीवं का संकेत इन्हीं मुद्राओं से ज्ञात होता है।

§ ११. काकणी, अर्ध-काकणी

पाणिनि में इन दो सिक्कों का उल्लेख नहीं है। चाणक्य ने ताँबे की सूची में इनका नाम दिया है (पृ० ८४)। जातकों में हमें इनका संकेत नहीं मिला। डा० भांडारकर ने स्वीकार किया है कि चार काकणी का एक माष होता था (प्राचीन भारतीय मुद्रा, पृ० ११२)।

कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिकों में काकणी और अर्धकाकणी का पहली बार उल्लेख किया है। वहाँ एक, डेढ़ और दो काकणी से मोल ली जानेवाली वस्तु के लिये काकणीक, अध्यर्धकाकणीक और द्विकाकणीक प्रयोग सिद्ध किए गए हैं[2]। मालूम होता है कि पाणिनि के समय में काकणी का व्यवहार नहीं था, अन्यथा उनके सूत्रों में उसके उल्लेख का काफी प्रसंग था।

§ १२. विंशतिक

पाणिनि के सिक्कों की सूची में विंशतिक और त्रिंशत्क ये दो नाम रहस्यमय हैं। विंशतिक का उल्लेख दो सूत्रों में है।

१—प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ११३।

२—काकण्याश्चोपसंख्यानम्।

भाष्य—काकण्याश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। अध्यर्धकाकणीकम्। द्विकाकणीकम्।

वा०—केवलायाश्च।

भाष्य—केवलायाश्चेति वक्तव्यम्। काकणीकम्।

शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण् । ५।१।२७

विंशतिकात्खः । ५।१।३२

पहले सूत्र से वैंशतिक (एक विंशतिक से मोल लिया हुआ) और दूसरे से अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन (१$\frac{1}{2}$, २, ३ विंशतिक से क्रीत) ये प्रयोग बनते हैं। विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् ५।१।२४ सूत्र के द्वारा असंज्ञा में विंशक त्रिंशक और संज्ञा अर्थ में पाणिनि ने विंशतिक और त्रिंशत्क पदों का विधान किया है। प्रसंग से ये संज्ञाएँ सिक्कों की जान पड़ती हैं। विंशतिक शब्द २० हिस्सों वाले सिक्के का संकेत करता है। विंशति से पहले संज्ञा [किसी (संभवत: सिक्के) के नाम] के लिये विंशतिक बनता है, पुन: तेन क्रीतं आदि अर्थों में वैंशतिक प्रयोग सिद्ध होता है। प्रश्न यह है कि विंशतिक नाम की कौन सी मुद्रा थी ? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि कुछ प्राचीन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि एक प्रकार के कार्षापण सिक्के के २० भाग होते थे। अर्थात् एक तरह का कार्षापण १६ माषों के स्थान में २० माष का होता था। सम्भव है बीस भाग होने के कारण उसी का नाम विंशतिक हो। इससे अधिक अभी कुछ कहना कठिन है। वे प्रमाण ये हैं :—

(१) विनयपिटक पर बुद्धघोष-कृत समंत-पासादिका टीका में लिखा है।

तदा राजगहे वीसतिमासको कहापणो होति, तस्मा पंच-मासको पादो।

अर्थात् राजा बिंबसार के समय में राजगृह में बीस माषक का कार्षापण था। उसके एक पाद का वजन ५ माषक था। समंत-पासादिका पर सारिपुत्त थेर की सारत्थदीपनी टीका ने भी इसकी पुष्टि की है[१]।

१—इमिना व सब्बजनपदेसु कहापणस्स वीसतिमो भागो मासको ति। 'Some new numismatic Terms in Pali Texts' by C. D. Chatterji, M. A. JUPHS., May 1933, p. 158.

(२) गंगमाल जातक में कार्षापण के फुटकर छोटे सिक्कों की नामावली में पाद के बाद उससे कम मूल्य के चार मासक सिक्के का वर्णन है। यह तभी संभव है जब पाद पाँच मासक के बराबर हो और कार्षापण २० मासक का।

(३) कौटिल्य ने धरण का वजन १६ रौप्यमासक या २० शैब्य बीज दिया है। संभवतः २० शैब्य बीजोंवाले कार्षापण के ही २० भाग होते थे। (अर्थशास्त्र पृ० १०३)।

(४) याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३६४) में एक पल को चार या पाँच सुवर्ण के बराबर माना है। इस पर मिताक्षरा का वचन है कि पाँच सुवर्ण के बराबर १ पल मानने से पण का वजन २० माष मानना होगा (पंचसुवर्णपलपक्षे विंशतिमाषः पणो भवति याज्ञ० १।३६५)।

(५) कात्यायनस्मृति में भी एक कार्षापण को २० माषक के बराबर माना है। (डा० भांडारकर, पृ० १८६।)

(६) पाणिनि १।२।६४ पर पतंजलि ने लिखा है—

अपरस्त्वाह। पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणं षोडश-फलाश्च (? पलाश्च) माषशम्बस्यः। तत्र संख्यासामान्यात्सिद्धम्।

अर्थात् किन्हीं आचार्य का मत है कि पूर्व समय में सोलह माष का कार्षापण होता था और सोलह फल (पल) की एक माषशंबटी होती थी, तब दोनों माष शब्दों के साथ सोलह की संख्या का समान संबंध था। जिस आचार्य का यह पक्ष है उनके मत में १६ माषवाला कार्षापण पुराकल्प की घटना है। डा० शामाशास्त्री का अनुमान है कि पुराकल्पवाला यह कार्षापण वही है जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। पर इससे यह अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि कौटिल्य से पहले २० माषकवाले कार्षापण का अथवा कौटिल्य के बाद १६ माषकवाले कार्षापण का प्रचार नहीं था। ऐसा मालूम होता है कि एक ही समय में देशभेद से दोनों प्रकार के कार्षापणों का चलन था, जैसे राजगृह में २० माषकवाला कार्षापण चालू था। तभी तो हम बिंबसार के समय

में, जातकों में और पतंजलि में २० भागवाले कार्षापण का वर्णन पाते हैं और उसके बीच में अर्थशास्त्र में १६ माषक कार्षापण का।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि २० भागवाले कार्षापण का भी यहाँ रिवाज था। पाणिनि के विंशतिक सिक्के का संबंध इसी २० भागवाले कार्षापण से प्रतीत होता है। इसी कारण उसकी एक विशेष संज्ञा पड़ गई थी। साथ ही सोलह माषकवाला कार्षापण भी पाणिनि को ज्ञात था और व्यवहार में वही अधिक प्रचलित भी रहा होगा।

पाणिनि ने जिस त्रिंशत्क का उल्लेख किया है (५।१।२४) वह संभवतः विंशतिक का ड्योढ़ा था और उसका मूल्य अध्यर्धकार्षापण (५।१।२९) के बराबर रहा होगा। कार्षापण के जो कई प्रकार के वजन के नमूने मिलते हैं उनका समन्वय संभव है कि १६ और २० माशे की तोल के भेद से लग सके। डा० भांडारकर ने भी इस बात का अनुभव किया था कि कार्षापणों के भिन्न भिन्न वजनों में क्रमिक अंतर लगभग आधे माशे (१·८३ ग्रेन) का था (डा० भांडारकर, पृ० १२०)। विंशतिक सिक्के की वास्तविक पहचान का विषय अभी और अधिक छानबीन की अपेक्षा रखता है।

§ १३. रूप या रूप्य

प्राचीन कार्षापण सिक्कों को आहत सिक्कों का नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि उन पर अनेक प्रकार के रूप (symbols) ठप्पों से छापे हुए मिलते हैं। आहत नाम भी एक प्रकार से पाणिनि का ही दिया हुआ है—

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ।५।२।१२०

सूत्रार्थ—रूप शब्द के बाद यप् प्रत्यय आहत और प्रशंसा अर्थों में जोड़ा जाता है। जैसे रूप्यो गौः, प्रशंसनीय रूपवाला बैल। आहत के लिये काशिका में तीन उदाहरण हैं—

आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः,

रूप्य: केदार:,

रूप्यं कार्षापणम् ।

काशिकाकार ने आहत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि निहाई पर रखकर पीटने से दीनार आदि पर जो रूप बनाया जाता है उसे आहत कहते हैं। (निघातिकाताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पाद्यते तदाहतमित्युच्यते ।)

हमारी सम्मति में कार्षापण को तो रूप्य विशेषण से अभिहित करना ठीक है क्योंकि उसपर ठप्पे से चिह्न ठोक कर बनाए जाते थे, पर दीनार सिक्के ढलवाँ बनते थे। उनके लिये निघातिकाताडनादि कहना संगत नहीं जान पड़ता। यही हाल 'केदार' सिक्कों का है जिनका संबंध किदर कुषाणों के साथ था। कार्षापण बनाने की विधि यह थी। एक चाँदी की चादर को गढ़कर उसकी लंबी चिटें काट ली जाती थीं। फिर हर एक चिट को छोटे छोटे टुकड़ों में काट लेते थे और कोने कतरकर उनका वजन एक समान कर लेते थे। इसके बाद हर टुकड़े पर अलग अलग ठप्पे (डाई) से एक एक चिह्न या रूप ठोका जाता था। विद्वानों का विचार है कि प्रारंभ में एक रूप के लिये एक ठप्पा काम में लाया जाता था, पर बाद में एक ही डाई से कई रूप भी बनाए जाते थे। पाणिनि ने 'रूपात्' एकवचनांत पद रखा है, जो संभवत: एक रूप के लिये एक ठप्पे की बात को सूचित करता है।

कार्षापणों के प्राचीन रूपों का अध्ययन एक रोचक विषय है। काशी के श्री दुर्गाप्रसादजी ने अनेक प्रकार के रूपों को छाँटकर उनका वर्गीकरण और पहचान करके लगभग ५६४ प्रकार के रूपों की तालिका दी है। उससे यह भी मालूम होता है कि किस स्थान के कार्षापणों पर कौन कौन से रूपों का समुदाय छापा जाता था। पतंजलि ने अइउण् सूत्र पर १६ वें वार्तिक के भाष्य में लिखा है :—

तदेवेदं भवत: कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम् ।

अर्थ—यही वह आपका कार्षापण है जो हमने मथुरा में लिया था। यहाँ मथुरा के कार्षापणों का उल्लेख कारणवश ही हुआ है। वह यह कि शूरसेन जनपद के प्राचीन कार्षापणों पर जो कई प्रकार के रूपों का एक समुदाय था वह अन्यत्र नहीं मिलता था और बहुत स्पष्ट होने के कारण उसकी पहचान भी सरल थी। श्री दुर्गाप्रसादजी ने अपनी पुस्तक में मथुरा के प्राचीन कार्षापणों के उन विशेष रूपों का चित्र भी दिया है।

कौटिल्य ने रूपदर्शक नाम के एक अफसर का जिक्र किया है जो सरकारी खजाने में आनेवाले (कोशप्रवेश्य) सिक्कों की परख किया करता था। पतंजलि ने उसी का उल्लेख रूपतर्क के नाम से किया है।

पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्।

दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। (भाष्य१।४।५२, वार्तिक४)

रूपदर्शक और रूपतर्क में रूप का अर्थ है सिक्का। पर पाणिनि की अष्टाध्यायी में रूप का अर्थ है चिह्न-विशेष। उस चिह्न-विशेष से आहत सिक्कों का विशेषण रूप्य शब्द था। संभव है, कालांतर में रूप्य विशेष्य पद बनकर उन्हीं सिक्कों के लिये और फिर सब प्रकार के सिक्कों के लिये प्रयुक्त होने लगा था।

§ १४. निष्कर्ष

पाणिनिकाल में व्यवहार के लिये सोने, चाँदी और ताँबे के अलग अलग सिक्कों का प्रचलन था। सोने के सिक्कों में निष्क, शतमान और सुवर्ण प्रधान थे। चाँदी के सिक्कों में कार्षापण मुख्य था। कार्षापण प्राचीन आहत सिक्का है जिसका वर्णन जातकों और अर्थशास्त्र में भी खूब आता है। यही उस समय का कोशप्रवेश्य (legal tender) सिक्का था जिसके साथ और फुटकर व्यावहारिक (Token) सिक्कों का संबंध था। अर्ध और पाद सिक्के भी चाँदी के थे। ताँबे के सिक्कों में माष प्रधान था।

अर्थशास्त्र, जातक और अष्टाध्यायी में प्राचीन मुद्राओं के संबंध की जो सामग्री है उसकी पारस्परिक समानता को देखते हुए पाणिनि का काल अर्थशास्त्र के समीप ही जान पड़ता है। अर्थशास्त्र का समय ईसवी चौथी शताब्दी पूर्व है। डा० राइस डेविड्स ने जातकों को भी ईसवी चौथी-तीसरी सदी पूर्व का माना है[१]। पाणिनि इससे लगभग एक शताब्दी पूर्व हुए प्रतीत होते हैं। उनका काल कौटिल्य से लगभग सौ वर्ष पूर्व अर्थात् पाँचवीं सदी ईसवी पूर्व विदित होता है। प्राचीन अनुश्रुति ने उन्हें नंद राजों का समकालीन माना है। और संभावना यही है कि यह परंपरा ठीक हो। प्राचीन मुद्राओं की दृष्टि से अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र का सान्निध्य स्पष्ट ही है।

१—Buddhist Birth Stories, Nidāna Kathā, Introduction, p. lxxiv.

(१६) परिव्राजक महाराज हस्तिन् के दानपत्र

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्यभाग से गुप्त-साम्राज्य क्षीण होने लगा था। इस अवनति-काल में गुप्त नरेश सर्वथा शक्तिहीन नहीं हो गए थे क्योंकि उनके समय के उपलब्ध सिक्कों तथा लेखों से यह प्रकट होता है कि बहुत से अधीनस्थ सामंत उन गुप्त-नरेशों की छत्रछाया में राज्य करते थे। इन्हीं सामंतों में से मध्य भारत के परिव्राजक भी थे। परिव्राजकों के ताम्रपत्रों[१] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के अधीन होने के कारण ही 'गुप्त-संवत्' का प्रयोग उन पत्रों में परिव्राजक महाराजाओं ने किया है। इस समय के लेखों के अध्ययन से ये बातें पुष्ट होती हैं। महाराज मातृविष्णु ने बुधगुप्त के अधीन होने के कारण ही 'गुप्त-संवत्' का उल्लेख किया है[२] और उसी के छोटे भाई धन्यविष्णु के लेख में इस संवत् का नाम नहीं मिलता, क्योंकि वह तोरमाण (हूण राजा) का सामंत था[३]।

महाराज हस्तिन् के दानपत्र के वर्णन से पूर्व उनके इतिहास का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक जान पड़ता है। परिव्राजक लोगों के विस्तृत इतिहास का पता नहीं है। पर उस वंश के कतिपय लेख मध्यभारत (खोह तथा मझगँवा आदि) में मिले हैं जिनसे उस वंश के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। हस्तिन् के पुत्र संक्षोभ के ताम्रपत्र में निम्नलिखित वंश-वृक्ष उल्लिखित है[४]—

१—फ्लीट—गुप्तलेख नं० २१–२५ [स्वस्ति ए— गुप्तनृपराज्यभुक्तौ]।

२—वही नं० १६।

३—वही नं० ३६।

४—वही नं० २५—

नृपतिपरिव्राजकसुशर्मणः कुलोत्पन्नेन महाराजश्रीदेवाढ्यपुत्रप्रनप्त्रा महाराजश्रीप्रभंजनप्रनप्त्रा महाराजश्रीदामोदरनप्त्रा गोसहस्रहस्तिअश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदस्य ....महाराजश्रीहस्तिसुतेन......महाराज संक्षोभेण।

सुशर्म्मा
।
देवाढ्य
।
प्रभंजन
।
दामोदर
।
हस्तिन्
।
संक्षोभ

उनकी तिथि से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परिव्राजक महाराज ईसा की पाँचवीं शताब्दी में मध्य भारत में, गुप्तों के सामंत के रूप में, शासन करते थे। लेखों के प्राप्तिस्थान[१] से यह अनुमान किया गया है कि उनका निवासस्थान मध्य भारत ही था। वर्तमान समय में भी अथिथ लोगों की वहाँ बस्ती है जो परिव्राजकों की वंशपरंपरा में समझे जाते हैं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि परिव्राजक गुप्त नरेशों के सामंत (अधीनस्थ शासक) थे। परंतु उनकी उपाधि 'महाराज' से कुछ भ्रम पैदा हो जाता है। उपाधि के विषय का विवेचन इस प्रसंग के बाहर की बात है अतएव उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस समय सामंत भी 'महाराज' की उपाधि धारण करते थे।

परिव्राजक सामंतों में सर्वप्रथम लेख महाराज हस्तिन् के ही मिलते हैं। इसके पूर्व किसी ने भी कोई लेख नहीं खुदवाया। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि संभवत: पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में गुप्त-सम्राट् ने परिव्राजक सामंतों को किसी प्रकार का लेख उत्कीर्ण कराने की आज्ञा नहीं दी थी। जब गुप्तवंश की क्षीण अवस्था प्रारंभ हुई तब गुप्त नरेशों ने नीतिवश परिव्राजकों को अधिक शासनाधिकार दे दिया होगा। उस समय सामंतों को अपने वश में रखने की ही नीति थी। कहीं ऐसा न हो कि सौराष्ट्र की तरह वे भी स्वतंत्र हो जायँ। इन्हीं सब कारणों से संभवत: महाराज हस्तिन् को दान देने की आज्ञा मिली थी। महाराज हस्तिन् के कई दान-लेख मिले हैं जो ताम्रपत्र पर खुदे हैं। महाराज हस्तिन् के पुत्र संक्षोभ के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि वह गुरु, पिता, माता, गो तथा ब्राह्मण का सेवक था[२]।

१—खोह (आधुनिक उचेहरा) तथा मझगँवा (बघेलखंड)।

२—गोसहस्रहस्तिअश्वहिरण्यभूमिप्रदस्य गुरुपितृमातृपूजातत्परस्य ब्राह्मणभक्तस्य......................महाराजश्रीहस्तिन (गुप्तलेख नं० २५)

जैसा ऊपर बतलाया गया है, परिव्राजक महाराज हस्तिन् ब्राह्मण-सेवक थे। अतएव उनके लेखों में दान का ही उल्लेख मिलता है। पहले के गुप्तलेखों में किसी बड़े भारी समर तथा राजाओं के विजय का भी वर्णन मिलता है परंतु पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् का विषय दान ही रहा। अतएव वे लेख ताम्रपत्र पर खुदे रहते थे। हमारे यहाँ ऋषियों ने यह निश्चित कर दिया था कि ऐसे दान-लेख में किन-किन बातों का वर्णन किया जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार उन दान-पत्रों या लेखों में निम्नलिखित बातों का समावेश होना चाहिए—

दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं च कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः॥
पट्टे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः॥
प्रतिग्रहपरिमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्।
स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम्॥

(१, ३१८-२०)

याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्णित है कि आगामी राजाओं के ज्ञान के लिये दानपत्र या निबंध को कपड़े या ताम्रपत्र पर अंकित कराना चाहिए। उसमें अपने चिह्न तथा वंशपरंपरा का भी वर्णन हो। जितनी भूमि या जो चीज दान में दी जाय, उसका भी हवाला दिया जाय। उसमें दानोच्छेद का भी परिणाम लिख देना चाहिए।

इसी आदेश के अनुसार पाँचवीं शताब्दी से दानपत्र लिखे जाने लगे। महाराज हस्तिन् के दानलेख में भी स्मृति के अनुसार बातें उल्लिखित हैं[१]। परंतु इन दानपत्रों में कुछ विशेष बातों का वर्णन है जिनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ये विशिष्ट शब्द पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में बहुधा मिलते हैं। महाराज

१—देखिए—परिशिष्ट में लेख।

हस्तिन् के मझगँवा के दानपत्र में साधारण वर्णन के अतिरिक्त नीचे लिखे हुए विशेष शब्द पाए जाते हैं जिनका विवेचन आवश्यक है—

(१) सोद्रंग, (२) सोपरिकर, (३) अचाटभटप्रवेश्यः, (४) चौरवर्ज्जम्।

इन बातों के वर्णन से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि गुप्तकाल में मंदिरों तथा ब्राह्मणों को बहुत भूमि अग्रहार दान में दी जाती थी। इनके प्रबंध के लिये समिति होती थी जिसका वर्णन तथा उल्लेख गुप्त लेखों में मिलता है[१]। इस भूमि का 'ब्रह्मदेय', 'देवदेय', अथवा देवाग्रहार के नाम से उल्लेख मिलता है[२]। महाराज हस्तिन् के दानपत्र में समिति का वर्णन नहीं मिलता। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि दान लेनेवाला स्वयं प्रबंध करता होगा। देवदेय को दान-ग्राही तथा उसके वंशज अनंत काल तक भोग सकते थे परंतु उसे विक्रय करने का अधिकार उन्हें नहीं होता था।

गुप्तदान-लेख के अनुसार महाराज हस्तिन् के दानपत्र में भी ऊपर लिखे हुए शब्दों का उल्लेख पाया जाता है। जो भूमि दान में दी जाती थी उसके दानग्राही को उपर्युक्त बातों का अधिकार होता था।

(१) सोद्रंग—इसका अर्थ है उद्रंग के साथ (स + उद्रंग)। यह तो सर्वविदित है कि जनता राजा को भूमि-कर देती है। राज्य के लिये भूमिकर एक बहुत बड़ा आय का साधन है। परंतु जो भूमि दान में दे दी जाती थी, उसका कर (लगान) राजा के कोष में नहीं आता था। दानग्राही को यह अधिकार मिल जाता था कि वह भूमि-कर वसूल किया करे। अतएव उद्रंग (भूमि-कर) के साथ ब्रह्मदेय भूमि का उल्लेख मिलता है।

(२) सोपरिकर—शासक भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य प्रकार का कर भी लगाता था जो केवल धान्य के रूप में दिया जाता था। उन

१—फ्लीट—गुप्तलेख नं० १८।

२—'हिंदू रेवेन्यू सिस्टम'—पृ० २१७।

करों की वसूली का भी अधिकार दानग्राही को था और दानपत्रों में इसका वर्णन मिलता है। इस शब्द का अर्थ है उपरि-कर के साथ (स + उपरि-कर)।

(३) अचाटभटप्रवेश्य—राजा की सेना जब भ्रमण करने निकलती थी तब जनता को एक प्रकार का कर देना पड़ता था। यह कोई निश्चित कर नहीं था और यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस रूप (धान्य या हिरण्य) में यह कर लिया जाता था। लेखों में इसी लिये 'चाट-भट-प्रवेश-दंड' का उल्लेख मिलता है। भूमिदान देते समय शासक इस बात के लिये सतर्क रहता था कि ब्रह्मदेय भूमि में यह कर न लगने पावे। अतएव उन दानपत्रों में यह निश्चित रूप से उल्लिखित कर दिया जाता था कि दानग्राही को 'चाटभटप्रवेश दंड' न देना होगा। इसी कारण दानपत्र में 'अचाटभट-प्रवेश्यः' का उल्लेख मिलता है। अर्थात् उस भूमि में सेना नहीं जा सकती तथा तत्संबंधी कर भी नहीं लगाया जा सकेगा।

(४) चौरवर्ज्जम्—प्राचीन भारत में स्थायी कर के अतिरिक्त कुछ सामयिक कर भी लगाए जाते थे। उन सामयिक करों में से एक का वर्णन ऊपर किया गया है। चौथा 'चौर-वर्ज्जम्' भी एक प्रकार का सामयिक कर था। इसका अर्थ विद्वानों ने पुलिस-टैक्स बतलाया है। विशेष अवस्था में जनता को पुलिस-टैक्स देना पड़ता था। परंतु दानपत्रों में स्पष्टतया इसका वर्णन मिलता है कि दानभूमि के ग्रहण करनेवाले को पुलिस-टैक्स नहीं देना पड़ेगा। इस प्रकार ब्रह्मदेय भूमि सामयिक कर से मुक्त कर दी जाती थी और स्थायी कर (लगान) वसूल करने का पूर्ण अधिकार दानग्राही को मिल जाता था।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, याज्ञवल्क्य स्मृति के आदेशानुसार ही दानपत्र लिखे जाते थे, अर्थात् वे लेख ताम्रपत्र पर अंकित रहते थे, उनमें वंशपरंपरा का वर्णन रहता था, दान की हुई भूमि की मात्रा तथा दानोच्छेद के बुरे परिणामों का भी वर्णन रहता था। परिव्राजक

महाराज हस्तिन् के दानलेखों में अन्य बातों के उल्लेख के साथ साथ दानोच्छेद के परिणामों का वर्णन सुचारु रूप से मिलता है। महाराज हस्तिन् के लेख में इसके पाँच श्लोक मिलते हैं। इस प्रकार के श्लोक पाँचवीं शताब्दी के बादवाले दानपत्रों में ही उल्लिखित मिलते हैं। परिव्राजकों के दानपत्रों में ऐसे श्लोकों की संख्या पाँच है। शनैः शनैः अन्य दान-लेखों में इन श्लोकों की संख्या बढ़ती गई। यहाँ तक कि इनकी संख्या चालीस के लगभग मिलती है। इन श्लोकों का विस्तृत विवरण प्रोफेसर काणे ने 'भारतीय अनुशीलन' में 'प्राचीन राजशासनांतील दानच्छेदाचा निषेध करणारे श्लोक' (मराठी) के अंतर्गत किया है। इन श्लोकों के अन्य विवेचन में न जाकर दानपत्र में उल्लिखित दानोच्छेद के कुछ बुरे परिणामों को पाठकों के सम्मुख रखना है। इस दान-लेख में भी स्वर्ग तथा नरक की भावना को उपस्थित किया गया है।

षष्टिं वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥
स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्जते ॥

'जो मनुष्य दान में भूमि देता है वह साठ हजार वर्ष स्वर्ग में आनंद करता है। परंतु जो मनुष्य उसे अपहरण (दान की हुई भूमि को वापस) करता है और जो उसके कार्य का अनुमोदन करता है वह नरक जाता है। जो अपनी या दूसरे की दी हुई भूमि को वापस लेता है वह विष्ठा का कीड़ा बनता है और अपने पितरों के साथ उसी में पड़ा रहता है।'

ये श्लोक स्मृति या श्रुति-ग्रंथों में मिलते हैं। उन्हीं का दानपत्रों में उद्धरण पाया जाता है। इन लेखों में दानोच्छेत्ता को नरक का भय दिखलाते हैं तथा दूसरे स्थान में उस मनुष्य की उपमा काले सर्प से देते हैं—

अपानीयेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिनः।
कृष्णाहयोऽभिजायन्ते पूर्वदायं हरन्ति ये ॥

परिव्राजक महाराज हस्तिन् के दानपत्र में एक विशेष उल्लेख पाया जाता है जो और किसी लेख में नहीं मिलता। मझगँवा के दानपत्र में उपर्युक्त दानोच्छेद के श्लोकों के अतिरिक्त यह वाक्य, "योऽन्यथा कुर्य्यात्तमहं देहान्तरगतोपि महतावध्यानेन निर्दहेयम्" मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि दान के अपहरण करनेवाले यदि किसी प्रकार का भय न मानेंगे तो दान देनेवाला दूसरे लोक में रहता हुआ शाप देकर उस मनुष्य का नाश कर देगा। इन सब वर्णनों के साथ दानपत्र लिखे जाते थे ताकि दानग्राही को किसी प्रकार का भय दाता की वंशपरंपरा से न हो।

परिशिष्ट

महाराज हस्तिन् का मझगँवा का ताम्रपत्र लेख—गुप्त संवत् १९१

नमो महादेवाय। स्वस्त्यैकनवत्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमान महाचैत्र संवत्सरे माघमास बहुलपक्ष तृतीयायामस्यां संवत्सरमासदिवसपूर्वायाम् तिथौ। नृपति परिव्राजककुलोत्पन्नेन महाराजदेवढ्याप्रनप्त्रा महाराजश्रीप्रभंजननप्त्रा महाराज श्रीदामोदरसुतेन गोसहस्रहस्तिअश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेन गुरुपितृमातृपूजातत्परेण अत्यन्तदेवब्राह्मणभक्तेनानेकसमरशतविजयिना स्ववंशआमोदकरेण महाराज श्रीहस्तिना महादेवि देव सुखविज्ञप्त्या **कालुगर्त्तो** नामग्राम: पूर्वाघाटपरिच्छेदमर्यादा **सोद्रंग सोपरिकरोऽचाटभटप्रवेश्य:** मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये महादेविदेवसुखां च स्वर्गसोपानपंक्तिमारोपयता औपमन्यवसगोत्रेभ्यश्छन्दोग कौथुमसब्रह्मचारिभ्योऽमाभ्या ब्राह्मणेभ्यो गोविन्दस्वामिगौमिकस्वामिदेवस्वामिभ्य: पुत्रपौत्रान्वयोपभोग्यस्ताम्रशासने**नाग्राहारो**ऽतिसृष्ट:—**चौरवर्ज्जम्**। तदस्मत्कुलोत्थैर्मत्पादपिण्डोपजीविभि: वा कालान्तरेषु अपि **न व्याघात: करणीय:**। एवमाज्ञापिते **योऽन्यथा कुर्यात्तमहं देहान्तरगतोऽपि महतावद्ध्यानेन निर्दहेयम्** उक्तं च भगवता परमर्षिणा वेदव्यासेन व्यासेन।

पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर।
महीं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्॥ १॥
बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा भूमिः तस्य तस्य तदा फलम्॥ २॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्॥ ३॥
स्वदत्तां परदत्तां च यो हरेत वसुन्धराम्।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्जते॥ ४॥
अपानीयेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिनः।
कृष्णाहयोभिजायन्ते पूर्वं दायं हरन्ति ये॥ ५॥

लिखितं च वक्रामात्यप्रनप्तृनप्त्रा भोगि कनरदत्तप्रनप्त्रा रविदत्तनप्त्रा सूर्यदत्तपुत्रेण महासन्धिविग्रहिकविभुदत्तेनेति। महाबलाधिकृतनागसिंहदूतकः।

---

(२०) 'ढोला-मारू रा दूहा' की आलोचना*

[लेखक—स्वर्गवासी श्री मुंशी अजमेरी]

'ढोला-मारू रा दूहा' नाम की पुस्तक का संपादन बड़ी योग्यता से किया गया है। इसके तीनों संपादकों ने इस पुस्तक में बड़ा परिश्रम किया है। इसका संपादन पूरे पाँच वर्षों में, कोई १६-१७ प्रतियाँ देखकर, किया गया है। परंतु जब "कंटक गुलाब में हैं, अंक है मयंक में" तब इसमें भी कुछ त्रुटियों का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। अस्तु, अब मैं उन त्रुटियों का उल्लेख करता हूँ जो मेरी दृष्टि में आई हैं। मैं आशा करता हूँ कि इसके लिये सुयोग्य संपादक मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

प्रस्तावना के "लोकगीत" में सुयोग्य संपादकों ने लिखा है—"बहुत संभव है कि आरंभ में यह गीत किसी एक व्यक्ति की रचना हो, क्योंकि हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि किसी जनसमाज ने किसी एक स्थान पर एकत्र होकर इसके मूल रूप को निर्मित किया हो। पर आगे चलकर यह जनता की वस्तु बन गया और जनता द्वारा परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन उसके (इसके) बराबर होते रहे"। किसी को किसी एक दोहे का भाव अच्छा लगा, उसने उसी भाव को विशद रूप से व्यक्त करने के लिये उसी प्रकार के दो-चार दोहे और जोड़ दिए, किसी ने दूसरी कहानियों से लेकर इसमें मिला दिए। इस प्रकार इसमें भरती के बहुत दोहे मिल गए। ऐसे दोहे स्थान स्थान पर दृष्टि में आते हैं। इसी से इसका कलेवर बहुत बढ़ गया और अनेक दोहे अनावश्यक एवं अनुचित भी आ गए हैं। इसके दोहों का कलेवर इतना अधिक बढ़ गया है कि कथा-भाग एक प्रकार से चला चलता है। फिर भी यह बात नहीं है कि गद्य की आवश्यकता कहीं भी प्रतीत न होती हो, वह तो यत्र-तत्र प्रतीत

* इस लेख का पहला खड 'ढोला-मारू रा दूहा का परिचय' पत्रिका भाग १८, पृष्ठ ३०३—३२४ पर प्रकाशित हुआ है।—संपादक।

होती ही है। अनेक स्थानों पर गद्य की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी से मैं कहता हूँ कि यह गद्य वार्ता के दोहों का संग्रह है।

फुटकर विषय

दूहे—

इस पुस्तक के दोहे राजस्थानी भाषा में हैं। राजस्थानी में दोहे को एकवचन में 'दूहो' और बहुवचन में 'दूहा' कहते हैं। इस पुस्तक की प्रस्तावना हिंदी में लिखी गई है, परंतु उसमें 'दोहे' की जगह 'दूहे' शब्द का प्रयोग किया गया है—यह राजस्थानी और हिंदी, दोनों ही भाषाओं के विचार से अशुद्ध है। हिंदी में तो 'दूहे' की जगह 'दोहे' और 'दूहों' की जगह 'दोहों' ही लिखना चाहिए था।

सोरठियो दूहो—

संपादक सज्जनों ने सोरठे को 'सोरठिया दोहा' अर्थात् सोरठ देश का दोहा माना है और इसके प्रमाण में एक दोहा दिया है—'सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात। जोबन छाई धण भली, ताराँ छाई रात'। यही बात परिशिष्ट पृष्ठ ४०१ में भी दोहराई गई है।

दोहे के प्रथम चरण को द्वितीय और द्वितीय को प्रथम एवं तृतीय को चतुर्थ और चतुर्थ चरण को तृतीय कर देने से सोरठा और सोरठे के चरणों को इसी प्रकार पलट देने से दोहा हो जाता है, परंतु हैं वे दो भिन्न छंद। फिर भी, इन उभय छंदों में अत्यंत घनिष्ठता देखकर यदि राजस्थानी वालों ने उन्हें एक ही छंद मान लिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वे वैसा मान सकते हैं। परंतु वे सोरठे को सोरठ देश का दोहा मानते हैं, सोरठा सोरठ देश का दोहा है, इसका क्या अर्थ? क्या सौराष्ट्र देश में दोहे नहीं होते, वहाँ वाले सोरठे को ही दोहा मानकर संतोष करते हैं? यह एक सामान्य दोहा ही है। इसे मैंने भी सुना है, किंतु कुछ अन्य रूप में "सोरठियो दूहो भलो, कपड़ो भलो सपेत। ठाकरियो दाता भलो, घुड़लो भलो कमेत"। मेरी राय में, कविता की दृष्टि से, उस दोहे से यह दोहा अच्छा है। इन दोहों में जो कहा गया है कि सोरठियो दूहो भलो, सो इससे तात्पर्य सोरठे की प्रशंसा

से नहीं है। यदि यह कहा जाता कि दोहा सोरठा अच्छा होता है, तो यह कथन दोहे में न होकर सोरठे में ही होता। प्रशंसा सोरठे की और छंद दोहा! मैं इसका अर्थ यह समझता हूँ कि सोरठ का दोहा अच्छा। सोरठ एक रागिनी है जो राजस्थान में विशेष रूप से गाई जाती है। उस रागिनी में दोहा बहुत ही अच्छा खिलता है। राजस्थान में अनेक राग-रागिनियाँ गाई जाती हैं। उन राग-रागिनियों के अलग अलग दोहे होते हैं, जो उन्हीं राग-रागिनियों में गाए जाते हैं और उन्हीं के कहलाते हैं—जैसे धाँनी रो दूहो, सूबह रो दूहो, सोरठ रो दूहो इत्यादि।

सानुनासिक व्यंजन और बिंदु—

हिंदी के कुछ विद्वानों का मत है कि सानुनासिक व्यंजनों पर बिंदु या अर्द्धबिंदु देने की आवश्यकता नहीं। मेरा नम्र निवेदन यह है कि उस अक्षर या शब्द के, जिसमें वह अक्षर आया हो, उच्चारणानुसार बिंदु या अर्द्धबिंदु देना चाहिए। ऐसा न करने से कहीं कहीं तो अर्थ का अनर्थ ही हो जायगा। माया या माता में आए हुए 'मा' का और 'माँ' का क्या एक ही सा उच्चारण है? 'माही' और 'माँही', 'माह' और 'माँह' एवं 'मादा' और 'माँदा' क्या एक ही है? यही बात 'न' में है। नाद और नाँद दोनों अलग अलग हैं। नाद=शब्द, आवाज, और नाँद=मिट्टी, पीतल या ताँबे का वह बड़ा बर्तन जो पानी भरने के काम में आता है। नाई और नाँई, नाव और नाँव, नाय और नाँय, नाह और नाँह कदापि एक नहीं हो सकते।

उच्चारण के अनुसार बिंदु या अर्द्धबिंदु न लगाने से जिस प्रकार हिंदी के शब्दों की वास्तविकता में अंतर आ जाता है, उसी प्रकार राजस्थानी के शब्दों में भी विकृति आ जाती है। इस पुस्तक में 'जाणे' शब्द कई बार आया है और सर्वत्र 'मानों' के अर्थ में आया है, पर राजस्थानी के अनुसार उसका अर्थ 'मानों' न होकर 'जानना' होता है। वह भी कब? जब 'जाँणे' हो। तूँ जाँणे=तू जानना। 'मानों' या 'जनु' के लिये 'जाँणों' होना चाहिए था, परंतु सर्वत्र 'जाणे' है, जो अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध है। राजस्थानी में तो अर्द्धबिंदु की और भी अधिक आव-

श्यकता है, क्योंकि उसका उच्चारण वैसा ही है। 'विना' की जगह विनाँ, कन्हे—कन्हैं, सज्जणा—सज्जणाँ, नयणा—नयणाँ, म्हाने—म्हाँने और 'माणस' सर्वत्र 'माँणस' होना चाहिए था। इतना ही नहीं पाणी—पाँणी, राणी—राँणी, और 'आणंद' सर्वत्र आँणंद होना चाहिए था।

इकार का आधिक्य—

मूल पाठों में इकार का इतना आधिक्य है कि देखकर आश्चर्य के साथ दुःख भी होता है। अग्गालि, आगलि, अंतरि, कलि, करि, किणि, कारणि, कंथि, साँवणि और हंडि आदि ऐसे अनेक शब्द हैं कि जिनमें इस इकार की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। परंतु इतनी अधिकता कर दी गई कि ऊपर तुकांत है जाल, और नीचे है आगालि, ऊपर है मात, नीचे है घाति ! इतना हो नहीं कि यह अनावश्यक है, मैं इसे अनुचित भी समझता हूँ। 'कर-कमल' की जगह 'कर-कँवल' न लिखकर 'करि कुँअल' लिखा गया है—'जंघ सुपत्तल करि कुँअल' दोहा ४७३। 'कर'=हाथ को 'करि' और 'मन' को 'मनि' कर दिया गया है। इकारांत रूप अपभ्रंश में सप्तमी विभक्ति के एकवचन में होता है, अतः जहाँ अधिकरण कारक न हो वहाँ इकारांत करना ठीक नहीं है। ऐसा करना राजस्थानी या हिंदी किसी भाषा के विचार से उचित नहीं।

ब और ब़ का विभेद—

राजस्थानी भाषा में यह विलक्षणता है कि एक ही अक्षर 'ब' का उच्चारण दो प्रकार से होता है। उच्चारण का यह अंतर दिखाने को 'ब' और 'ब़' कर दिया जाता है अर्थात् एक 'ब' तो वैसा ही रहने दिया जाता है और दूसरे के नीचे बिंदी लगा देते हैं। ऐसा न करें तो अनेक स्थलों पर अनर्थ हो जाय, क्योंकि दोनों के अर्थ में बहुधा भिन्नता होती है। ऐसे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं जिनसे ज्ञात हो जाय कि 'ब' के नीचे बिंदी न लगाने से एक शब्द अन्य अर्थ देता है और बिंदी लगा देने से, उच्चारण के अनुसार, वही शब्द अन्य अर्थ देने लगता है :—

बचियो=बचा, बच गया और ब़चियो=छोटा सा बच्चा; बची=बच गई और ब़ची=बच्ची; बचो=किसी व्यक्ति का नाम

और बखो = बखा; बल़ = लौट, लौटने का आदेश, टेढ़ापन, ऐंठ और भोजन ("ढाह मेताहल बल़ करै, भाँख्या लागें बाहरां, बिखा न होवें कायरां, बिखा नरंदां नाहरां) और बल़ = जल, जलने का आदेश; बल़ती = लौटती हुई ("बल़ती लीजै छांह") और बल़ती = जलती हुई ('पगां बल़ती')

वास्तव में यह विषय बड़े महत्त्व का था, पर विद्वान् संपादकों ने इसका विचार नहीं किया। प्रस्तावना में इसका उल्लेख करके मूल पुस्तक में 'ब' और 'ब़' को उच्चारण-भेद के अनुसार रखना था। राजस्थानी भाषा की यह विलक्षणता हिंदीवालों को बतलाने की आवश्यकता थी; परंतु ऐसा नहीं किया गया।

ब और व का भेद—

खेद का विषय है कि इस पुस्तक में 'ब' और 'व' के भेद का भी विशेष विचार नहीं किया गया। वे शब्द जो राजस्थानी भाषा के अनुसार बकारादि होने चाहिएँ प्रायः वकारादि ही रक्खे गए हैं—जैसे वूठे, वूहा, वहेस, वल़ह, वाडी, वसइ, वजाउ, वाउ, वस, वाजइ, वलती, वरवांण इत्यादि। इतने ही नहीं, ऐसे बहुत शब्द हैं और उनमें से अनेक तो ऐसे हैं जो राजस्थानी ही नहीं, हिंदी के अनुसार भी बकारादि होने चाहिएँ, परंतु सब प्रायः वकारादि हैं। हाँ, इन शब्दों में से बहुत से शब्द शब्दकोष में बकारादि रूप में दिए गए हैं। वही शब्द मूल पाठ में वकारादि और शब्दकोष में बकारादि !

ल और ल़ का अंतर—

जैसे बकारादि और ब़कारादि शब्दों का प्रायः अर्थ भिन्न हो जाता है वैसे ही लकारांत और ल़कारांत शब्दों का अर्थ भी प्रायः भिन्न हो जाता है—आल = आल, जिसका रंग बनता है, आल़ = ऊधम, छेड़छाड़; काल = कल, दूसरा दिन, काल़ = मृत्यु; खाल = खाल, चमड़ा, खाल़ = नाला; गाल = कपोल, गाल़ = गाली। इस पुस्तक में दोहा १४२ में 'मोकल़' शब्द आया है 'भेज देना' के अर्थ में और १४४ में 'मोकलउ' आया है 'भेजी' के अर्थ में। यहाँ इन दोनों शब्दों में 'ल़'

की जगह 'ल' होना चाहिए था, क्योंकि 'मोकल्' का अर्थ होता है 'मोकलों में' और 'मोकलउ' यानी 'मोकलो' का अर्थ है 'बहुत' इसलिये यहाँ 'मोकले' और 'मोकलो' होना चाहिए था; तब वह अर्थ होता जो किया गया है। इस पुस्तक में ऐसे अनेक शब्द आए हैं, जिनमें राजस्थानी भाषा के अनुसार ल़कार होना चाहिए, पर है लकार। जैसे—पूगल, मिलि, मिल्यउ, निहालइ, अगलूणी, अहलउ, आँभलड़ी इत्यादि। लकार और ल़कार के कारण यद्यपि सर्वत्र अर्थ नहीं बदलता, पर उच्चारण की विकृति, भाषा-विषयक अशुद्धि तो हो ही जाती है। 'ल' और 'ल़' की भाँति ही ड और 'ड़' का भी विशेष विचार नहीं किया गया।

उवै—

इस पुस्तक में 'उवै' शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है और सर्वत्र 'वे' के अर्थ में हुआ है। मेरी राय में यह अशुद्ध है। एक तो यह 'वे' का अर्थ नहीं देता, दूसरे इससे प्रायः सर्वत्र छंदोभंग हुआ है। राजस्थानी में 'वे' की जगह ओ, अवै या उ्वै और वे शब्द आते हैं, 'उवै' तो 'उस' के अर्थ में आता है। उवै रो = उसका, उवै सों = उससे, उवै नों = उसको, उवै बल़ाकै = उस ओर, इत्यादि। 'उवै' का बहुवचन 'उवाँ' होता है।

शब्दों का अनैक्य—

शब्दों में ऐक्य करने का उद्योग यद्यपि सुयोग्य संपादकों ने किया है—इसके लिये उन्होंने 'ऐ' और 'औ' की मात्राओं को 'अइ' और 'अउ' में परिवर्तित कर दिया है—परंतु फिर भी, इस पुस्तक में, शब्दों का अनैक्य इतना रह गया है कि खलता है। एक 'ऋतु' के ही अनेक दोहों में भिन्न भिन्न रूप देखने में आते हैं। कहीं रुति, कहीं रिति, कहीं रित और कहीं रुत! मेरी राय में सर्वत्र 'रुत' ही होना चाहिए था। कहीं मालवणी, कहीं माल़वणी और कहीं माल्हवणी अच्छो नहीं लगती, सर्वत्र माल़वणी ही चाहिए थी। कहीं 'सो', कहीं 'सत' और कहीं 'सउ' है। मेरी राय में इतने प्रकारों की आवश्यकता न थी। यदि छंद की गति के कारण अथवा कहीं अर्थ की विशेषता के कारण शब्द में

अंतर आ जाय तो दूसरी बात है, पर अकारण शब्दों के रूप बढ़ाना अनुचित है। और, यदि वे रूप अशुद्ध हों तब तो और भी अनुचित है।

प्रतिलिपि—

बहुत से शब्दों के रूप प्राचीन लेख-पद्धति के अनुसार ही रखे गए हैं। लुध्ध, मुध्ध, मुभ्भ, तुभ्भ, कथ्थ, भखख, हथ्थ और परख्ख आदि शब्दों में प्राचीन लिपि की नकल की गई है। मेरी राय में लुद्ध, मुद्ध, बुज्झ, कत्थ, रक्ख आदि शुद्ध रूप में रखना था।

अशुद्ध शब्द—

प्रत्येक भाषा में अपने निज के शब्दों के साथ अन्य भाषाओं से आए हुए भी अनेक शब्द होते हैं, पर प्रत्येक भाषा उन अन्य भाषाओं से आए हुए शब्दों पर अपनी छाप लगाकर उन्हें अपना लेती है। इस प्रकार अपनाए शब्दों का रूप उनके प्राचीन रूप से कुछ भिन्न हो जाता है, पर वे अशुद्ध नहीं समझे जाते, वरन् उस भाषा के अनुसार जिसमें कि वे आ गए हैं, उनका वही रूप शुद्ध है जो उस भाषा ने उन्हें दिया है। उस भाषा में तो उनका प्राचीन अथवा अन्य रूप ही अशुद्ध है। राजस्थानी में भी अन्य भाषाओं के अनेक शब्द सम्मिलित हो गए हैं, पर राजस्थानी ने उन पर अपनी छाप लगा दी है, तब उन्हें अपनाया है। परंतु इस पुस्तक के सुयोग्य संपादकों ने इस बात पर विचार नहीं किया। उन्होंने अनेक शब्दों का प्रयोग इस प्रकार से किया है जो राजस्थानी भाषा के अनुसार अशुद्ध है। ऐसे कुछ शब्दों की सूची यहाँ दी जाती है। साथ ही उन शब्दों के राजस्थानी रूप भी दिए जाते हैं—

पुस्तक में आए हुए रूप	राजस्थानी रूप
कुँवर	कँवर
मागि	मग्ग
गुहिर	गहर
अचरिज	इचरज
सुंदरि	सुंदर, सूँदर
कटाविसूँ	कटाविस्यूँ

पुस्तक में आए हुए रूप	राजस्थानी रूप
दइ दइ	दे दे
दामिनि	दाँमिणि
वूठै तौ	वूठै तो, वूठ्याँ तो
पंडित	पिंडत
हमारे	हमारा
ते	श्रो, ऊ, वा
जोवसे	जीवस्यै, जीवस्यइ

अइ और अउ का अनुचित प्रयोग—

प्रस्तावना के १८०वें पृष्ठ में वर्त्तिनी का विवरण देते हुए संपादक-त्रय ने लिखा है कि "समानता रखने के लिये ऐ-औ की मात्राओं को अइ-अउ में परिवर्तित कर दिया है।" परंतु मैं देखता हूँ कि यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ। मेरी राय में, जो जैसा हो उसे वैसा ही रहने दिया जाय। छंदोभंग सुधारने का, लिपि-दोष (जो लेखक की असावधानी या अनभिज्ञता से हो गया हो) दूर कर देने का और अर्थ की संगति मिला देने का अधिकार संपादक को है, पर शैली बदलने का अधिकार किसी को नहीं है। मैं मानता हूँ कि प्राचीन प्रतियों में ऐसे अनेक शब्द होंगे जिनके अंत में 'ऐ' की जगह 'अइ' और 'औ' की जगह 'अउ' होगा। परंतु मेरी राय में वह उस शब्द के अंत में, अंतिम अक्षर पर ही होगा और होना चाहिए, आरंभ में या बीच में नहीं। जैसे 'पैलै' का 'पैलइ' और 'करै' का 'केरइ' हो जाय, पर 'पइलइ' और 'कइरइ' नहीं होगा। 'ढोलो' का 'ढोलउ' और 'घोड़ो' का 'घोड़उ' हो जाय, परंतु 'ढउलउ' और 'घउड़उ' नहीं हो सकता। ऐसा होने से तो उस शब्द का असली रूप ही बिगड़ जायगा। सुयोग्य संपादकों ने इस ओर ध्यान देने की कृपा अधिक नहीं की और न सर्वत्र यह विचार ही रखा कि कहाँ 'अइ' हो और कहाँ 'अउ'। एकवचन और बहुवचन का भी विशेष विचार नहीं किया गया। इसी से अनेक दोहों में अशुद्धियाँ आ गई हैं। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं, साथ में दोहों के नंबर भी।

२०वें दोहे के "सखियाँ आखइ एम" में 'सखियाँ' बहुवचन और 'आखइ' एकवचन है। 'आखइ' का बहुवचन 'आखँइँ' होता है, और यहाँ यह 'सखियाँ' खड़ी बोली का शब्द नहीं कि जिसका अर्थ—सखियाँ ऐसा कहती हैं, हो। यहाँ राजस्थानी भाषा के अनुसार इसका अर्थ होगा—सखियों ने ऐसा कहा। इसलिये 'आखइ' की जगह 'आख्यउ' होना चाहिए था, पर 'आखइ' तो खड़ी बोली के अनुसार भी अशुद्ध है। २८ और २६ में 'ऊँचइरी' शब्द आया है—"चढ़ि ऊँचइरी भीत, चढ़ि ऊँचइरी पाज।" अर्थ किया गया है—ऊँची भीत और ऊँची पाज। वास्तव में यह शब्द 'ऊँचेरी' है, इसका अर्थ होता है–ऊँचो-सी। 'ऊँचेरी' में 'चे' बीच में है, अंत में नहीं, इसलिये इसको 'ऊँचइरी' नहीं बनाना था। 'पाज' राजस्थानी का शब्द है, इसका अर्थ होता है–पाल, पार, तालाब की पाल, किनारा, तालाब का ऊँचा बंध, परंतु टीका में 'ऊँचो पाज' ही लिखा है, जिसे हिंदीवाले नहीं समझ सकते।

१४२वें सोरठे में 'जे' की जगह 'जइ' पाठ है। हिंदी में जहाँ 'जो' आता है, वहाँ राजस्थानी (मारवाड़ी) में आता है 'जे'। विद्वान् संपादकों ने, राजस्थानी का व्याकरण बतलाते हुए, प्रस्तावना के १८८वें पृष्ठ में इसके पाँच रूप दिए हैं—जो, जउ, ज्यउ, जे, जिको और स्त्रीलिंग जिका। वहाँ भी 'जइ' नहीं दिया, फिर यहाँ 'जइ' कैसे हो गया? मेरी राय में यह 'जे' ही रहना चाहिए था। "जइ तूँ हुई सुजाँण" की जगह होना चाहिए था—"जे तूँ हुवै सुजाँण।" क्योंकि 'हुई' अशुद्ध है, वह स्त्रीलिंग शब्द है और वहाँ व्यवहृत है ढोला के लिये, अत: 'हुवै' होना चाहिए था। १७१ नंबर के सोरठे का 'वइराग' भी 'वैराग' ही रहना चाहिए था, क्योंकि 'वै' शब्द का अंतिम अक्षर नहीं है कि 'अइ' हो जाय। "मनि वइराग न थाइ, वालम वीछुड़िया तणी।" इसमें 'मन' का 'मनि' हो गया है और 'तणी' अशुद्ध है, क्योंकि वैराग शब्द स्त्रीलिंग नहीं, पुल्लिंग है, इसलिये 'तणी' की जगह तणों होना चाहिए था।

उपर्युक्त उदाहरणों से समझा जा सकता है कि 'ऐ' और 'औ' की मात्राओं को 'अइ' और 'अउ' में परिवर्तित कर देने से कितना अनर्थ हुआ है। इसी से मैं कहता हूँ कि यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ।

पाठ और अर्थ विषयक अशुद्धियाँ

इसमें संदेह नहीं कि इस पुस्तक को सुचारु रूप से संपादित करने के लिये सुयोग्य संपादकों ने बहुत परिश्रम किया है। प्रायः प्रत्येक दोहे के प्रत्येक शब्द पर विचार किया गया है, परंतु फिर भी, इतनी बड़ी पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ ऐसे कुछ दोहे या दोहांश दिए जाते हैं जिनके पाठ और अर्थ मुझे अशुद्ध प्रतीत हुए हैं—

६२—"कुंझाँ द्यउ नइ पंखड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि। सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि"। पुस्तक में दिया हुआ अर्थ है—'हे कुंझों, मुझे अपनी पाँखें दो, मैं तुम्हारा बाना बनाऊँगी और सागर को लाँघ करके प्रियतम से मिलूँगी और मिलकर तुम्हारी पाँखें लौटा दूँगी'। इसमें 'थाँकउ विनउ वहेसि' का अर्थ किया गया है—तुम्हारा बाना बनाऊँगी। 'थाँकउ' तो 'तुम्हारा' हो सकता है, पर 'विनउ'='बाना' और 'वहेसि'='बनाऊँगी' कैसे हुआ? 'विनउ' का 'विनो' हो सकता है, 'बाना' कैसे हो गया, सो समझ में नहीं आया। इस 'थाँकउ विनउ' का कोई पाठांतर भी नहीं दिया गया, जिससे अनुमान किया जा सके कि यह क्या है। मेरी राय में यह 'थाक्याँ बिना' हो सकता है—'थाक्याँ बिनाँ वहेसि'=थके बिना चलूँगो। 'द्यउ नइ' का अर्थ होता है—दो न, कोरे 'दो' में वह बात नहीं। 'लंघी' की जगह 'लंघे'=लाँघकर और 'मिलउँ' एवं 'मिलि' की जगह 'मिलुउँ' और 'मिल्' होना चाहिए था।

१०९—"मारवणी भगताविया, मारू राग निपाइ। दूहा संदेसाँ तणाँ दीया तियाँ सिखाइ।" अर्थ—'मारवणी ने मारू राग में बना कर सँदेसे के दोहे कहे और उनको सिखा दिए।' इसमें मूल के 'भगताविया' का अर्थ नहीं दिया गया। परिशिष्ट पृष्ठ ४५७ में इसका अर्थ 'भुगताना'

दिया गया है और शब्दकोष पृष्ठ ६११ में कहे, भुगताए, लिखा है। पर इसका वह अर्थ नहीं है। अर्थ है कि मारू ने उन्हें—ढाढ़ियों को—बहुत खुश किया, उनकी बड़ी खातिर की। ५९४ में, 'पूगल भगताँ नव नवी' में संपादकों ने उसका अर्थ नई नई खातिर ही किया है और शब्द-कोष में भी 'भगताँ' का अर्थ खातिरें और भक्तियाँ लिखा है, वही भाव यहाँ भी है। मूल के 'तियाँ' से पाठांतर में दिया हुआ (ज) का पाठ 'तिहाँ' अच्छा है।

३०७—"करहा हुंदउ वग्ग" में 'करहा' एकवचन में है और 'वग्ग' अर्थात् वर्ग, बरग एक ऊँट का नहीं, बहुत ऊँटों का होता है। इसलिये इसमें 'करहा' की जगह बहुवचन में 'करहाँ' होना चाहिए था और 'हुंदउ' की जगह चाहिए था 'हंदउ' अर्थात्—करहाँ हंदउ वग्ग। परंतु इसका अर्थ 'ऊँटों की शाला' न होकर ऊँटों का वर्ग होना चाहिए था। वर्ग = बरग, झुंड, समूह; फिर वह कहीं भी हो, शाला में हो या मैदान में।

३२२—"करहा, तूँ मनि रूअड़उ, वेध्याँ करइ विछोह। अजइ कुआँरउ बप्पडा, नहीं ज काँमिण मोह।" अर्थ—'हे ऊँट, तू मन का बड़ा अच्छा है। संयोगी जनों में विछोह करवाता है, (तू क्या जाने) तू बेचारा अभी कुँवारा है, अभी नारी का मोह तुझे नहीं है।' इसमें 'रूअड़उ' का अर्थ 'अच्छा' किया गया है, पर इससे आगे संगति नहीं बैठती। मेरी राय में इसका अर्थ है—रूखा। हे करहा, तू मन का रूखा है, अरसिक है, यह भाव। क्योंकि तभी तू बिंधे हुओं में—दो प्रेमियों में—वियोग कराता है, कराने पर उतारू हुआ है। बेचारे, अभी क्वाँरा है, अभी तुझे कामिनी का मोह नहीं है—जाके पाँय न फटी बिमाई, सो कहा जाने पीर पराई, यह भाव है।

५२५—"दीहे दीह उसारिस्याँ, भरिस्याँ माँझिम रात।" अर्थ—'दिन भर हम पानी खींचेंगे और मध्य रात्रि में (कोठे) भरेंगे।' इसमें 'दिन भर' और 'पानी खींचेंगे' ठीक नहीं। जिस समय की यह बात है, उस समय दिन तो थोड़ा-सा रह गया होगा, फिर 'दिन भर' कहाँ

से आ जायगा ? 'दोहे दोह' का अर्थ 'दिन भर' नहीं, 'दिन दिन में' है और 'उसारिस्यां' का 'पानी खींचेंगे' नहीं, 'पात्र को पानी तक पहुँचा देंगे' है। कुएँ पर खड़े हुए उस मारवाड़ी मनुष्य से जिस प्रकार ढोला ने—ऊपर के दोहे में—कहा था कि तुम तो उसारते उसारते ही थक जाओगे, निकालोगे कैसे ? उसी प्रकार वह आदमी भी उत्तर देता है कि—"तुम्ह जावउ घर आपणइ म्हाँरी के ही तात।" तुम अपने घर जाओ, अपना काम देखो, हमारी तुम्हें क्या पड़ी है ? हम—"दोहे-दोह उसारिस्याँ, भरिस्याँ माँझिम रात।" दिन दिन में ओसारेंगे—पात्र को पानी तक पहुँचा देंगे—और आधी रात तक भर लेंगे। हम ऐसे पस्त-हिम्मत नहीं कि थककर बैठ जायँ, चाहे आधी रात तक भरें, पर पानी भरकर ही रहेंगे, यह भाव है। "सुधां विना न प्रययुर्विरामं, न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।"

६६८—"देस निवाणूँ सजल जल" अर्थ—'वहाँ की भूमि नीची और उपजाऊ है, पानी स्वच्छ एवं स्वास्थ्यप्रद है'। यह बात मारू कह रही है मालवणी से, मारवाड़ की प्रशंसा में। मेरी राय में मारवाड़ की भूमि मालवे की भूमि से अधिक उपजाऊ नहीं है कि उसके विषय में मालवणी से कहा जाय। इसलिये इस दोहे में 'निवाणूँ' की जगह (ज) का पाठ 'निवाणी' और 'सजल जल' की जगह (थ) का पाठ 'जल सजल' होता तो अधिक अच्छा हो जाता। 'देस निवाणी जल सजल' कि देश में निवानी पानी है, गहरा, धरती की ऊपरी सतह का नहीं, नीचे की सतह का, वह सजल है, उस पानी से चैतन्य प्राप्त होता है। इसी से वहाँ के निवासी वीर पुरुष होते हैं, क्योंकि उस भूमि का जल निवानी और सजल है, ऐसी है वह भूमि, यह भाव है। "भोंय बखाँणो हे नराँ, काँइ बखाँणों बिंद, भोंय बिन भला न नीपजें कण, तण, तुरी नरिंद"। यह एक प्राचीन दोहा है कि हे नरो, भूमि का बखान करो, बीज का क्या बखान करते हो ? भूमि के बिना अन्न, शरीर, घोड़े और नरिंद अच्छे उत्पन्न नहीं होते। अस्तु, जिस देश की जो वस्तु बखानने योग्य हो, उसी का बखान करना चाहिए।

अर्थ और भाव विषयक भूलें

पद्य में भाव ही प्रधान होता है। जिस पद्य में जितना सुंदर भाव होगा, वह पद्य उतना ही उत्तम समझा जायगा। प्रस्तुत पुस्तक में अनेक पद्य उत्तम हैं, क्योंकि उनमें बड़े सुंदर भाव व्यक्त हुए हैं। सुयोग्य संपादकों ने प्रत्येक पद्य (दोहे) का भाव समझने-समझाने की भरसक चेष्टा की है और उसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं, परंतु फिर भी कहीं कहीं कुछ भूलें रह गई हैं। उन्हीं में से कुछ भूलों का यहाँ दिग्दर्शन करने-कराने का मैं प्रयत्न करूँगा। पहले दोहा या दोहांश नंबर सहित दिया जायगा, फिर उसका संपादकों द्वारा किया हुआ अर्थ दिया जायगा, तदनंतर उसकी भाव-विषयक भूल का उल्लेख किया जायगा।

२—"पूगल़ देस दुकाल़ थियुँ किण ही काल़ विसेसि। पिंगल़ ऊचाल़उ कियउ, नल़ नरवर चइ देसि"। अर्थ—'पूगल़ देश में किसी समय विशेष अकाल पड़ा (इसलिये बाध्य होकर) राजा पिंगल ने नरवर के राजा नल के देश को प्रयाण किया'। इसमें 'ऊचाल़ें' का अर्थ 'प्रयाण' किया गया है, परंतु 'प्रयाण' में 'ऊचाल़ें' का पूरा भाव नहीं है। 'ऊचाल़ो' ऐसी यात्रा को कहते हैं, जिसमें बाल-बच्चे, डेरा-डंडा, परिजन और ढोर-डंगर आदि सब कुछ लेकर, अपने स्थान या देश में से उखड़कर, किसी अन्य संपन्न स्थान या देश को जाया जाता है। ऐसा तभी किया जाता है, जब अपने देश में घोर दुर्भिक्ष पड़ता है। विद्वान् संपादकों ने इसका उल्लेख परिशिष्ट पृष्ठ ४०४ में किया है, पर यहाँ टीका में केवल 'प्रयाण' दिया है, जिसमें वह भाव नहीं है।

१२—"जिम जिम मन अमले किअइ तार चढ़ंती जाइ। तिम तिम मारवणी तणइ तन तरणापउ थाइ॥" अर्थ—ज्यों ज्यों मन अधिकार जमाता हुआ ऊँचा चढ़ता जाता है, त्यों त्यों मारवणी के तन में यौवन प्रकट होता जाता है।' इसमें 'अमले' और 'तार' इन दो शब्दों का भाव नहीं आया। 'अमल' का अर्थ 'अधिकार' किया गया है और 'तार' का 'ऊँचा'। यहाँ ये दोनों गलत हैं।

यहाँ अमल=नशा है। मारवाड़ में अमल अफीम को कहते हैं और नशे को भी। "अमल आरोगो साहिबा, गल़ सुकल़ीणी बाँह, पीयाँ पलक न आवस्यै, कराँ सालू री छाँह"—'हे प्रियतम, अमल पान करो। आपके गले में कुलवती स्त्री की बाँह है, (वह कह रही है कि) पीने पर पलक भर (सुरूर) न आवेगा (तब तक आपके ऊपर) सालू (ओढ़नी) की—ओढ़न के अंचल की—छाया करूँगी।' तार=सुरूर है। मेरी राय में इस दोहे का भाव यह है कि—जैसे जैसे मन को नशे में करने से अर्थात् नशा करने से जैसे मन पर सुरूर चढ़ता जाता है, वैसे ही मारवणी के तन पर तरुणापन—यौवन—चढ़ रहा है। 'प्रकट होता जाता है', नहीं।

२७—"तब ही कहइ प्रियाव" में 'प्रियाव' की जगह 'पिआउ' होना चाहिए था। तब वह दोहे के अनुसार, पपीहे पर और विरहिणी पर, दोनों पर घटित होता कि पपीहा कहता है—पिआउ=पिलाओ और विरहिणी कहती है—पियाउ=पी, आओ। 'प्रियाव' में यह श्लेष न होने के कारण वह भाव नहीं, जो दोहाकार को इष्ट था। यही श्लेष इस दोहे का प्राण है, पर वह न तो मूल में रहा न अर्थ में आया।

२८—"ऊँचइरी भीत" का अर्थ ऊँची भीत' नहीं। यह 'ऊँचेरी' शब्द है, इसका अर्थ होता है—ऊँची-सी, जरा ऊँची। इसमें 'चे' का 'चइ' नहीं होना चाहिए था। और, 'मत ही साहिब बाहुड़इ' का अर्थ—'आते हुए वे कहीं लौट न जायँ' भी ठीक नहीं। मेरी राय में इसका अर्थ है—मत कहीं, शायद, साहब (प्रियतम) लौट आवें अर्थात् यहाँ आ जावें। पपीहा 'पी आव' पुकारता है, इसी से मारू उससे कहती है कि किसी ऊँचे-से स्थान पर चढ़कर पुकार, कदाचित् तेरी टेर सुनकर ही साजन आ जायँ, यह भाव है। यही भाव २९वें दोहे में भी है। पपीहे की पुकार का उद्देश्य प्रियतम को बुलाना है, लौटा देना नहीं।

८२—"मारू तणाँ सँदेसड़ा बगड़ विचाहू खाइ" का अर्थ—'मारवणी के संदेशों को कोई दुष्ट बीच ही में हड़प जाता है' नहीं होता।

इसका अर्थ होता है—"मारू के संदेशों को बीच का बगड़ अर्थात् मैदान खा जाता है'। वे सँदेसे पूगल और नरवर के बीच में विलीन हो जाते हैं, यह भाव है। यही दोहा कुछ फेर-फार के साथ 'रिणमल जगमालोत री बात' में भी है—"न को ईडर आवतो, न को ईडर जाय, सोढी तणाँ सँदेसड़ा बिचल्यो बागड़ खाय।"

१११—"संदेसा ही लख लहइ" संदेशों से ही मन की दशा जानी जा सकती है। यह अर्थ ठीक नहीं। मेरी राय में इसका अर्थ होना चाहिए था कि सँदेशा ही लाखों ले लेता है अर्थात् सँदेसे से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है, यह भाव है।

१३८—"ढोला, ढीली हर किया" का अर्थ—'हे ढोला, तुमने प्रेम को शिथिल कर दिया' ठीक नहीं। यह पाठ और अर्थ दोनों गलत हैं। मूल में 'ढीली हर' स्त्रीलिंग और 'किया' पुल्लिंग है। इसलिये 'किया' के स्थान में 'करी' होना चाहिए था। हर=प्रेम नहीं, याद है, स्मृति। मेरी राय में यह पाठ यों होता—'ढोला, हर ढीली करी' कि हे ढोला, तुमने याद ढीली कर दी, अब तुम्हें मेरी याद भी नहीं आती।

१७४—'मरइ स कोमल मुंध" का अर्थ—'कहीं कोमलांगी मुग्धा मर जायगी' नहीं, कोमलांगी मुग्धा मर जायगी, बस, इतना ही होता है। मूल में 'कहीं' की ध्वनि भी नहीं है, इसलिये यह 'कहीं' व्यर्थ और अनुचित है।

१९१—"ऊचेढंती सल्ल" का अर्थ—'शल्य को उखेलती है' नहीं होता। शल्य, शूल या काँटा उखेला नहीं जाता, उखेली वह चीज जाती है जो लपेटी हुई हो। ऊचेढंती=उपाटती, उखाड़ती, है।

३०५—"हियड़इ साल म देह" का अर्थ दिया है—'हृदय में साल मत मारो'। साल मारा नहीं जाता, दिया जाता है। इसी से मूल में 'म देह' अर्थात् 'मत दो' है। इसलिये 'मत मारो' की जगह 'मत दो' कहना चाहिए था। और 'हियड़इ' की जगह 'हिँयड़इ' होना चाहिए था।

३५०—"पल्लाणियाँ दमाज" का अर्थ—'यात्रा के बाजे बजते हुए' ठीक नहीं। 'पल्लाणियाँ' उन ऊँट-घोड़ों के लिये कहा जाता है

जिन पर पलाँण या काठी कसी जाय। एक राजस्थानी कहावत है—'हींसी अर पलाँणी' कि घोड़ी हिनहिनाई और कसी गई। 'आधी आधो रतियाँ घुड़ला पलाँनों'—बुँदेलखंडी। 'पल्लाँणियाँ' बहुवचन है, एकवचन होगा 'पल्लाँणियो'। रहा 'दमाज' सो वह 'दमामा' नहीं, ऊँट है, जो अब भी 'जमाज' कहा जाता है—"तिहाँण हाँड तोड रो, जमाज जाँण जोड रो" कि तीन बरस की बोती—नई ऊँटनी—का जाया हुआ, जोड़ के खेत का जमाज अर्थात् ऊँट। और—"सझिया बाज—जमाज साँतरा" साँतरा=तैयार, चरे-पिये, बाज-जमाज=घोड़े और ऊँट, सजे=सजाए गए; प्राचीन गीत। मूल पाठ 'पल्लाँणियो दमाज या जमाज' होना चाहिए था और अर्थ ऊँट कसा गया।

४११—"रहि नीमाँणी माठ करि" का अर्थ—'बोलती रह जा, चुप कर', ठीक नहीं। मूल में जो 'नीमाँणी' शब्द आया है, वह 'निमाँणी' है जो छंद की गति के लिये 'नीमाँणी' कर दिया गया है। यह बोलचाल का शब्द है। इसका अर्थ 'बोलती रह जा' नहीं होता। 'निमाँणी' उसे कहते हैं जिसे मान का ज्ञान या ध्यान न हो, अपमान को कुछ न समझनेवाली, बेहया। यह शब्द स्त्रीलिंग 'निमाँणी' और पुल्लिंग 'निमाँणो' होता है। 'रहि' और 'करि' की जगह 'रह' और 'कर' चाहिए था।

४५६—"विलूधउ सीह" का अर्थ '(पालतू) विलुब्ध सिंह' किया गया है। इसमें यह पालतू बिलकुल फालतू है। विलुब्ध=पालतू नहीं, 'शिकार पर लोभित' है। जब शेर शिकार पर लोभित होता है तब उसकी कमर और भी पतली हो जाती है। विलूधउ='फँसा हुआ' भी होता है।

४८६—"गह छंडइ" का अर्थ 'घर छोड़कर' नहीं, 'पकड़कर छोड़ता है' होता है।

५२१—"ऊचेडंती सल्ल" का जैसा अर्थ नं० १६१ के दोहे में किया गया था वैसा ही यहाँ भी किया गया है—'शल्य को उखेलती है'। 'उखेलती' नहीं, 'उखाड़ती' चाहिए।

५४९---"रवि ऊगइ विहसइ कमल, खिणइक विमणउ थाइ।" अर्थ---'(वही) कमल सूर्य के उदय होते ही क्षण भर उन्मना होकर (पुनः) विकसित हो जाता है' ठीक नहीं है। इसका अर्थ है---सूर्य के उगते ही कमल विकसित हो जाता है, क्या फिर क्षण भर भी उदास रहता है ? अर्थात् सूर्योदय होने पर वह क्षण भर भी उन्मना नहीं रहता, यह भाव है। इसमें अंत में जो 'थाय' है वह प्रश्नसूचक है। 'कमल़' की जगह 'कँवल़' चाहिए था।

६६५---"फीकरिया"=फीके (नीरस) नहीं। यह 'फीक-रिया' मेरी राय में 'फीकल़िया' होना चाहिए था। 'फीकल़िया' ऐसे आदमियों को कहते हैं जिनमें गंभीरता न हो, ओछी बात कहनेवाले, दाँत निपोरनेवाले, सिटल्लू। यह शब्द एकवचन में 'फिकल़ियो' और बहुवचन में 'फिकल़िया' होता है। वही छंद की गति के लिये 'फीकल़िया' हुआ और लेख-भ्रष्टता से 'फीकरिया' हो गया प्रतीत होता है।

उत्तम पाठांतरों की अवहेलना

किसी ग्रंथ का संपादन, जो उस ग्रंथ की बहुत सी छपी हुई या हस्तलिखित प्रतियाँ देखकर किया जाता है, वह मेरी राय में इसी लिये कि जिस प्रति में जिस पद्य का उत्तम पाठ हो वह संपादित प्रति के मूल पाठ में रखा जाय और अन्य पाठ जो आवश्यक समझे जायँ वे पद्य के नीचे टिप्पणी में, पाठांतर रूप से दिए जायँ, परंतु वे पाठ भी, जहाँ तक हो सके, शुद्ध रूप में हों कि पाठक चाहें तो उन्हें मूल पाठ की जगह रखकर पढ़ सकें। यदि कुछ पाठ अशुद्ध ही हों, और, उनका देना आवश्यक हो, तो वहीं उनका शुद्ध रूप भी दे दिया जाय कि यह लिपि-दोष जान पड़ता है, इसका शुद्ध रूप यह है। यदि किसी प्राचीन प्रति में कोई ऐसा पाठ हो कि जिससे अर्थ का अनर्थ या भाव का अभाव होता हो, जो पद्य के प्रसाद-गुण या सौन्दर्य को नष्ट करता हो और उसके स्थान पर किसी अन्य प्रति में सार्थक, शुद्ध और सुंदर पाठ हो, तो प्राचीन प्रति के पाठ को प्रणाम करके, उसके स्थान में अन्य प्रति का वह उत्तम पाठ रख देना चाहिए, क्योंकि

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। बहुत हो तो उस प्राचीन प्रति के पाठ को पाठांतर के रूप में दे दिया जाय। परंतु इस पुस्तक के संपादन में ऐसा प्रायः नहीं किया गया। इसी से अनेक दोहों के मूल पाठों से टिप्पणी में दिए हुए पाठांतर उत्तम प्रतीत होते हैं। मेरी राय में उन पाठांतरों की अवहेलना न की गई होती, विचारपूर्वक यदि वे पाठ मूल में रक्खे जाते, तो उन १६-१७ प्रतियों का देखना सफल हो जाता और वे दोहे अधिक सुंदर, सार्थक और सुपाठ्य हो जाते। पाठांतरों पर विचार नहीं किया गया, इससे अनेक दोहों में अशुद्धियाँ आ गईं। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं, साथ में दोहों के नंबर भी :—

३६—"बाबहिया डूँगर-दहण, छाँडि हमारउ गाँम" अर्थ—'पर्वत (जैसे कठोर-हृदय) में भी जलन उत्पन्न करनेवाले पपीहे, हमारा गाँव छोड़ दे'। इसमें 'डूँगर-दहण' का सीधा अर्थ 'पहाड़ को जलानेवाले' नहीं किया गया, क्योंकि पपीहा पहाड़ को नहीं जलाता। उसके 'पीउ-पीउ' पुकारने का पहाड़ पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये 'पर्वत जैसे कठोरहृदय में भी जलन उत्पन्न करनेवाले' इतना लंबा अर्थ करना पड़ा और सफलता न प्राप्त हुई। यह कुछ न करके 'डूँगर' की जगह यदि (द) प्रति का पाठ 'पंजर' कर दिया जाता—'बाबहिया पंजर-दहण' तो सीधा और सरल अर्थ हो जाता—'ओ शरीर को जलानेवाले पपीहे!' मेरी राय में यह पाठ मूल पाठ से उत्तम है। राजस्थानी भाषा में 'पंजर' या 'पिंजर' शरीर के अर्थ में आता है—"धर पर अंबा रोपज्यो, अंदर धर्‌या कबाँण, बाहे बरसे आवस्याँ जे पिंजर माँहिँ पिराण" यह दोहा रीसालू कँवर की बात का है। रीसालू कँवर साँवलदे से कहता है कि 'धरती पर आम का पेड़ लगाना और यह कमान भीतर रख लेना, हम बारह बरस में आवेंगे जो शरीर में प्राण रहा तो।' इसी पुस्तक में दोहा नं० ११३, १७१ और २३१ में 'पंजर' शरीर के अर्थ में आया है।

८८—"आखय ऊमा देवड़ी, संमलि पिंगल राइ। विरह वियापी मारुई, नहिं राखण कउ दाइ।" अर्थ—'ऊमा देवड़ी कहती

है—हे पिंगल राजा, सुनो। मारवणी विरह से व्याप्त हो गई है। उसे बचाने का कोई उपाय नहीं (सूझ पड़ता) है'। इसमें 'दाइ' का अर्थ 'उपाय' किया गया है, परंतु 'दाइ' या 'दाय' का अर्थ 'पसंद' है :—"झिरणे झिरणे केतकी, टूँखे टूँखे जाय, अरबद री छिब देखताँ, अवर न आवें दाय"—'झरने झरने पर केतकी और शिखर शिखर पर जाय है, आबू की छवि देखते हुए दूसरे दाय नहीं आते, पसंद नहीं आते'। दूसरी बात यह है कि 'दाइ' है स्त्रीलिंग शब्द, उसके लिये 'राखण कउ'='रखने का' या 'बचाने का' भी ठीक नहीं। इससे पाठांतर में दिया हुआ (ग) प्रति का पाठ 'दाउ' शुद्ध था—कि रखने का दाव नहीं। तुक में 'राइ' की जगह (ग) का 'राउ' ठीक था। और 'आखय' की जगह (थ) का 'आखइ'। "आखइ ऊभाँ देवड़ी साँभल़ (साभलि यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि उसका अर्थ 'सुनी' या 'सुनकर' होता है, 'सुनो' नहीं) पिंगल़ राउ, (यहाँ यदि 'पूगल़ राउ' होता तो और भी अच्छा हो जाता क्योंकि रानी यदि अपने पति का नाम लेकर 'पिंगल़राउ' न कहती और नाम की जगह 'पूगल़राउ' कहती कि हे पूगल के नाथ, सुनो तो बहुत अच्छा होता।) बिरह बियापी मारुई, नहिं राखण कउ (रउ) दाउ।" 'बिरह बियापी' का अर्थ 'विरह से व्याप्त' न करके 'विरह में व्याप्त' करना चाहिए था।

२४५—"लागे साद सुहामणउ, नस भर कुंझड़ियाँह, जल़ पौइणिए छाइयउ, कहउ त पूगल़ जाँह"। अर्थ—'रात भर कुंझों का शब्द सुहावना लगता है। सरोवरों का जल कमलिनियों से छा गया है। यदि कहो तो अब पूगल जावें।' इसमें 'लागे' की जगह 'लागै' या 'लागइ' होना चाहिए था। 'नस' का अर्थ 'रात' किया गया है। 'निस' का अर्थ 'रात' हो सकता है, 'नस' का नहीं; 'नस' तो राजस्थान में 'गर्दन' को कहते हैं—"नाक झरै, नस नीसरै, ऊभो ऊँघावें" किसी ने अफीम और अफीमचियों की निंदा में कहा है कि नाक टपकती है, गर्दन पतली हो जाने से लंबी निकल पड़ती है और खड़ा खड़ा ही ऊँघने लगता है। राजस्थान की एक कहावत है 'लाँबी नस ऊँठ ने

भारी' अर्थात् लंबी गर्दन है तो ऊँट को भारी, तुम्हें क्या ? यह भाव है। इस 'नस भर कुंभड़ियाँह' की जगह (न) प्रति में "सरवर कुरभड़ियाँह" पाठ है, जो मेरी राय में, मूल पाठ से सुंदर और सार्थक है। मूल में सरोवर का नाम भी नहीं है। तीसरे चरण के अर्थ में 'सरोवर का' ऊपर से जोड़ा गया है, वैसे कुएँ-बावली का, कहीं का जल समझ लिया जा सकता था। इस (न) के पाठ में 'सरवर' है, जो 'कुरभड़ियों' और 'पोइणियों' दोनों के लिये लागू है—"लागइ साद सुहावणउ सरवर कुरभड़ियाँह, जल पोइणिये छाइयउ, कहउ त पूगल जाँह"—'सरोवरों में कुरभों का शब्द सुहावना लगता है, जल पुरैनों से छा गया है, कहो तो अब पूगल को जायँ।' मेरी राय में तो यह मूल पाठ से बहुत अच्छा है।

२६४—"उत्तर आज स उत्तरउ, पालउ पड़इ रवंद। का (कइ) वासंदर सेवियइ, कइ तरुणी, कइ मंद।" अर्थ—'आज उत्तर का पवन उतर आया है। जोरों का जाड़ा पड़ रहा है। (इस समय) या तो अग्नि का सेवन करना चाहिए या तरुणी स्त्री का या मद्य का'। दोहे के तुकांत में जो 'रवंद' और मंद हैं, उनका अर्थ 'जोरों का' और 'मद्य' किया गया है। 'रवंद' के अर्थ में तो सुयोग्य संपादकों को स्वयं संदेह है। उन्होंने परिशिष्ट पृष्ठ ४६८ में लिखा है—"रवंद—(सं० रव ?) जोर-शोर का।" वे स्वयं प्रश्न का चिह्न देते हैं कि यह क्या है ? अथवा—क्या यह ? इससे ज्ञात होता है कि इसके अर्थ में उन्हें संदेह है और 'मंद' के विषय में, अपनी मंद बुद्धि के अनुसार, मेरा निवेदन है कि उसका अर्थ 'मद्य' ठीक नहीं अथवा 'मद्य' के लिये मूल का 'मंद' ठीक नहीं, पाठांतरों में 'रवंद' की जगह (झ) प्रति में 'रवद्द' है। मेरी राय में मूल से यह (झ) का पाठ अच्छा है। इसके उच्चारण में जोर-शोर है और जब ऊपर 'रवद्द' हो जाता, तब नीचे 'मंद' की जगह 'मद्द' अनायास ही हो जाता जो 'मद्य' का रूपांतर है। उत्तरार्द्ध में एक स्थान पर 'का' और उसी अर्थ में शेष दो स्थानों पर 'कइ' है, यह भी ठीक नहीं, तीनों जगह एक ही रूप रखना था।

४१२—तुकांत "पहिरी अंगि" और "लागइ अंगि" है, तुक नहीं मिलती। (न) प्रति में ऊपर 'तन्न' और नीचे 'मन्न' है, तन्न = तन, मन्न = मन। मेरी राय में, तुकांत (न) प्रति के ठीक हैं, मूल पाठ से अच्छे हैं।

४६५—"परिठिउ जाँणि क चंग।" अर्थ—'(वह ऐसी मालूम होती है) मानों (आकाश में) पतंग (उड़ रही) हो।' मूल के 'परिठिउ' की जगह (क, ख, ग, घ, झ) में 'परठो' पाठ है। 'चंग' के लिये यह 'परठी' शुद्ध है, 'परिठिउ' है अशुद्ध। संपादकों ने ऐ-औ की मात्राओं को अइ-अउ में परिवर्तित कर देने की बात लिखी है, ई को अउ में बदल देने की नहीं, वह बदली भी नहीं जा सकती। 'परठ्यो' का 'परठ्यउ' हो सकता है, 'परठी' का 'परिठिउ' नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ 'परठी' ही ठीक पाठ था।

४९३—"करहा तो वेसासड़उ मो विण सार्‌या काज। अंतरि जउ वासउ हुवउ, मारू न मिलइ आज।" अर्थ—'हे ऊँट, तुम्हारा भरोसा है। मेरा काम अभी पूरा नहीं हुआ। जो बीच में ठहरना पड़ा तो मारवणी आज नहीं मिल सकेगी'। इसमें 'तो वेसासड़उ' का अर्थ 'तुम्हारा भरोसा है' किया गया है, सो नहीं होता, 'तेरा विश्वास है' होता है। इस 'वेसासड़उ' की जगह (ज, घ,) में 'वेसासड़ै' है, वेसासड़ै वेसासड़इ; यह पाठ शुद्ध है; इसका अर्थ है—विश्वास में। 'विणसार्‌या' बिलकुल बेमहाविरा है, और 'मो विण सार्‌या काज' का अर्थ 'मेरा काम अभी पूरा नहीं हुआ' नहीं होता। 'सार्‌या' बहुवचन है, अर्थ होगा—मेरे बिना सारे काज। इस 'विण सार्‌या' की जगह (थ) में 'वेणसड़्‌या' है, जिसका अर्थ होता है—विनस गए, विनष्ट हो गए। (ज) का पाठ है—'विणढा सवि', अर्थ—सब विनष्ट हो गए। चौथे चरण में सकूता है, 'मारू मिलइ न आज' होना चाहिए था। इन पाठांतरों से दोहा ऐसा हो जाता—"करहा, तो बेसासड़इ मो विणढा सवि काज; अंतर जे बासउ हुवउ, मारू मिलइ न आज।" अर्थ—हे ऊँट, तेरे विश्वास में मेरे सब काम बिगड़ गए, जो बीच में बसना पड़ा तो मारू आज न मिलेगी।

५९३—"जोड़ी सारीखी जुड़ो, केसव तणइ सँजोग"। इसके 'केसव' की जगह (थ) में 'साहिब' है, यह 'ईश्वर' के अर्थ में ही है। मूल पाठ की अपेक्षा 'साहिब तणे सँजोग' पाठ अच्छा है। 'साहिब' शब्द अन्य शब्दों से मिलता-जुलता है और 'केसव' है अनमिल। इसके सिवा 'साहिब' और 'सँजोग' में शब्द-मैत्री होने के कारण यह पाठ सुंदर है। मूल में यही चाहिए था।

६०२—"ढोलइ धण ढंढोलियउ, सीतल सुंदर-घट्ट।" अर्थ—'ढोला ने प्रिया को टटोला तो सुंदरी का शरीर शीतल था।' इसमें 'ढंढोलियउ' ठीक नहीं, वह पुल्लिंग शब्द के साथ आ सकता है, 'धण' के साथ नहीं। यहाँ 'ढंढोली' चाहिए। (ज. त.) प्रतियों में पाठ है—'धण ढंढोली ढोलणें'। यह शुद्ध है। 'सीतल' की जगह (क.ख.ग.घ.त.) में पाठ है 'सास न' अर्थात् 'सास न सुंदर घट्ट'—सुंदर शरीर में श्वास नहीं था। अथवा सुंदरी के घट में साँस नहीं थी। ये पाठांतर मूल पाठ से उत्तम और शुद्ध हैं।

दोहों के चुनाव में असावधानता

संपादक सज्जनों ने भूमिका में लिखा है कि—"किसी प्रति में चार सौ-सवा चार सौ से अधिक दूहे नहीं थे, पर सब में भिन्नता बहुत अधिक थी। समस्त प्रतियों के कुल दूहों की संख्या डेढ़-दो हजार से कम न निकली। हमने प्राचीन प्रतियों के आधार पर ६७४ दूहे चुन लिए और उन्हीं को मूल पाठ में सम्मिलित किया। इनमें भी कुछ दूहे ऐसे हैं जो प्राचीन नहीं ज्ञात होते, पर काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से स्वीकृत किए गए हैं।" इस अवतरण से स्पष्ट है कि डेढ़ दो हजार दोहों में से ६७४ दोहे छाँटे गए हैं। यह चुनाव यद्यपि प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया है, पर किसी भी प्राचीन प्रति के अनुसार नहीं किया गया है। यह संपादकों की रुचि के अनुसार किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि यह संकलन संपादक-त्रय ने बड़ी सुरुचि के साथ किया है। परंतु फिर भी इस चुनाव में कुछ असावधानता हो गई और उसका परिणाम यह हुआ कि भरती के बहुत दोहे आ गए, उनमें अनेक तो

अनावश्यक, अशुद्ध और अनुचित भी हैं। ऐसे कुछ दोहे उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

पूगल में अकाल पड़ने से वहाँ का राजा पिंगल अपना राज-पाट छोड़कर, बाल-बच्चों सहित नरवर आता है और वहाँ के राजा नल के पुत्र को, अपनी रानी के कहने से, अपनी पुत्री मारू ब्याह देता है और फिर मारू को लेकर अपने देश को लौट जाता है। ढोला-मारू के विवाह की कथा इस पुस्तक में इतनी ही है, जो आरंभ से अंत तक केवल ११ दोहों में समाप्त हो जाती है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि नरवर में आकर पिंगल ने अपनी पुत्री ढोला को ब्याही थी। आगे चलकर पूगल में आया हुआ घोड़ों का सौदागर मारू के विषय में जब खवास से पूछता है कि यह कौन है, तब खवास कहता है कि "कुँवरी पिंगल राय नी, मारुवणी तसु नाँम, नरवर गढ़ ढोलड़ भणी, परणी पुहकर ठाँम।"—९०। अर्थ—'वह पिंगल राजा की कुमारी है, मारवणी उसका नाम है और पुष्कर नाम के स्थान पर नरवर गढ़ के राजकुमार ढोला के साथ इसका (जब ऊपर 'वह' और 'उसका' है, तब यहाँ भी 'इसका' की जगह 'उसका' चाहिए) विवाह हुआ है।' इस दोहे को पढ़कर आश्चर्य होता है, क्योंकि आरंभ में तो इस 'पुहकर ठाँम' का कहीं नाम भी नहीं है। वहाँ तो पिंगल राजा 'नल नरवर चइ देस' अर्थात् नल के नरवर देश में आता है। फिर आगे यह 'पुष्कर नाम का स्थान' कहाँ से आ गया? क्या पुष्कर उस समय नरवर राज्य के अंतर्गत था? इसका भी तो कहीं उल्लेख नहीं। कहाँ पुष्कर अजमेर के पास और कहाँ नरवर झाँसी के पास! बीच में बूँदी और आँबेर आदि बड़े बड़े राज्य उस समय भी थे, फिर यह गोरखधंधा कैसा? पता लगाने से मालूम हुआ कि प्रति (थ, च, झ) और (न) में यह कथा इस प्रकार है कि—"मारवाड़ में अकाल पड़ने से पूगल के राजा पिंगल परिवार सहित पुष्कर में आकर ठहरे थे, क्योंकि वहाँ जल इत्यादि का सुपास था। उन्हीं दिनों नरवर के राजा नल भी अपने पुत्र ढोला की जात देने अर्थात् मनौती मनाने पुष्कर आए थे।

वे भी सपरिवार थे। वहाँ दोनों राजाओं में परिचय और प्रेम के पश्चात् ढोला-मारू का विवाह भी हो गया। वहाँ स्तंभ पर यह बात लिख भी दी गई, जिसे आते-जाते आदमी पढ़कर प्रत्यय करें कि अमुक समय में ढोला-मारू का विवाह हुआ था।" अन्य कुछ प्राचीन प्रतियों में लिखा होगा कि "पूगल का राजा नरवर गया था और वहीं ढोला-मारू का विवाह हुआ था।" संपादकों ने आरंभ में तो उन प्राचीन प्रतियों के आधार पर संकलन किया और आगे चल-कर दूसरी प्रतियों के आधार पर 'पुहकर ठाँम' ले लिया, इसी से यह गड़बड़ी हो गई। मुझे तो पुष्करवाली बात ही जँचती है। अकाल के दिन काटने एक राजा का पूगल से नरवर जाना उचित नहीं प्रतीत होता और वह भी अकारण। हाँ, पुष्कर में दोनों राजा मिल सकते हैं।

पुस्तक में पिंगल के नरवर आने और लौट जाने तक ढोला और मारू की अवस्था का कुछ भी उल्लेख नहीं है। उन ११ दोहों में यह कहीं नहीं कहा गया कि विवाह के समय वर और वधू की इतनी उम्र थी। विवाह-विषयक १०वें दोहे में केवल इतना कहा गया है कि "ढोलउ-मारू परणिया, वरदल हुवउ उछाह। आ पूगल ची पदमिणी, अउ नरवर चउ नाह।" अर्थ—'ढोला और मारू का परिणय हुआ। विवाह-उत्सव धूम-धाम से हुआ (या दो श्रेष्ठ कुलों में संबंध हुआ)—यह पूगल की पद्मिनी है तो वह नरवर का अधिपति।' इससे ज्ञात होता है कि विवाह के समय ढोला नरवर का नाह=नाथ अर्थात् अधिपति था। राजा नल, जो ढोला के पिता थे, या तो ढोला को राज्य सौंपकर कहीं भजन करते थे, या इस लोक से चल बसे थे। क्योंकि आगे इस पुस्तक में उनका नाम कहीं नहीं आया। तात्पर्य यह कि उस समय ढोला ही नरवर का अधिपति था, राज-काज वही सँभाले था। पर आगे चलकर, पूगल में आए हुए घोड़ों के सौदागर से खवास कहता है कि जिस समय मारू का विवाह हुआ था, उस समय—"दउढ वरस री मारुवी, त्रिहुँ वरसा रउ कंत।" अर्थात्—उस

समय मारवणी डेढ़ वर्ष की थी और उसका पति तीन वर्ष का था। ६१। इससे जान पड़ा कि उस समय वह पूगल की पद्मिनी डेढ़ वर्ष की थी और वह नरवर का अधिपति तीन वर्ष का! यही बात और आगे चलकर वीसू चारण कहता है। पर आरंभ में दी हुई, ११ दोहों में कही हुई, मूल-कथा बताती है कि उस समय मारू तो पूगल की पद्मिनी थी और ढोला नरवर का अधिपति था! यह भी एक गड़बड़ी है। इसका कारण वही प्राचीन और अर्वाचीन प्रतियों का मिश्रित आधार ही होगा।

कुछ दोहे ऐसे हैं जिनमें एक ही बात कही गई है। ३०—"बाबहिया तूँ चोर, थारी चाँच कटाविसूँ (स्यूँ)। राति (रात) ज दीन्हीं लोर, मइँ जाणूयउ प्री आवियउ।" ३२—"बाबहिया तर पंखिया, तइँ किउँ दीन्हीं लोर। मइँ जाणूयउ प्री आवियउ, ससहर चंद चकोर।" दोनों में यही बात है कि पपीहे, तू क्यों बोला, मैंने जाना कि प्रियतम आ गया। ३१—"बाबहिया निलपंखिया, मगरि ज काली रेह। मति पावस सुणि विरहिणी तलफि तलफि जिउ देह।" ३५—"बाबहिया, प्रिउ प्रिउ न कहि, प्रिउ को नाम न लेह। काइक जागइ विरहिणी, प्रोउ कह्यां जिउ देह।" दोनों में एक ही बात है कि कोई विरहिणी मर जायगी। मारू पपीहे से कहती है कि प्रिउ प्रिउ मत कह, मैं तो सुनकर नहीं मरती, पर कोई विरहिणी सुन लेगी तो तलफ तलफ कर प्राण दे देगी। इसी प्रकार एक ही भाव को व्यक्त करनेवाले अनेक दोहे इस पुस्तक में दिए गए हैं।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो बहुत ही साधारण और साथ ही फालतू भी हैं। वे इस कथा से कोई संबंध नहीं रखते और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से भी कुछ मूल्य नहीं रखते। उदाहरणार्थ दो दोहे यहाँ दिए जाते हैं—"अकथ कहाणी प्रेम की किण सूँ कही न जाइ। गूँगा का सुपना भया, सुमर सुमर पिछताइ।"—१५९। और "आडा डूँगर वन घणा आडा घणा पलास। सो साजण किम बीसरइ, बहु गुण तणा निवास।"—१६४।

पूगल के रास्ते में ढोला को एक गड़रिया मिला। उसने पूछा कि तुम इस तरह ऊँट पर चढ़े हुए जा रहे हो, सो तुम्हारे घर क्या स्नेहमयी स्त्री है, जिसके लिये सर्दी खा रहे हो? उत्तर में ढोला कहता है—"जइ रूँखाँ मारू हुई छवडउ पड़ियउ तास। तइ हुंती चंदउ कियइ (कियउ) लइ रचियउ आकास।"—४३७। अर्थ—'जिस वृक्ष से मारू (उत्पन्न) हुई उसकी छाल का टुकड़ा गिर गया था, (विधाता ने) उससे चंद्रमा बनाया और लेकर आकाश में रख दिया।' ख़ूब! सवाल कुछ और जवाब कुछ। उस गड़रिए ने मारू की उत्पत्ति कब पूछी थी? यह दोहा यहाँ ढोला द्वारा गड़रिए से कहलाने के योग्य नहीं, यह वीसू चारण से कहलाया जा सकता था। ढोला के कुढंगे वचन सुनकर वह गड़रिया बोला कि मारू तो मेरी साथिन है और मैं मारू का मित्र हूँ। यह बात सुनकर ढोला दुखी हो जाता है। तब ऊँट ढोला को समझाता है—"क्रम क्रम, ढोला, पंथ कर, ढाण म चूके ढाल। आ मारू बीजी महल, आखइ झूठ एवाल"—४४०। अर्थ—'(तब ऊँट कहता है कि) हे ढोला, चलो, चलो, रास्ता पकड़ो, इस ढालू भूमि पर ढाण (चाल) को मत चूको। यह मारू दूसरी स्त्री है। यह गड़रिया झूठ कह रहा है।' यह दोहा पढ़कर मालूम होता है कि ढोला से तो उसका ऊँट ही समझदार था।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो दो दो बार दिए गए हैं। मारू की प्रशंसा में वीसू ढोला से कहता है—"मारू देस उपन्नियाँ, ताँह का दंत सुसेत। कूँफ बची गोरंगियाँ, खंजर जेहा नेत।"—४५७। "मारू देस उपन्नियाँ सर ज्यउँ पध्धरियाँह। कडुवा बोल न जाणही, मीठा बोलणियाँह।" —४८४। "देस सुहावउ, जल सजल, मीठा बोला लोइ। मारू काँमण भुइँ दखिण, जे हरि दियइ त होइ।"—४८५। ये तीनों दोहे फिर ६६६, ६६७ और ६६८ नंबरों में दिए हुए हैं। वहाँ मारवाड़ की प्रशंसा में मारू के मुँह से कहलाए गए हैं। यह ठीक नहीं हुआ। ये दोहे एक जगह कहीं भी दिए जा सकते थे, दो जगह नहीं। और "मारू बइठी सेज-सिर प्री मुख देखइ तास।"—५४५। अर्थ—'मारवणी

सेज पर बैठी। प्रियतम उसके मुख को देखता है।' यहाँ मारू सेज पर बैठ गई है। परंतु फिर ५६६ में कहा गया है कि "दोउ मयमंत सुजाण सेज दिसि वाहुड़इ।" अर्थ—'दोनों मदमत्त प्रेमी सेज की ओर चले।' वे तो पहले ही सेज पर बैठ गए थे, फिर ये कौन चले? इस प्रकार के वर्णनों से दोहों की संख्या तो बहुत बढ़ गई, पर सौंदर्य घट गया।

दोहों की संख्या ६७४ है। वह ५२५ या ६२५ होती तो बहुत अच्छा होता। इस प्रकार के अनावश्यक, अशुद्ध और अनुचित दोहे निकाल दिए जाते तो पुस्तक का सौंदर्य और भी बढ़ जाता। पूगल से नरवर जानेवाले माँगणहारों के द्वारा जो सँदेसा मारवणी ने ढोला के लिये भेजा है, वह बहुत लंबा हो गया है, ७३ दोहों में समाप्त हुआ है। पर वहाँ ढाढ़ियों ने सिर्फ तीन दोहे ही सुनाए, जिनमें मारू की कही हुई एक बात भी उन्होंने नहीं कही! वे रात भर गाते रहे, पर परमात्मा जानें क्या गाते रहे। वीसू ने ढोला के आगे जो मारू का वर्णन किया है, वह भी बहुत बढ़ गया है। ४५० से ४८८ तक चला गया है। इतने लंबे वर्णन की वहाँ आवश्यकता नहीं थी। जान पड़ता है, संपादकों को जिस विषय के जितने भी दोहे प्राप्त हो सके वे सबके सब उन्होंने रख दिए हैं। यदि ऐसा न किया जाता और चुने हुए दोहे ही रखे जाते तो संख्या बहुत कम हो जाती। सुयोग्य संपादकों ने इस ओर ध्यान देने की कृपा नहीं की, इसी से चुनाव में असावधानता हो गई।

निवेदन

इस पुस्तक के संपादकों को मैं जानता हूँ। उनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय है। उन्होंने कृपा करके अपनी यह अमूल्य पुस्तक मेरे पास भेजी और मुझसे विशेष अनुरोध किया कि मैं इस पुस्तक पर अपनी स्पष्ट सम्मति दूँ, लिखित रूप में। मैंने पुस्तक पढ़ी, पहले सरसरी दृष्टि से, फिर सूक्ष्म दृष्टि से। मैंने प्रस्तावना और मूल ग्रंथ को अच्छी तरह देखा और काव्यानंद प्राप्त किया। इसमें मुझे अनेक दोहे

ऐसे मिले कि पढ़कर मन मुग्ध हो गया। परंतु साथ ही, गुलाब में काँटों की तरह, कुछ दोष भी दृष्टिगत हुए। मैंने उनका भी उल्लेख कर दिया। यदि मैं उनका उल्लेख न करता और अपनी सम्मति दे देता तो यह मेरी स्पष्ट सम्मति न होती। इसी से मैंने इस पुस्तक के दोष भी, अपनी तुच्छ मति के अनुसार, दिखलाए हैं। पर दोष दिखलाना मेरा उद्देश्य नहीं। फिर मैंने इतना परिश्रम क्यों किया? इसका एक कारण है।

मुझे ज्ञात है कि इस पुस्तक के संपादक-त्रय ने राजस्थानी भाषा की और भी कुछ पुस्तकों का संपादन किया है और वे आगे और और पुस्तकों का सम्पादन भी करेंगे। वे राजस्थान के प्राचीन साहित्य के उद्धार का प्रशंसनीय कार्य करने को कटिबद्ध हो गए हैं। अतः इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में और अन्य पुस्तकों के संपादन में मेरी लिखी इस आलोचना से यदि उन्हें कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना यह परिश्रम सफल समझूँगा। इसके लिखने का मेरा यही उद्देश्य है। मैंने जो कुछ लिखा है, सद्भाव से लिखा है। फिर भी यदि कहीं कुछ अनुचित लिख गया हो तो मैं उसके लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ।

चयन

रीवाँ राज्य में शोध

नई दिल्ली की 'इंडियन इन्फारमेशन सीरीज' भाग ३, अंक १८ के द्वारा निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है :—

भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने हाल में रीवाँ राज्य में एक बड़े महत्त्व का शोध किया है। बाँधोगढ़ में कुशान और गुप्त काल के मध्य-वर्ती अंधकार-युग के लगभग २३ अभिलेख मिले हैं। ये अभिलेख १६०० वर्ष पूर्व प्रचलित ब्राह्मी लिपि में, मिश्र प्राकृत और संस्कृत भाषा में, लिखे हुए हैं। अभिलेखों में दिया हुआ समय ५१ से ९० वर्ष के बीच का, किसी अनिश्चित संवत् का है और कुशानकालीन मथुरा के अभिलेखों की भाँति यहाँ भी ऋतुओं, पक्षों और दिनों का उल्लेख है।

शासकों में महाराज वसीठीपुत भीमसेन (वर्ष ५१), उनके पुत्र महाराज कोच्छीपुत पोथसिरी (वर्ष ८६ और ८७) और उनके पुत्र महाराज कोसीकीपुत बट्टदेव या भद्दव (वर्ष ९०) के नाम आते हैं, जिनमें केवल प्रथम शासक का एक अभिलेख इलाहाबाद जिले के भीटा नामक स्थान में प्राप्त एक मुहर से ज्ञात हुआ है।

रीवाँ राज्य का इलाहाबाद प्रांत से निकट संबंध उन शासकों के नामों के मिलने से और सिद्ध हो जाता है जिनका ज्ञान अभी तक कौशांबी में प्राप्त अभिलेखों से ही हुआ है। इनमें से एक का नाम शिवमाघ और दूसरे का वैश्रवण है। वैश्रवण का संवत् १०७ का एक अभिलेख हाल में कौशांबी में मिला था, परंतु बाँधोगढ़ में प्राप्त अभिलेख यह और बताते हैं कि यह राजा महासेनापति भद्रबल का पुत्र था।

इन शासकों के अतिरिक्त कौशांबी, मथुरा और पर्वत जैसे सुदूर नगरों के मंत्रियों, व्यापारियों और श्रेणियों के (जो प्राचीन

भारत में बहुत सबल थे) नाम दाताओं में मिलते हैं, जिनके दान इन अभिलेखों में अंकित हैं। और ये दान गुहाओं, कूपों, जलाशयों तथा उपवनों के हैं।

एक अनोखे अभिलेख में एक व्यायामशाला के बनाए जाने का उल्लेख है, जो यह बताता है कि प्राचीन भारतीय लोग शरीर-रक्षा का कितना ध्यान रखते थे।

इन अभिलेखों का शोध करनेवाले सरकारी अभिलेखाध्यक्ष डाक्टर न० प्र० चक्रवर्ती हैं। वे इन्हें एपिग्राफिया इंडिका में प्रकाशित कर रहे हैं।

राष्ट्रभाषा का स्वरूप-निर्णय

'सर्वोदय' वर्ष १, अंक ४ में उपर्युक्त शीर्षक से श्री काका कालेलकर ने एक संपादकीय टिप्पणी लिखी है। कुछ संक्षिप्त रूप में वह यहाँ उद्धृत है :—

जब कभी राष्ट्रभाषा के स्वरूप की चर्चा छेड़ी जाती है, तब हम प्राय: संस्कृत, अरबी और फारसी, इन तीनों भाषाओं को एक ही श्रेणी की मान लेते हैं। हमारी राय में यह गलत है। संस्कृत भाषा चाहे कितनी ही कठिन और अप्रयुक्त क्यों न हो वह इसी देश की भाषा है। इस देश के हिंदू, मुसलमान और ईसाई भारतीयों के पुरखाओं ने उसका संस्कार और विकास किया। संस्कृत से बढ़कर स्वदेशी हमारे लिये दूसरी कोई भाषा हो ही नहीं सकती। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पुराने जमाने में जब विभिन्न प्रांतों में अलग अलग प्रांतीय भाषाएँ बर्ती जाने लगीं, तब संस्कृत ही हमारी राष्ट्रभाषा थी। ऐतिहासिक दृष्टि से वह भारतवर्ष की आद्य नहीं तो कम से कम अति प्राचीन राष्ट्रभाषा है।

इसके बाद पाली का काल-खंड आया। सम्राट् अशोक के जमाने में शायद पाली राष्ट्रभाषा हो चुकी थी। संस्कृत और पाली का

साम्राज्य भारत की भौगोलिक मर्यादाओं को पार कर दक्षिण और पूरब में फैला हुआ था। आज भी उसका असर दीख पड़ता है।

फारसी और अरबी भाषाएँ इस देश में मुसलमानों के साथ आईं। फारसी कुछ समय तक राजभाषा रही। लेकिन जिन लोगों पर राज करना है, उन लोगों की भाषा की बहुत दीर्घकाल तक ऐकांतिक उपेक्षा करने से काम नहीं चलता। इसलिये फारसी को अपना स्थान फारसी-प्रधान हिंदी को देना पड़ा। राजभाषा ने इस नई देशी भाषा को कुछ तुच्छता-दर्शक 'उर्दू' नाम दिया। किंतु इस देश के निवासियों ने उस भाषा में भी साहित्य निर्माण करके उसे प्रतिष्ठित किया। फारसी बाहर से आई हुई भाषा भले ही हो, फिर भी वह संस्कृत की बहन है। अरबी मुसलमानों की धर्मभाषा है; इसलिये इन दोनों भाषाओं का हमारे साहित्य और भाषा पर काफी प्रभाव पड़ा।

भारत की सभी प्रांतिक भाषाएँ संस्कृत कुटुंब की हैं। जिनका जन्म संस्कृत से नहीं हुआ है वे भी संस्कृत से प्रभावित हैं। उर्दू में भी संस्कृत के काफी शब्द हैं। हाथ, पाँव, कान, नाक, पानी, खाना, पीना, आदि शब्द संस्कृत खानदान के ही हैं। अब उर्दू से भी इन शब्दों का बहिष्कार नहीं हो सकता।

संस्कृत शब्दों के रूप बदलकर उन्हें तद्भव बनाया जाता है। तद्भव रूप आसान समझे जाते हैं। सारी देशी भाषाओं में तद्भव शब्दों की बहुतायत है। गाँवों में तद्भव शब्द अधिक प्रचलित हैं। उनका जन्म भी वहीं हुआ करता है। लेकिन अगर हम आंतरप्रांतीय संपर्क, सहविचार और विनिमय सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें तत्सम रूपों का अधिक उपयोग करना होगा। क्योंकि तद्भव रूपों का हाल तो 'बहुशाखा ह्यनंताश्च' जैसा है। जब शिक्षा का प्रचार बढ़ता है और साहित्य का विकास होता है, तब तत्सम रूपों की प्रतिष्ठा बढ़ती है। हिंदी के व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिवाले साहित्यिक अखिल भारतवर्षीय सुसंस्कृत जनता के लिये जो राष्ट्रभाषा को सार्वप्रांतीय, परिष्कृत परंतु

सुबोध और व्यापक स्वरूप देंगे उसी के आधार पर अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्यिकों की भाषाशैली भी निर्धारित होगी।

लोकसत्ता के इस युग में भाषा सुबोध होना निहायत जरूरी है। इस विषय में विद्वानों में मतभेद भले ही हो, तो भी भाषा को सरल और सुबोध बनाने का यत्न सर्वत्र होने ही वाला है। जिन लोगों के 'व्होट' लेते हैं उनको समझाने के लिये लिखने और बोलने की भाषा आसान तो बनती ही जायगी। राष्ट्र के जीवन में जिस जन-साधारण का प्राधान्य दिन पर दिन बढ़ रहा है उसकी उपेक्षा भला राष्ट्रभाषा कैसे कर सकती है?

मुसलमानी राज्य के कारण जिस तरह हिंदी में अरबी और फारसी के शब्द आ गए हैं, उसी तरह वे प्रांतीय भाषाओं में भी आ गए हैं। लेकिन प्रांतीय भाषाओं में उनकी इतनी अधिकता नहीं है, जितनी कि उर्दू में। शुरू शुरू में तो उर्दू हिंदी की ही एक शैली थी। लेकिन उर्दू वालों ने अपनी भाषा में से आसान देशी शब्दों को भी हटा कर उसे फारसी और अरबी के मुश्किल लफ्जों से शराबोर कर दिया। नतीजा यह हुआ कि वे एक ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगे, जिसका अस्थिपंजर तो भारतीय है लेकिन जो भारत के अहिंदी प्रांतों के पढ़े-लिखे लोगों के लिये भी दुर्बोध है।

हमारी राष्ट्रभाषा में संस्कृत के सरल और रूढ़ शब्दों की अधिकता तो रहेगी ही। अरबी और फारसी के जो आसान लफ्ज रूढ़ हो गए हैं और प्रचलित हैं, वे भी रहेंगे। आइंदा जैसे जैसे हमारा सहयोग और सामाजिक संपर्क बढ़ेगा और भी जो नए अरबी फारसी शब्द भाषा में दाखिल होकर जड़ पकड़ेंगे वे भी राष्ट्रभाषा के ही शब्द होंगे। राष्ट्रभाषा का स्वरूप न तो हिंदी-साहित्य-सम्मेलन निर्धारित कर सकेगा, न नागरीप्रचारिणी सभा, और न 'अंजुमन-इ-तरक्की-उर्दू' ही। कांग्रेस के प्रस्ताव से भी इसका निर्णय नहीं होगा। किसी भी प्रांत के शिक्षामंत्री की शक्ति से यह काम बाहर है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप का निर्णय करेगा राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह, और उस प्रवाह से

समरस होने की तथा उसे मोड़ने की शक्ति रखनेवाले राष्ट्रीयवृत्ति के साहित्यसेवी। परस्पर अविश्वास और डर के इस विषाक्त वायुमंडल में सौदागिरी या लेन-देन के समझौतों से काम बनने के बजाय बिगड़ेगा। हमें तो दृढ़ता, नम्रता और निष्ठा से राष्ट्रधर्म के पथ का अनुसरण करते रहना चाहिए। इसी से सबका हित और संतोष होगा।

—कृ

महाभारत काल की खुदाई

वेदकाल के पश्चात् उत्तरीय पांचालों की राजधानी अहिच्छेत्र में थी। बरेली जिले में अब वह स्थान आंवला से सात मील रामनगर है। यहाँ कुछ पुराने सिक्के मिले हैं जिन्हें लोग पांचाल समय के समझते हैं। इस कारण यहाँ पुरातत्त्व विभाग के कुछ अधिकारी देखने को गए थे। उस विभाग के डाइरेक्टर-जेनरल भी जानेवाले हैं। यहाँ खुदाई होगी और उससे आशा की जाती है कि महाभारत काल की सभ्यता पर नया प्रकाश पड़ेगा (असोसियेटेड प्रेस आव् इंडिया—११ जनवरी १९३९)।

—पंड्या बैजनाथ

समीक्षा

वैद्यकमान—लेखक शांत स्वामी अनुभवानंद; प्रकाशक द्वारिकाप्रसाद सेवक, सेवासदन, चाँदनी चौक, दिल्ली; मूल्य ।)।

इस पुस्तक का संकलन कर श्री शांत स्वामी अनुभवानंद जी ने विज्ञापनबाजी करनेवाले वैद्य व्यवसायियों में क्रांति उत्पादन करनेवाला एक नवीन साहित्यिक आदर्श उपस्थित कर दिया। ज्ञानाभास का प्रलोभन देनेवाले प्रारंभिक अध्याय में कपोलकल्पनात्मक पारिभाषिक मान को तुलनात्मक लिखकर स्थायी विज्ञापन अज्ञ व्यवसायियों के सामने रख दिया है।

अनेक पारिभाषिक शब्द प्रामीण्य और प्राचीन आर्यसिद्धांत के विरुद्ध हैं। पृष्ठ १० पर 'कोल' और 'तोला' का जो मान लिखा है, वह सर्वथा भ्रमात्मक है। 'कोल' शब्द का 'तोला' प्राय: पर्यायवाची है और इसी लिये "कोलद्वयञ्च कर्ष: स्यात्" श्री गोविन्दसेन परिभाषाकार ने निश्चित किया है। कर्ष दो तोले के बराबर होता है। इसी प्रकार चना, मटर, पाई आदि की कल्पना की गई है जिसका आधार किसी आर्ष ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है।

'रतल' और 'पौंड' के अर्थ में लिखा है कि 'रतल' का प्रयोग आम तौर से पानी जैसी चीज के लिये किया जाता है। यह सर्वथा व्यवहार-विरुद्ध है। बंबई में पौंड को ही रतल कहते हैं। इसी प्रकार आगे चलकर लिखा है कि "'तोल' शब्द का प्रयोग सूखी चीजों का वजन जानने के लिये किया गया है।" यह ठीक नहीं है। 'तोल' शब्द शुष्क और आर्द्र सब प्रकार के वजन के काम में आ सकता है। ऐसी ही अनेक भूलें हैं। अच्छा तो यह होता कि स्वामीजी सब परिभाषाओं के मान का वैज्ञानिक रीति से 'विज्ञान-तुला' पर तोलकर तुलनात्मक तौल लिखने का कष्ट करते। जिस प्रकार आपने 'मदन', 'मनोजा', 'नारीसोम', 'शांतारसायन', 'मानसी' आदि का अपना 'अनुभव'

प्रकाशित किया उसी प्रकार मान-परिभाषा को भी कसौटी पर कस देते तो अवश्य वैद्य-व्यवसायियों का कुछ लाभ होता।

पुस्तक प्रकाशन-कला की दृष्टि से सुंदर है।

—कविराज प्रतापसिंह

मुद्रण-प्रवेश अर्थात् कंपोज-कला—लेखक तथा प्रकाशक श्री शंकर रामचंद्र दाते बी० ए०, लोकसंग्रह छापखाना, ६२४ सदाशिव पेठ, पूना २; और अनुवादक श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय; पृष्ठ-संख्या १० + २३१। मूल्य २) सजिल्द।

मूल पुस्तक मराठी में लिखी गई थी। लेखक दाते महोदय "मुद्रण-कला के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने अपने 'अनाथ विद्यार्थीगृह' पूना के 'लोकसंग्रह' प्रेस में रहकर ही मुद्रण-कला का अध्ययन नहीं किया है; वरन् ठेठ जर्मनी और इंगलैंड जाकर 'देवनागरी मोनोटाइप' का निर्माण कर प्रेस की दुनिया में अद्भुत क्रांति भी कर दिखाई है। जिस काम को......साधने का प्रयत्न करके अनेक विद्वान् हार गए थे उसी को दातेजी ने पूरा कर दिखाया।"

"मराठी पुस्तक महाराष्ट्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर लिखी जाने के कारण तथा उस प्रदेश में केवल बंबैया टाइप का ही प्रचार रहने से उसमें इलाहाबादी या कलकतिया-टाइप की चर्चा नहीं थी। किंतु हिंदी अनुवाद विशेष रूप से उत्तर-भारतीय समाज के हितार्थ लिखा जाने से इसमें कलकतिया टाइप एवं तत्संबंधी बातों का वर्णन देने के साथ ही उसके चारों केस के नक्शे भी दे दिए गए हैं, जिससे अधिकांश भारत में प्रचलित कलकतिया टाइप का कंपोज सीखनेवालों को सुविधा हो सके।"

अँगरेजी में प्रिंटिंग के संबंध में खासा साहित्य है, तथा सामयिक पत्र भी निकलते हैं जिनमें नई नई बातों की सूचनाएँ रहती हैं; किंतु हमारे यहाँ इस विषय पर कुछ भी नहीं है। नए सीखनेवालों को

प्राय: पुराने जानकारों से पूछ पूछकर ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। एक बात और है। जो लोग छापेखाने का काम सीखते हैं वे प्राय: कम पढ़े-लिखे होते हैं; उन्हें पुस्तकों की सहायता से काम सीखने में कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह विचारणीय प्रश्न है। फिर भी इस पुस्तक में विषय का संकलन इस दृष्टि से किया गया है कि छपाई के संबंध की बहुत सी बातों का ज्ञान हो सकता है। कंपोज करना, प्रूफ सुधारना, टाइप छोड़ना (डिस्ट्रीब्यूट), पेज बाँधना, फार्म खींचना, छपने के लिये देना आदि बहुत सी ज्ञातव्य बातों का समावेश लेखक ने सरल भाषा में कर दिया है। जो लोग नया छापाखाना खोलना चाहते हैं उनके लिये यह कठिनाई हुआ करती है कि कौन कौन सा सामान मँगवाया जावे। ऐसे लोगों को भी यह पुस्तक बहुत सहायता देगी।

हिंदी की कंपोजिटरी इसलिये कठिन है कि उसके केसों में सैकड़ों खाने हैं। नया शिक्षार्थी उनको याद करने में ही त्रस्त हो जाता है। इसके पश्चात् वह डिस्ट्रीब्यूटर होता है और उसमें दक्ष होने पर कंपोजिटर, इसके अनंतर वह मैकप और संशोधन के योग्य होता है। इन कामों में परिश्रम, मनोयोग और उपदेश की आवश्यकता रहती है। पुस्तक से सूचनाएँ अवश्य मिल सकती हैं। और तो सब कुछ सीखनेवाले को स्वयं करना है।

—ल० पांडेय

कालिया-शतक (डिंगल काव्य)—रचयिता ठाकुर खुमानसिंह; संपादक तथा प्रकाशक भँवर शिवसिंह महुवा राज्य, सीतामऊ (सी० आई०); मूल्य प्रेम।

'डिंगल' राजस्थान, विशेषत: मारवाड़, की अपनी प्राकृत काव्य-भाषा रही है। इससे भिन्न 'पिंगल' व्रजभाषा की छाया में पलनेवाली शिष्ट काव्यभाषा रही है। चारणों की परंपरा से प्राप्त डिंगल अब भी राजस्थान में लोकप्रिय है। कविगोष्ठियों में चारण जन तथा राजपूत

सरदारों के द्वारा अब भी उसकी धाक रहती है और इतने काल से काव्यानुमोदित होने के कारण वह भी अपनी शैली में बहुत कुछ शिष्ट हो गई है।

प्रस्तुत काव्य के रचयिता ठाकुर खुमानसिंह महुवा के एक प्रतिष्ठित राजपूत सरदार थे। हाल में ही, सं० १९९१ में, लगभग ८४ वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गवास हुआ है। ठाकुर साहब बड़े नैष्ठिक, भगवद्भक्त राजपूत थे। वृद्धावस्था में सदुपदेश के विचार से अपने अनुभवसिद्ध भावों को नीति-वचन अथवा सूक्तियों के रूप में उन्होंने रखना चाहा। समय समय पर लिखे उन १०१ पदों का यह संग्रह 'कालिया-शतक' के नाम से ठाकुर साहब के सुयोग्य पौत्र भँवर (अब तो शायद उन्हें 'कँवर' कहना चाहिए) शिवसिंहजी ने उनके जीवन-काल में ही प्रकाशित किया था।

श्री शिवसिंहजी के ही शब्दों में "इस स्फुट काव्य का नाम 'कालिया-शतक' इसलिये रखा गया है कि श्री ठाकुर साहब ने इसमें जो कुछ कहा है, अपने परम विश्वासी सेवक कालिया को संबोधन करके कहा है। जैसे वह उनके शरीर के साथ सर्वदा रहा वैसे ही उसका नाम उनकी रचना के साथ सदैव रहे। श्री ठाकुर साहब का यही भाव" था।

यह काव्य सोरठा छंद में लिखा गया है। डिंगल में 'सोरठिया दूहा' की बड़ी चाल रही है। सोरठा दोहे का एक प्रकार ही समझा गया है। अतएव राजस्थानी कवि प्रायः सोरठों को भी 'दूहा' अर्थात् दोहे कहते हैं। सोरठा अथवा दोहा प्राचीन हिंदी का बड़ा मँजा छंद है। दोहों में लिखना बड़े कौशल की बात समझी गई है। क्योंकि 'रहीम' के अनुसार दोहे में 'आखर थोरे आहिं' पर उन्हें 'दीरघ... अरथ के' होने चाहिएँ और 'बिहारी' के दोहों की तो यह प्रसिद्धि ही थी कि 'देखत के छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।' दोहों में सूक्तियाँ, चुस्त बातें, खूब कही जा सकती थीं और फिर छोटे होने के कारण ये कंठस्थ भी अनायास हो जाते थे। ठाकुर साहब ने, अतएव, सोरठों

में अपने नीति-वचन कहे हैं और इस छंद का प्रयोग उन्होंने अधिकार के साथ किया है।

यह काव्य नीति-काव्य अथवा उपदेश-काव्य ही है। ठाकुर साहब का उद्देश्य काव्यरस-संवेदन नहीं, सदुपदेश था। सरल और शिष्ट भाषा में, किंतु काव्य-परिपाटी के अनुसार ही, यह नीति-काव्य उन्होंने रचा है। वे अभ्यासी कवि नहीं थे। काव्य का, अपने ज्ञान के बल पर, उन्होंने आश्रय लिया था, जिसमें उनकी बातें कुछ सरस होकर पाठकों के मन में बैठ सकें। इस दृष्टि से उनकी यह रचना श्लाघ्य है। सज्जन और दुर्जन के गुण, वीर और कायर के लक्षण, आत्मबल और भगवद्भक्ति के आदर्श उन्होंने लिखे हैं जो बड़े अर्थपूर्ण हैं। उनकी अनुभवसिद्धता ही उनका गौरव है और उनकी सरलता ही उनका सौंदर्य। ठाकुर साहब के कुछ सफल पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

पर-सेना हय पेल, पाछो नहिं देखै पछै;
तुरत तिलाँ में तेल, कोइक काढै कालिया।
विकट काठ रै बंद, रोक्यो भँवरो नी रुकै;
फँस्यो प्रेम रै फंद, कँवल न काटै कालिया।
कर कुकरम सब काल, छल सूँ रहै छिपावतो;
हिय-विचला सूँ हाल, क्यूँ कर छिपसी कालिया।
राजा रहै न रंक, कोई बचै न काल सूँ।
अउंकार रो अंक, कदे न बिणसे कालिया।

आशा है, 'डिंगल' के प्रेमी इस काव्य का आदर करेंगे।

—कृ

लेख-मणि-माला—लेखक पंडित अक्षयवट मिश्र 'विप्रचंद्र'; प्रकाशक-पुस्तक भंडार, लहेरियासराय (बिहार); मूल्य १)।

भारतेंदु-मंडल के लेखकों ने जिस उत्साह और जिन्द:दिली के साथ हिंदी में सुंदर साहित्यिक निबंधों के बीज बोए थे वे आगे अच्छी

तरह पनप न सके। पूज्य द्विवेदीजी अवश्य कुछ दिनों तक 'सरस्वती' में इसे सींचते रहे परंतु आगे चलकर तो जैसे साहित्यकारों ने इस ओर से आँखें ही फेर लीं। 'द्विवेदी-युग' के गद्यकारों में प्रोफेसर अक्षयवट मिश्रजी का आदरणीय स्थान है। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से आप समय समय पर विविध विषयों पर निबंध लिखते रहे। लेख-मणि-माला में उन्हीं कुछ चुने हुए निबंधों का संग्रह है। साहित्यिक निबंधों के इस अकाल में ऐसे संग्रह का हम स्वागत करते हैं।

इस 'माला' के तीन निबंधों में तो 'तुलसीदास की अद्भुत उपमाएँ', 'तुलसीदास की शृंगार तथा हास्यरस की कविता', और 'तुलसीदास की नवरस की कविता' का भक्तिभाव-पूर्वक परिचय कराया गया है। 'महाभारत के प्रधान पात्र', 'कालिदास के ग्रंथ' और 'पंडितराज जगन्नाथ' शीर्षक निबंध भी परिचयात्मक ही हैं। 'चंद्रमा की कालिमा पर कवियों की कल्पनाएँ' नामक लेख में कुछ मनोहर प्रचलित कल्पनाओं का उल्लेख है। 'शरत्सौंदर्य' में संस्कृत-कवियों के ढंग का परंपरा-प्राप्त अलंकृत वर्णन है। 'विनोदार्थ' लिखे गए 'संस्कृत की प्राचीनता' नामक निबंध में अँगरेजी के बारहों महीनों के नामों की संस्कृत से विलक्षण व्युत्पत्तियाँ निकाली गई हैं, यथा "जनवरी—संस्कृत जन्यवरी। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जन्यानां सर्वप्राणीनां वरः समयः इति जन्यवरः, स विद्यते अस्मिन् इति जन्यवरी मासः।" 'हिंदी भाषा की प्राचीनता', 'भाषा-परिवर्त्तन' तथा 'कवि और कविता' आदि लेखों में यद्यपि विषय के अनुसार गंभीर गवेषणा का अभाव खटकता है तो भी उनमें लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक मिलती है। 'शृंगार सरोवर' में मिश्रजी के संस्कृत-काव्य ग्रंथ 'शृंगार सरोवर' का संक्षिप्त परिचय है। इन निबंधों के अतिरिक्त मिश्रजी की कुछ व्रजभाषा की कविताएँ भी मणि-माला में संगृहीत हैं।

'द्विवेदीजी की आज्ञा से लिखे गए' इन निबंधों की भाषा में बड़ी सफाई है। मिश्रजी संस्कृत साहित्य के विद्वान हैं, अतएव इनके शब्दों और वाक्यों पर संस्कृत का पूरा प्रभाव है। इनकी भाषा को देखकर

स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र की याद आ जाती है। उदाहरणार्थ 'शरत्-सौंदर्य' का एक वाक्य देखिए---

"सघन-घनांधकारकारिणी, संयोगिजन-मनोहारिणी, हरित-शस्य-संपत्ति-भूमंडल-शोभा-विस्तारिणी, नदी-नद-तड़ाग-परिखा-गर्त्तादि-मध्य-जल-संचारिणी, वियोगिजन-हृदयविदारिणी, पुलिनसंहारिणी, ग्रीष्म-भीष्म-संताप-मारिणी, मंडूक-मंडल-संवादिनी, मयूर-समूह-नादिनी, कृषक-जन-शुभ-भविष्यद्विधायिनी वर्षा बीत गई।" ऐसी भाषा के अतिरिक्त मिश्रजी छोटे छोटे वाक्योंवाली चलती भाषा भी लिखते हैं परंतु भाषा सुंदरी को सजाकर निकालनेवाली पुरानी परिपाटी आप नहीं छोड़ते। मिश्रजी की विनोद-प्रियता देख भारतेंदु के दिनों की याद आ जाती है। उनके लेखों का यह संग्रह यथार्थतः संग्रहणीय है।

—शिव

समीक्षार्थ प्राप्त

१---आवारे की यूरोप-यात्रा (सचित्र)---लेखक डा० सत्य-नारायण, पी०-एच० डी०; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार); मूल्य २)।

२---बापू (काव्य)---लेखक श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्यसदन, चिरगाँव (झाँसी); मूल्य ॥)।

३---भारतीय जागृति---लेखक श्री भगवानदास केला; प्रकाशक भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन; मूल्य १।)।

४---मालतीमाला (कहानी-संग्रह)---लेखिका कुमारी मालती शर्मा; प्रकाशक "साक्षरता-संघ," काशी; मूल्य ॥)।

५---मालवा में युगांतर---लेखक डा० रघुवीरसिंह, एम० ए०, एल्-एल् बी०, डी० लिट्; प्रकाशक मध्य-भारत हिंदी-साहित्य-समिति इंदौर; मूल्य ४॥)।

६—लोकसेवक महेंद्रप्रसाद (जीवनी)—लेखक श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा एम० ए०, बी० एल; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरिया-सराय (बिहार); मूल्य १।।) ।

७—शेष मिलन (उपन्यास)—लेखक और प्रकाशक लाला लक्ष्मीनारायण, धरमपेठ, नागपुर; मूल्य ।।) ।

विविध

स्वर्गीय पंडित रामचरित उपाध्याय

हिंदी-प्रेमी मात्र को यह जानकर दुःख हुआ कि प्रायः दो वर्ष तक भयानक रोग (कैंसर) से पीड़ित रहकर गाज़ीपुर में गत २६ कार्तिक १९९५ (१२ नवंबर १९३८) को हिंदी के प्रसिद्ध कवि पंडित रामचरित उपाध्याय ने इस लोक से बिदा ली।

उपाध्यायजी उन लब्धप्रतिष्ठ कवियों में थे जिनके द्वारा खड़ी बोली की कविता को उचित स्थान और मान प्राप्त हुआ। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से उन्होंने व्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली को अपनाया और फिर कुछ काल में ही अपनी परिष्कृत रचनाओं से उस युग के हिंदी-कवियों में उन्होंने एक विशेष पद प्राप्त कर लिया। द्विवेदी-युग के 'पंचमहाकवियों' (पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० रामचरित उपाध्याय, बा० मैथिलीशरण गुप्त और पं० गयाप्रसाद शुक्ल) में उनका नाम आदर सहित स्मरण किया जायगा। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वे उस युग के ही रहे।

जीवनभर, शक्तिभर उपाध्यायजी हिंदी की सेवा करते रहे और इस सेवा की अतृप्त आकांक्षा लिए ही वे हमसे बिदा हुए—

"यदि हिंदी सेवा कर पाता,
तो भी जन्म सफल हो जाता।
वह भी इच्छा हुई न पूरी,
भाग्यविवश रह गई अधूरी।"

('सरस्वती' दिसंबर १९३८ में प्रकाशित उनकी अंतिम कविता 'प्रणाम' से।)

उनकी सेवाएँ सफल हुई हैं, उनका जीवन धन्य हुआ है। हिंदी उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी। हमारी यह प्रार्थना रहेगी कि उनकी आत्मा को संतोष और शांति प्राप्त हो।

स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

जिस युग-विधायक आचार्य का हमने पीछे उल्लेख किया है उसने भी हमसे विदा ले ली। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रायबरेली में, गत ६ पौष १९९५ (२१ दिसंबर १९३८) को, कुछ काल जलोदर रोग से पीड़ित रहकर, शरीर त्याग दिया। देश एक महान् व्यक्ति से और हिंदी एक सिद्ध आचार्य से हीन हो गई।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी के प्राचीन युग के अंत में, उस युग की रसिकता से पुष्ट हो तथा अपने संक्रमण-काल की चेतनाओं से सजग होकर एक नवीन युग का प्रवर्तन किया था। उस नई स्फूर्ति में हिंदी को खूब प्रगति मिली, बहुविध रचनाओं से उसका स्वतंत्र विकास हो चला। किंतु इस स्वतंत्रता में अराजकता थी, रचना की मनमानी थी, आलोचना का नियम न था। भाषा और शैली में अव्यवस्था थी, कोई प्रमाण न था। साहित्य के सफल विकास के लिये अनुशासन की, संस्कार की अपेक्षा होती है। भारतेंदु ने अपनी प्रतिभा से स्फूर्ति प्रदान की, वे अनुशासन कर न सके।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी अपेक्षित अनुशासक के रूप में अवतरित हुए। अपनी विदग्धता और तेजस्विता से उन्होंने हिंदी में संस्कार का शासन स्थापित कर दिया। स्वयं रचनाएँ कर तथा औरों को परिष्कृत रचनाओं के लिये प्रेरित कर खड़ी बोली के गद्य तथा पद्य दोनों में उन्होंने कुशल नेतृत्व किया। रचनाओं का गुण-दोष विवेचन कर उन्होंने भाषाशैली का व्यवस्थापन किया और साथ ही आलोचना की एक मर्यादित पद्धति चलाई। इस प्रकार 'सरस्वती' के २० वर्ष के कुशल संपादन में द्विवेदीजी ने हिंदी का सफल आचार्यत्व निबाहा। आधुनिक हिंदी के गद्य तथा पद्य की व्यवस्था का और इसके निश्चित विकास का श्रेय बहुत कुछ द्विवेदीजी को ही है। इस व्यवस्था और इस विकास के नए युग के वे ही विधायक थे। कितने ही लेखकों को उनसे शिक्षा और प्रोत्साहन मिला, कितनों ही को प्रेरित कर उन्होंने लेखक बना दिया। यह युग-विधायकत्व और यह आचा-

र्यत्व ही उनकी विशेषता थी। उन्होंने स्वयं भी गद्य तथा पद्य में बहुत रचना-कार्य किया। किंतु यह उनका मुख्य कार्य नहीं था। उनकी रचनाओं को उनके नेतृत्व की दृष्टि से ही देखना होगा। उनका मुख्य और गौरवपूर्ण कार्य तो उनका नेतृत्व अथवा आचार्यत्व ही था। और एक युग-विधायक आचार्य के रूप में ही वे हिंदी में सदा स्मरणीय रहेंगे।

जिसने ऐसा सबल अनुशासन किया उसका चरित्र तो महान् होगा ही। द्विवेदीजी देश के एक महान् व्यक्ति थे। अपने निजी तथा सार्वजनिक जीवन में सर्वत्र वे महान् थे। उनकी स्मृति में इस बात का हमें सबसे पहले ध्यान आता है।

द्विवेदीजी ने जिस युग का विधान किया उसकी परिणति और फिर वर्तमान युग का आशापूर्ण उत्थान भी उन्होंने देख लिया था। पितामह के समान उन्होंने इसे समय समय पर आशीर्वाद दिया था।

नागरीप्रचारिणी सभा और उसकी इस पत्रिका से द्विवेदीजी का बहुत निकट संबंध था। वे पत्रिका के आदि-युग के लेखकों में थे। 'सरस्वती'-संपादन के बहुत पूर्व वे पत्रिका में अपने लेख तथा कविताएँ भेजते थे। जब वे 'सरस्वती' के संपादक हुए तब वह "नागरीप्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित" होकर निकलती थी। जब कुछ कारण-वश उस 'अनुमोदन का अंत' हुआ तब बड़े शील के साथ 'अनीस' कवि के प्रसिद्ध पद के द्वारा उन्होंने सभा के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की थी। अवकाश ग्रहण करने पर अपनी कठिन कमाई से अर्जित पुस्तकों का बहुमूल्य संग्रह और "द्विवेदी-पदक" की निधि उन्होंने सभा को भेंट की। साथ ही अपने दीर्घ संपादन-काल की सरस्वती की मूल प्रतियाँ भी, जिनमें उनके ऐतिहासिक संशोधन अंकित हैं, उन्होंने सभा में भिजवा दीं। सभा द्विवेदीजी की अमूल्य सेवाओं की सदा कृतज्ञ रहेगी। उनके सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करने के अवसर पर संवत् १९९० में सभा ने एक ग्रंथ-समर्पण के रूप में उनका अभिनंदन किया था। वह बड़े आनंद का समारोह था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी के सदा स्मरणीय रहेंगे। श्री सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में हम सब की यह आकांक्षा रहेगी—

"चिर-स्मारक सा उठ युग-युग में हिंदी* का साहित्य।
आर्य, आपके यशः-काय को करे सुरक्षित नित्य॥"

(द्वि०-अभि०-ग्रंथ से)

शांति-निकेतन में हिंदी-भवन

गत १८ माघ, ९५ (३१ जनवरी, ३९) को कविवर श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के शांति-निकेतन में बड़े समारोह के साथ हिंदी-भवन की स्थापना हुई है। हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ है। श्रीठाकुर जैसे भारतीय संस्कृति के सिद्ध पुजारी से हमें ऐसी ही आशा थी।

शांतिनिकेतन में संस्कृत के विभिन्न विषयों पर शोध के लिये विद्याभवन स्थापित था। संस्कृत, पाली, तिब्बती और चीनी के संयुक्त अध्ययन के लिये चीन-भवन वहाँ स्थापित हो गया था। अरबी, फारसी और उर्दू भाषा तथा साहित्य के अध्ययन के लिये भी वहाँ हैदराबाद-निजाम साहब के प्रसाद से प्रबंध हो गया था। किंतु हिंदी के लिये, जिसमें मध्ययुग से भारतीय संस्कृति की प्रधान धारा प्रवाहित है, अभी तक कोई विशेष स्थान न था। श्री ठाकुर, श्री एंडरूज प्रभृति विचारकों को यह अभाव खटका और उनके उद्योग तथा श्री भागीरथ कानोडिया, श्री सीताराम सेकसरिया आदि की उदारता से वहाँ हिंदी-भवन की स्थापना हो गई। पंडित जवाहरलाल नेहरू के हाथों उक्त तिथि को उसका उद्घाटन संस्कार हुआ।

श्री ठाकुर की महान् साधना से शांतिनिकेतन एक सांस्कृतिक तीर्थ हो रहा है। उनके साथ ही हमारी यह हार्दिक अभिलाषा है

* इस शब्द-परिवर्तन के लिये पंतजी कृपया क्षमा करेंगे।

—संपादक।

कि उनके उस "आश्रम में एक प्रकार का संगम हो जहाँ विभिन्न संस्कृतियों की धाराएँ एक में मिल सकें।" और उनके शब्दों में ही हम आशा करते हैं कि उनके आश्रम में "हिंदी-भवन का आरंभ,...... भविष्य में प्रचुर फलदायक होगा"।

संशोधन

पत्रिका के गत अंक (भाग १६—अंक ३) में "भूषण की शृंगारी कविता" शीर्षक डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के लेख में पाठक कृपया निम्नलिखित दो संशोधन कर लें—

(१) पृष्ठ २६७ की १२वीं पंक्ति में 'शिवराजचरित्र के एक पद्य' के स्थान पर लेखक को 'एकश्लोकी शिवराजचरित्र' पाठ इष्ट है। भूषण ने कोई शिवराजचरित्र नहीं लिखा था। उनके शिवराजभूषण के उद्धृत कवित्त को लेखक महोदय 'एकश्लोकी शिवराज चरित्र' कहते हैं, क्योंकि उसमें संक्षेप में उनकी सारी जीवनी आ गई है।

(२) पृष्ठ २८० की १७वीं पंक्ति में 'अभी' के स्थान पर 'ऊभी' पाठ होना चाहिए। अब वहाँ संदेहसूचक चिह्न की आवश्यकता नहीं है।

*   *   *

उसी अंक के पृष्ठ ३४६ में, 'समीक्षार्थ प्राप्त' की पहली तथा दूसरी पंक्ति में, "ले० श्री पुरुषोत्तमलाल शर्मा; प्र० आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर १९३७" के स्थान पर "ले० तथा प्र० श्री पुरुषोत्तमलाल शर्मा अजमेर" पढ़िए।

सभा की प्रगति

पत्रिका के प्रस्तुत अंक के थोड़ा ही आगे-पीछे सभा का वार्षिक विवरण भी प्रकाशित हो रहा है। उसमें सभा के वर्ष भर के कार्यों का विस्तृत विवरण पाठकों को मिलेगा ही, फिर भी यहाँ पिछले तीन महीनों की दो एक विशेष बातों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

सभा का निरीक्षण

इधर जो सज्जन सभा देखने के लिये आए उनमें निम्नलिखित गुणग्राहकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—श्री लियोनार्ड वूली (Leonard Woolley); रायबहादुर के० एन० दीक्षित (डाइरेक्टर जनरल आव आर्केयालाजी इन इंडिया); श्री जे० सी० पावेल प्राइस आई० ई० एस० (डिप्टी डाइरेक्टर आव पब्लिक इंस्ट्रक्शन युक्तप्रांत); श्री जे० एल० साठे, आई० सी० एस० (कमिश्नर, बनारस); डाक्टर शोडो टाकी एम० ए०, पी-एच० डी० (Dr. Shodo Taki M. A. Ph. D. Taisho university, Tokyo, Japan)।

प्रचार

हिंदी-प्रचार की दृष्टि से सभा ने हिंदी-प्रचारक मंडल, सूरत को बीस रुपए तथा हिंदी साहित्य-परिषद्, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी को नौ रुपये की पुस्तकें भेंट कीं।

अब तक ऐसे सज्जनों के पास बिना शुल्क सभा की पत्रिका भेजने का नियम नहीं था **जो सभा की कुछ सहायता करते हुए भी न सभासद हों और न पत्रिका के ग्राहक।** पर इस बार सभा ने इस संबंध में निम्नलिखित नियम बनाए हैं—

(१) पत्रिका में जिनका वर्ष में कम से कम एक लेख प्रकाशित हो उन्हें एक वर्ष तक पत्रिका बिना शुल्क भेजी जाय।

(२) जिनकी पुस्तक की समालोचना पत्रिका में छपे उन्हें पत्रिका का वह अंक मुफ्त भेजा जाय जिसमें समालोचना छपे।

(३) जो सज्जन सभा को एक साथ १५) से २४) तक धन दान दें उन्हें एक वर्ष तक तथा जो २५) या अधिक दान दें उन्हें दो वर्ष तक पत्रिका बिना शुल्क दी जाय।

देश की समस्त हिंदी संस्थाओं से आत्मीयता स्थापित करने की नीति के अनुसार सभा ने शांति-निकेतन, बोलपुर में हिंदी-भवन के उद्घाटनोत्सव के अवसर पर पं० सीताराम चतुर्वेदी एम० ए०, एल-एल० बी०, बी० टी० को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा था।

नागरी-प्रचार उत्सव तथा सभा का वार्षिकोत्सव

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी सभा ने नागरी-प्रचार-उत्सव सफलतापूर्वक मनाया। गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष के उत्सव का कार्य-क्रम लम्बा होने के कारण नागरी-प्रचार-सप्ताह को नागरी-प्रचार-पक्ष का रूप धारण कर लेना पड़ा। विशेषता यह थी कि इस वर्ष बहुत सादगी के साथ और गत वर्ष की अपेक्षा चौथाई खर्च में ही सफलतापूर्वक उत्सव संपन्न हुआ। उत्सव का संक्षिप्त कार्य-विवरण निम्नलिखित है—

यह उत्सव १६ जनवरी १९३९ से २ फरवरी १९३९ तक मनाया गया। १६ जनवरी को काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गुरुमुख निहाल सिंह के सभापतित्व में 'इतिहास दिवस' मनाया गया। 'नवीन शासन-विधान और उसका व्यावहारिक रूप' पर उक्त विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर मुकुटविहारीलाल का सुंदर भाषण हुआ। इसी विषय पर बाबा राघवदास का भी व्याख्यान हुआ। तत्पश्चात् सभापति ने उक्त विषय पर सरल हिंदी में बड़ी सफलता के साथ अपने विचार व्यक्त किए।

१७ जनवरी को अदालतों में हिंदी-प्रचार दिवस मनाया गया। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, के प्रचारमंत्री श्री भगवानदास अवस्थी एम० ए० सभापति थे। डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा (एग्जिक्यूटिव आफीसर, बनारस म्युनिसिपल बोर्ड), बा० ठाकुरदास,

एडवोकेट तथा पं० रामनारायण मिश्र के भाषण हुए। अंत में सभापति जी का भाषण हुआ। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि एक क्रियात्मक योजना के साथ हमें शीघ्र प्रचार का कार्य आरंभ कर देना चाहिए।

१८ तथा १९ जनवरी को 'हिंदी दिवस' मनाया गया। पहले दिन श्री जगदीशप्रसाद सिंह (वाइस प्रिंसिपल, उदयप्रताप कालेज, काशी) सभापति थे। पं० सीताराम चतुर्वेदो एम० ए०, एल-एल० बी०, बी० टी० का 'हिंदी की व्यापकता' पर तथा मौलवी महेशप्रसाद आलिम फाजिल और पं० चंद्रबलीपांडे के 'हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी' पर सुंदर भाषण हुए। दूसरे दिन के सभापति कवि-सम्राट् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय थे। उस दिन पं० सीताराम चतुर्वेदी तथा अन्य सज्जनों के भाषण हुए और उपाध्यायजी ने भी हिंदी के संबंध में कई उपयोगी बातें बताईं। श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त का भाषण दोनों दिन हुआ।

२२ जनवरी को प्रोफेसर फूलदेवसहाय वर्मा की अध्यक्षता में विज्ञान-दिवस मनाया गया। काशी विश्व-विद्यालय के डाक्टर बी० एल० आत्रेय का 'मनो-विश्लेषण' पर तथा प्रयाग विश्व-विद्यालय के डाक्टर सत्यप्रकाश का 'वायु पर अधिकार' पर मनोरंजक भाषण हुआ। डा० सत्यप्रकाश का भाषण सचित्र तथा प्रयोगों के साथ हुआ था। अंत में सभापतिजी का सुंदर व्याख्यान हुआ।

२५ जनवरी को पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' के सभापतित्व में बहुत ही सफल कवि-सम्मेलन हुआ। कवियों और श्रोताओं की संख्या इतनी अधिक थी कि बहुत से लोगों को हॉल के बाहर खड़े रहना पड़ा। महिलाओं की उपस्थिति भी पचास से अधिक थी। अनेक कवियों के कवितापाठ हुए जिनमें श्रीमती कमलाकुमारी, श्री श्यामनारायण पांडे, श्री कांतानाथ पांडे, श्री 'बेढब' जी, श्री 'बच्चन' जी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सभापतिजी ने भी अपनी कई सुंदर कविताएँ सुनाईं।

२६ जनवरी को 'तुलसीदिवस' श्री विजयानंद त्रिपाठी के सभापतित्व में मनाया गया। काशी विश्व-विद्यालय के अध्यापक पं० केशव-

प्रसाद मिश्र तथा उदयप्रताप कालेज के अध्यापक श्रीमार्कंडेय सिंह एम० ए०, साहित्यरत्न के सुंदर भाषण हुए। अंत में सभापति जी का व्याख्यान हुआ।

२७ जनवरी को पं० सीताराम चतुर्वेदी एम० ए०, एल-एल० बी०, बी० टी० के सभापतित्व में शिक्षा-दिवस मनाया गया। प्रोफेसर लालजीराम शुक्ल एम० ए०, बी० टी० तथा सभापतिजी के महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुए।

२८ जनवरी को श्रीदर्शनमहाविद्यालय हृषीकेश के मुख्याधिष्ठाता पं० राघवाचार्य शास्त्री विद्यालंकार का योग पर बड़ा सुंदर व्याख्यान हुआ। उनके शिष्यों ने योग के कई मुख्य मुख्य आसन स्वयं करके दिखाए। इस दिन सभापति पं० केशवप्रसादजी मिश्र थे। उन्होंने योग के संबंध में बहुत ही रोचक भाषण दिया।

२ फरवरी को सभा का वार्षिकोत्सव मनाया गया। सभापति श्री वी० एन० मेहता आई० सी० एस० थे। आरंभ में ईश-प्रार्थना के बाद पं० रामनारायण मिश्र (सभा के सभापति) ने सभा के कार्यों के संबंध में एक संक्षिप्त भाषण दिया। तत्पश्चात् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का हिंदी-हिंदुस्तानी पर तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र का आधुनिक हिंदी कविता पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान हुआ। फिर सभापति मेहताजी ने सभा के कार्यों की प्रशंसा करते हुए एक संक्षिप्त भाषण दिया और उन्होंने पहले पहल हिंदी के विद्वानों के बीच उनके मुख से हिंदी के संबंध में जानकारी प्राप्त करने पर प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिंदी-प्रेमियों को बिना उर्दू से झगड़ा किए स्वतंत्र रूप से हिंदी की उन्नति में दत्तचित्त रहना चाहिए और प्रत्येक हिंदी-प्रेमी को सभा की आर्थिक सहायता यथा-शक्ति करनी चाहिए।

अंत में सभा के प्रधान मंत्री पं० रामबहोरी शुक्ल ने नागरी-प्रचार-उत्सव में सम्मिलित होनेवाले श्रोताओं तथा व्याख्याताओं को धन्यवाद दिया जिनके कारण उत्सव सफलतापूर्वक संपन्न हुआ।

एक बात से सभा को अवश्य निराशा हुई। सभा ने "कला-दिवस" मनाने का भी निश्चय किया था और उसके लिये दिन भी निश्चित हो गया था। डा० मोतीचंद ने भारतीय कला पर व्याख्यान देना और प्रयाग विश्वविद्यालय के विद्वान् वाइस चांसलर पं० अमरनाथ झा ने सभापति होना कृपा कर स्वीकार कर लिया था परंतु डा० मोतीचंद को अकस्मात् बंबई चला जाना पड़ा इस कारण "कला-दिवस" इस वर्ष नहीं मनाया गया।

नियम-संशोधन

पिछले अंक में, सभा के नियमों में प्रबंध-समिति द्वारा प्रस्तावित जो संशोधन छपे थे उनमें भूल से एक संशोधन छूट गया था जो नीचे दिया जाता है—

"नियम २६ प्रथम पंक्ति में 'मान्य' के बाद 'विशिष्ट और स्थायी' पढ़ा जाय।"

आवश्यक निवेदन

नियम २३ के अनुसार साधारण सभासदों को अपना अग्रिम वार्षिक चंदा सौर वैशाख मास के पूर्व सभा में भेज देना चाहिए। जिनका अग्रिम चंदा नियत समय पर न आ जायगा, उन्हें सभा की पत्रिका वी० पी० द्वारा भेजी जायगी। वी० पी० भेजने में व्यर्थ खर्च बढ़ता है। अतः सभासदों से निवेदन है कि वे अपना चंदा मनीआर्डर द्वारा भेजने की कृपा करें। मनीआर्डर ३१ वैशाख १९९६ अर्थात् १४ मई १९३९ तक अवश्य आ जाना चाहिए।

रामबहोरी शुक्ल
प्रधान मंत्री

सभा के आरंभ से माघ ३०, १९९५ तक १००) या अधिक दान देनेवाले दाताओं की सूची

दाता	राशि	विवरण
१—श्री संयुक्त प्रदेशीय सरकार* [२०००) प्रति वर्ष हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के लिये, १०००) प्रतिवर्ष पुस्तकालय के लिये मिलता है]	९९८२०)	४८४००) ह० लि० पुस्तकों की खोज। २३४००) भवन। १४७००) प्रकाशन। १११२०) पुस्तकालय। २२००) कलाभवन।
२—श्रीमान् महाराज सर उम्मेदसिंहजी शाहपुरा	१९९८४)	प्रकाशन (सूर्यकुमारी पुस्तकमाला)।
३—श्रीयुत राय कृष्णजी तथा राय श्रीकृष्णजी, काशी	१५२००)	१५०००) भूमिदान, २००) भवन।
४—श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, जोधपुर	१२२५०)	प्रकाशन—(देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला)।
५—श्री म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस [३०) मासिक मिलता है]	११२२०)	पुस्तकालय।
६—श्रीयुत बारहट बालाबख्शजी, जयपुर	७०००)	प्रकाशन—(बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला)।

दाता	कुल	विवरण
७—श्रीमान् महाराज जयसिंहजू देव बहादुर, अलवर	६५००)	६०००) प्रकाशन । ५००) भवन ।
८—श्रीमान् महाराज सर वेंकटरमणसिंहजू देव बहादुर, रीवाँ	५६४९)	३४००) भवन । १८००) प्रकाशन । ४४९) फुटकर ।
९—श्रीमान् राजा उदयप्रतापसिंह बहादुर, भिनगा	५६००)	३८००) प्रकाशन । १७००) फुटकर । १००) भवन ।
१०—श्री भारत सरकार	५०००)	प्रकाशन ।
११—श्रीमान् महाराज सर विश्वनाथ सिंह जू देव बहादुर, छतरपुर	४०३०)	२०००) प्रकाशन । १३००) भवन । ५००) हस्तलिखित पुस्तकों की खोज । २३०) फुटकर ।
१२—श्रीमान् निमिराज महाराज सर विजयचंद्र महताब बहादुर, बर्दवान	३६००)	२०००) भवन । १५००) प्रकाशन । १००) फुटकर ।

१३—श्रीमान् महाराज सर गंगासिंह बहादुर, बीकानेर	२६००)	१६००) प्रकाशन ।
		१०००) भवन ।
१४—श्रीयुत एस० एन० पंडित, राजकोट	२२५०)	भवन ।
१५—श्रीयुत डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू, प्रयाग	२२००)	भवन ।
१६—गुप्तदान	२२००)	भवन ।
१७—श्रीमान् महाराज सर प्रतापसिंह बहादुर, काश्मीर	२०५०)	१०५०) प्रकाशन ।
		१०००) फुटकर ।
१८—श्रीमान् महाराज सर उम्मेदसिंह बहादुर कोटा,	२०००)	भवन ।
१९—श्रीमान् महाराज सर प्रभुनारायण सिंह, बनारस	२०००)	१०००) प्रकाशन ।
		१०००) भवन ।
२०—श्रीमान् राजा कमलानंद सिंह, पूर्णिया	२०००)	भवन ।
२१—श्रीयुत बाबू गदाधर सिंह, बनारस	२०००)	फुटकर ।
२२—श्रीयुत बाबू चिंतामणि घोष, प्रयाग	२०००)	भवन ।
२३—श्रीयुत राय शिवप्रसाद और राय शंभूप्रसाद, काशी	२०००)	भवन ।
२४—श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, नेपाल	२०००)	भवन ।
२५—श्रीयुत बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', काशी	१८३५)	पुरस्कार ।

दाता	रकम	विवरण
२६—श्रीमान् राजा बलदेवदास बिड़ला, बनारस	१७२५)	१०००) पुरस्कार । ५००) भवन । २२५) फुटकर ।
२७—श्री पंजाब सरकार	१५००)	खोज ।
२८—श्रीमान् महाराज सर भवानीसिंहजी बहादुर के० सी० एस० आई०, भावनगर	१५००)	१०००) भवन । ५००) प्रकाशन ।
२९—श्रीयुत डाक्टर सर सुंदरलाल सी० आई० ई०, प्रयाग	१५००)	१०००) प्रकाशन । ५००) भवन ।
३०—श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र, काशी	१४००)	१२००) पुरस्कार । १००) पदक । १००) भवन ।
३१—श्रीयुत कुँवर राजेंद्रसिंह, सीतापुर	१२००)	१०००) प्रकाशन । २००) भवन ।
३२—श्रीयुत आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, दौलतपुर, रायबरेली	१२००)	१०००) पदक । २००) फुटकर ।
३३—श्रीयुत राय बहादुर डा० हीरालाल, कटनी	११००)	१०००) पदक । १००) प्रकाशन ।

३४—श्रीयुत राय बहादुर बाबू बटुकप्रसाद खत्री, बनारस	१०००)	पुरस्कार।
३५—श्रीमान् महाराज सर माधवराव सिंधिया बहादुर, ग्वालियर	१०००)	प्रकाशन।
३६—श्रीमान् महाराज सर प्रतापनारायण सिंह महामहोपाध्याय, अयोध्या	१०००)	भवन।
३७—श्री मध्यप्रांतीय सरकार	१०००)	प्रकाशन।
३८—श्रीयुत मेहता जोधसिंह, उदयपुर	१०००)	पुरस्कार।
३९—श्रीयुत गोस्वामी दामोदरलालजी, नाथद्वारा (मेवाड़)	१०००)	भवन।
४०—श्रीमान् महाराज वीरसिंहजू देव बहादुर, ओड़छा	१०००)	पुस्तकालय।
४१—श्रीमान् महारजा सर सयाजी राव गायकवाड़ बहादुर, बड़ोदा	१०००)	भवन।
४२—श्रीयुत बाबू जयशंकर प्रसाद, काशी	९००)	साहित्य-गोष्ठी।
४३—श्रीमान् राजा सर मोतीचंद, बनारस	८५०)	६००) फुटकर। २५०) भवन।
४४—श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर डूँगरपुर	७५०)	६००) भवन। १५०) फुटकर।

४५—श्रीयुत सेठ घनश्यामदास बिड़ला, कलकत्ता	७५०)	४००) फुटकर। ३००) कलाभवन। ५०) संकेत-लिपि।
४६—श्रीयुत डा० काशीप्रसाद जायसवाल	७२५॥)	भवन।
४७—श्रीयुत रा० ब० सेठ चिरंजीलाल बागला, हाथरस	७००)	५००) प्रकाशन। २००) भवन।
४८—श्रीमान् राजा सर रामसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई०, सीतामऊ	६००)	४००) प्रकाशन। २००) भवन।
४९—श्रीयुत राय कृष्णदास, काशी	५९०)	कलाभवन।
५०—श्री डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बनारस	५५०)	फुटकर।
५१—श्रीमान् राजा मुंशी माधोलाल सी० एस० आई०, काशी	५१५)	भवन।
५२—श्रीयुत राय गोविंदचंद्र, बनारस	५१५)	३१५) कलाभवन। २००) प्रकाशन।
५३—श्रीयुत सर बदरीदास गोएनका, कलकत्ता	५०१)	४०१) फुटकर। १००) स्थायी कोष।
५४—श्री चंडीप्रसाद जगनानी (बा० मुरारीलाल केडिया, बनारस के द्वारा)	५०१)	भवन।

५५—श्रीमान् राजा सर रावणेश्वरप्रसाद सिंह, गिद्धौर	५००)	प्रकाशन ।
५६—श्रीमान् महाराज सर तुकोजी राव होलकर (तृतीय), इंदौर	५००)	प्रकाशन ।
५७—श्रीमान् राजा बलवंतसिंह, अवागढ़	५००)	भवन ।
५८—श्रीयुत राय राधारमण, इलाहाबाद	५००)	भवन ।
५९—श्रीयुत राय बहादुर हरप्रसाद, पीलीभीत	५००)	भवन ।
६०—श्रीयुत सेठ ब्रजमोहन बिड़ला, कलकत्ता	५००)	३७०) संकेत-लिपि । १३०) स्थायी कोष ।
६१—श्रीमान् राजा नरेंद्रशाह बहादुर के० सी० एस० आई०, टेहरी	५००)	कलाभवन ।
६२—श्रीयुत सेठ वंशीधर जालान, कलकत्ता	५००)	४००) फुटकर । १००) स्थायी ।
६३—श्री दिल्ली सरकार	५००)	हस्तलिखित पुस्तकों की खोज ।
६४—श्रीमान् राजा सर रामपालसिंह, कुर्री सुदौली	४००)	२००) भवन । १००) प्रकाशन । १००) फुटकर ।
६५—श्रीयुत महादेवप्रसाद काशीप्रसाद, मिर्जापुर	४००)	३००) भवन । १००) प्रकाशन ।

दाता	रकम	विवरण
६६—श्रीयुत बाबू गौरीशंकरप्रसाद ऐडवोकेट, काशी	४००)	२००) भवन । १००) पदक । १००) फुटकर ।
६७—श्रीमान् महाराजा उम्मेदसिंह जी साहब बहादुर, जोधपुर	३२५)	प्रकाशन ।
६८—श्रीमान् महाराजा साहब बहादुर, सरगुजा	३००)	प्रकाशन ।
६९—श्रीयुत बाबू व्रजरत्नदास वकील, काशी	३००)	१००) पदक । १००) प्रकाशन । १००) स्थायी कोष ।
७०—श्रीयुत ठाकुर रामसिंह, बीकानेर	३००)	प्रकाशन ।
७१—श्रीयुत बाबू किशोरीरमणप्रसाद, काशी	२७६)	२०१) प्रकाशन । ७५) कलाभवन ।
७२—श्रीयुत रावराजा डा० श्यामविहारी मिश्र तथा रा० ब० पं० शुकदेवविहारी मिश्र, लखनऊ	२६२≡)८	१३९)। प्रकाशन । १२३≡)५ भवन ।
७३—श्रीयुत राधाकृष्ण गोपीकृष्ण, कलकत्ता	२५१)	भवन ।
७४—श्रीयुत सेठ धरमसी मुरार जी गोकुलदास और सेठ•नरोत्तम मुरार जी गोकुलदास, बम्बई	२५१)	भवन ।

७५—श्रीयुत इंद्रचंद्र केजड़ीवाल, कलकत्ता	२५१)	१५१) फुटकर । १००) स्थायी कोष ।
७६—श्रीयुत गुलजारीलाल कानोडिया	२५१)	१५१) फुटकर । १००) स्थायी ।
७७—श्रीयुत मंगतुराम जयपुरिया, कलकत्ता	२५१)	१५१) फुटकर । १००) स्थायी ।
७८—श्रीयुत विनयकृष्ण रोहितगी, कलकत्ता	२५१)	१५१) फुटकर । १००) स्थायी ।
७९—श्रीयुत प्रोफेसर टी० के० गज्जर, बम्बई	२५०)	भवन ।
८०—श्रीयुत रा० ब० मुंशी प्रयागनारायण भार्गव, लखनऊ	२५०)	भवन ।
८१—श्रीयुत बाबू रामदयाल नेवटिया, फतहपुर	२५०)	भवन ।
८२—श्रीयुत बाबू श्यामलाल, कलकत्ता	२५०)	भवन ।
८३—गुप्तदान, मिर्जापुर	२५०)	भवन ।
८४—गुप्तदान	२५०)	भवन कोष ।
८५—श्रीयुत बाबू मूलचंद अग्रवाल	२५०)	१५०) फुटकर । १००) स्थायी ।

८६—श्रीमान् महाराज यज्ञनारायण सिंह बहादुर, किशनगढ़ स्टेट	२५०)	फुटकर।
८७—श्रीयुत परमेश्वरनारायण मेहता तथा श्रीयुत विश्वनारायण मेहता, मुजफ्फरपुर	२५०)	प्रकाशन।
८८—श्रीयुत बाबू राधाकृष्णदास	२२६)	भवन।
८९—श्रीयुत बाबू गरीबदास छंदीलाल, मिर्जापुर	२२५)	भवन।
९०—श्रीयुत पं० शिवविहारीलाल मिश्र, लखनऊ	२२५)	भवन।
९१—श्रीयुत राय रामचरण अग्रवाल, प्रयाग	२२०)	कलाभवन।
९२—श्रीयुत रायबहादुर साहित्यवाचस्पति बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, काशी	२०१)	भवन।
९३—श्रीयुत सेठ जयदयाल साहब, सीतापुर	२०१)	भवन।
९४—श्रीमती नर्मदादेवी, कलकत्ता	२०१)	१०१) फुटकर। १००) स्थायी कोष।
९५—श्रीयुत रामकुमार भुवालका, कलकत्ता	२०१)	१०१) फुटकर। १००) स्थायी।
९६—श्री रामेश्वर नोपाणी	२०१)	१०१) फुटकर। १००) स्थायी कोष

९७—कोठी श्रीलक्ष्मीनारायण कानोडिया कंपनी, कलकत्ता	२०१)	फुटकर।
९८—श्रीयुत डा० मोतीचंद चौधरी, काशी	२०१)	प्रकाशन
९९—श्रीयुत डा० एस० के० वर्मन तथा श्री पूरनचंद्र वर्मन, कलकत्ता	२००)	१००) भवन। १००) स्थायी कोष।
१००—श्रीयुत सेठ गोविंददास, जबलपुर	२००)	प्रकाशन।
१०१—श्रीयुत बाबू जगन्नाथ झुंझनूवाला, रानीगंज	२००)	भवनकोष।
१०२—श्रीयुत बाबू दामोदरदास खंडेलवाल, कलकत्ता	२००)	भवन।
१०३—श्रीयुत स्वामी प्रकाशानंद गिरि, बनारस	२००)	भवन।
१०४—श्रीयुत जस्टिस सर प्रमदाचरण बनर्जी, प्रयाग	२००)	भवन।
१०५—श्रीयुत बाबू भैरवलाल फतहचंद, कलकत्ता	२००)	भवन।
१०६—श्रीयुत बाबू वल्लभदास, कलकत्ता	२००)	भवन।
१०७—श्रीयुत रा० ब० वंशीलाल अबीरचंद, जबलपुर	२००)	प्रकाशन।
१०८—श्रीयुत बाबू महादेव राय, मिर्जापुर	२००)	भवन।
१०९—श्रीमान् राजा ईश्वरीसिंहजी बहादुर, बूँदी	२००)	भवन।
११०—श्रीयुत राय रामशरणदास ऐंड ब्रदर्स, लाहौर	२००)	भवन।
१११—श्रीयुत बाबू रामजस राय अग्रवाल, झरिया	२००)	भवन।
११२—श्रीयुत डा० सतीशचंद्र बनर्जी, प्रयाग	२००)	भवन।

११३—श्रीयुत बाबू वृंदावनलाल एडवोकेट, झाँसी २००) कलाभवन।
११४—श्रीमान् राणा राजेंद्रसिंह बहादुर, झालावाड़ १५१) प्रकाशन।
११५—श्रीयुत गिरिधारीलाल नागर, कलकत्ता १५१) { १००) स्थायी। ५१) फुटकर।
११६—श्रीयुत म्हालीराम सोनथलिया, कलकत्ता १५१) { १००) स्थायी। ५१) फुटकर।
११७—श्रीयुत डा० सर जी० ए० ग्रियर्सन, इँगलैंड १५०) प्रकाशन।
११८—श्री कालीप्रसाद खेतान बैरिस्टर, कलकत्ता १५०) { १००) स्थायी। ५०) फुटकर।
११९—श्रीमान् महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह साहब बहादुर, दरभंगा १२५) फुटकर।
१२०—श्रीयुत ठाकुर बैजनाथ सिंह, ब्रह्मा १२५) भवन।
१२१—श्री कर्जन थियेट्रिकल कं० ११७) भवन।
१२२—श्रीयुत बाबू श्यामलाल, आगरा १०५) फुटकर।
१२३—श्रीयुत पं० दीनदयाल शर्मा, दिल्ली १०१) भवन।
१२४—श्रीयुत सेठ वल्लभदास, जबलपुर १०१) प्रकाशन
१२५—श्रीयुत बाबू वसंतलाल, कलकत्ता १०१) प्रकाशन।

१२६—श्रीयुत बाबू मैथिलीशरण गुप्त, झाँसी	१०१)	फुटकर।
१२७—श्रीयुत बाबू शिवप्रसाद गुप्त, काशी	१०१)	पदक।
१२८—श्रीयुत पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी, लायलपुर	१०१)	पदक।
१२९—श्रीयुत पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता	१०१)	स्थायी कोष।
१३०—श्रीयुत राय बहादुर रामदेव चोखानी, कलकत्ता	१०१)	स्थायी कोष।
१३१—श्रीयुत सेठ रामकृष्ण डालमिया, डालमिया-नगर, (बिहार)	१०१)	स्थायी कोष।
१३२—श्रीयुत मैनेजर, लक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी	१०१)	फुटकर।
१३३—श्रीमती इंदिरादेवी, दिल्ली	१००)	भवन।
१३४—श्रीमती डा० एनी बेसेंट	१००)	भवन।
१३५—श्रीयुत सरदार उमरावसिंह, लाहौर	१००)	भवन।
१३६—श्रीयुत पं० कृष्णाराम मेहता, प्रयाग	१००)	भवन।
१३७—श्रीयुत ठा० गोपालसिंह, अजमेर	१००)	भवन।
१३८—श्रीयुत बाबू गोविंददास, काशी	१००)	भवन।
१३९—श्रीयुत बाबू जयकृष्णदास, कलकत्ता	१००)	भवन।
१४०—श्रीयुत बाबू दामोदरदास राठी, ब्यावर	१००)	हस्तलिखित पुस्तकों की खोज।
१४१—श्रीयुत बाबू देवीप्रसाद मारवाड़ी	१००)	प्रकाशन।

१४२—श्रीयुत पं० दयाराम बालकृष्ण, दमोह	१००)	भवन।
१४३—श्रीमान् राजा दुर्गानारायण सिंह, फतहगढ़	१००)	प्रकाशन।
१४४—श्रीमान् महाराज किशनसिंह जी साहब बहादुर, किशनगढ़	१००)	प्रकाशन।
१४५—श्रीयुत उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, मिर्ज़ापुर	१००)	भवन।
१४६—श्रीमंत बाबा साहब पटवर्धन पंत प्रतिनिधि, मिरज	१००)	भवन।
१४७—श्रीयुत दीवान बहादुर खजांची विहारीलाल, जबलपुर	१००)	प्रकाशन।
१४८—श्रीयुत बाबू वंशीधर वैश्य मारवाड़ी, बुलंदशहर	१००)	प्रकाशन।
१४९—श्रीयुत बाबू भगवानदास हालना, मिर्ज़ापुर	१००)	भवन।
१५०—श्रीयुत ब्योहार राजेन्द्र सिंह, जबलपुर	१००)	प्रकाशन।
१५१—श्रीयुत बाबू मटरूमल शिवमुखराय, हाथरस	१००)	भवन।
१५२—श्रीयुत जोशी बाबा माधवलाल, मथुरा	१००)	भवन।
१५३—श्रीयुत बाबू रामप्रसाद चौधरी, बनारस	१००)	भवन।
१५४—श्रीमान् राजा रणजीतसिंह बहादुर, नशीपुर	१००)	भवन।
१५५—श्रीयुत सेठ रोशनलाल बागला, हाथरस	१००)	भवन।
१५६—श्रीयुत बाबू शम्भूलाल गुप्त, बुलन्दशहर	१००)	भवन।

१५७—श्रीयुत लाला हरगोविंददयाल, लखनऊ	१००)	भवन।
१५८—एक श्रीमती	१००)	प्रकाशन।
१५९—श्रीमती बड़ी सेठानी जी, कोठी सेठ भीजूमल गिल्लूमल, हाथरस	१००)	कलाभवन।
१६०—श्रीयुत पं० पद्मनारायण आचार्य, काशी	१००)	कलाभवन।
१६१—श्रीयुत बाबू ठाकुरदास वकील, काशी	१००)	कलाभवन।
१६२—श्रीयुत राय बहादुर पं० कमलाकर दुबे, रेवेन्यू कमिश्नर, उदयपुर	१००)	स्थायी कोष।
१६३—श्रीयुत बाबू गंगाप्रसाद मेहरोत्रा, नैनीताल	१००)	स्थायी कोष।
१६४—श्रीयुत सेठ छोटेलाल कानोडिया, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१६५—श्रीयुत सेठ रामसुंदर कानोडिया, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१६६—श्रीयुत सेठ रामनाथ कानोडिया, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१६७—श्रीयुत कुँवर रविप्रतापनारायण सिंह, पडरौना	१००)	स्थायी कोष।
१६८—श्रीयुत सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला, कलकत्ता	१००)	फुटकर।
१६९—श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद भार्गव, काशी	१००)	स्थायी कोष।
१७०—श्री सत्यनारायण आर्य एम० ए०, काशी	१००)	स्थायी कोष।
१७१—श्रीयुत सेठ जमनालाल बजाज, वर्धा	१००)	संकेत-लिपि।

१७२—श्रीमान राजा शारदा महेशप्रसाद सिंह, बड़हर, मिर्जापुर	१००)	स्थायी कोष।
१७३—श्रीयुत गंगाप्रसादजी चीफ जज, हाइकोर्ट, टेहरी राज	१००)	स्थायी कोष।
१७४—श्रीयुत रामकुमार गोएनका, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१७५—श्रीयुत सेठ बालमुकुंद डागा, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१७६—श्रीयुत जगन्नाथ गुप्त, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१७७—श्रीयुत मिहरचंद धीमान, हवड़ा	१००)	स्थायी कोष।
१७८—श्रीयुत सीताराम सेकसरिया, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१७९—श्रीयुत पं० आदित्यप्रकाश मिश्र डिप्टी कलक्टर, खीरी	१००)	स्थायी कोष।
१८०—श्रीयुत दामोदरदास खन्ना, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१८१—श्रीयुत दीवान बहादुर पं० धर्मनारायण काक प्रधान मंत्री, उदयपुर	१००)	स्थायी कोष।
१८२—श्रीयुत कृष्णकुमार पुरोहित एम० ए०, एल्-एल० बी० लखनऊ	१००)	स्थायी कोष।
१८३—श्री राजा बाबू नारायणदास वर्मन, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष।
१८४—श्रीयुत सेठ गौरीशंकर गोएनका, काशी	१००)	स्थायी कोष।

१८५—श्रीमती कृष्णादेवी आलानी बी० ए०, दिल्ली १००) स्थायी कोष।

१८६—श्रीमान् राजा कल्याणसिंहजी, भिनाय, अजमेर १००) स्थायी कोष।

१८७—श्रीयुत सूर्यप्रसाद शुक्ल हजारी, रामनगर, बनारस राज्य १००) स्थायी कोष।

१८८—श्रीयुत राय साहब मदनमोहन सेठ जज, प्रयाग १००) स्थायी कोष।

सूचना—(१) जो सज्जन इस समय किश्त से चंदा दे रहे हैं अथवा जिन्होंने दान का वचन दिया है उनका पूरा रुपया प्राप्त हो जाने पर उनके नाम प्रकाशित किए जायँगे।

(२) ४६ वर्ष की यह सूची बहुत जल्दी में बनी और छपी है, अतः भूल संभव है। किसी सज्जन को कहीं भूल मिले तो कृपया सूचना दें। उसका सुधार कर दिया जायगा।

(३) इन दानियों के अतिरिक्त पुस्तकालय के लिये हजारों रुपयों की पुस्तकें श्रीयुत ठाकुर गदाधर सिंह, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी के सुपुत्र श्री राधेकृष्णदास जी ने रत्नाकर-संग्रह तथा श्री राय कृष्णदास जी ने कलाभवन के लिये अपना बहुमूल्य संग्रह प्रदान किया।